परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

# सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

## जिनवाणी-महोत्सव

# सहस्रग्रन्थसंग्रह

✲ जन्मदिवस 19–03–1971 ✲ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ✲ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

# जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा

लेखक
साध्वी डॉ. प्रियलताश्री

प्रकाशक
प्रेम सुलोचन प्रकाशन, श्री पार्श्वमणि जैन तीर्थ ट्रस्ट
पेद्दतुलम्बलम् (आन्ध्रप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

# जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा

साध्वी डॉ. प्रियलता श्री

प.पू. गुरुवर्या

## सुलोचनाश्रीजी म.सा.

आपकी वाणी में
विनम्रता का वैडूर्य है
आपकी प्रज्ञा में
अद्‌भुत प्रतिभा का सौंदर्य है
आपके कार्य में
कुशलता का शौर्य है
आपके कंठ में
कोयलसी कुक का कोकिलय है

आपके संयमोपवन में
बसन्त का माधुर्य है
आपके चिन्तन में
गुणरत्नों का गांभीर्य है
आपकी पैनीदृष्टि में
गहरी पारदर्शिता का चातुर्य है
आपके जीवन में
सरलता...सहजता का धैर्य है

हे शान्तमना, हे उदार हृदया,
तुम संयम उपवन के हो समता कुञ्जन
हे करूणा सिन्धु ! जीवन बिन्दु !
फलोदी नगर की तुम हो नंदन।
हे पार्श्वमणि तीर्थ प्रेरिका
गुरुवर्या श्री तुम्हारे
पावन चरणार्विंदों में शत्-शत् वंदन...

नव ग्रह मन्दिर
पेद्दतुम्बळम्, आदोनि.

भारतदेशे...आंध्रप्रदेशे...कर्नाटकबोर्डरे...आदोनी समीपे...18 कि.मी. दूर मंत्रालय रोड पर स्थित पेद्दतुम्बलम् गाँव में संभवतः 55 वर्ष पूर्व कुएं के उत्खनन् के समय महाप्रभाविक पार्श्वनाथ परमात्मा की 12वीं शताब्दी की प्रमाणित प्रतिमा प्राप्त हुई। प.पू. द्वय गुरुवर्या श्री सुलोचना श्रीजी म.सा. एवं प.पू. सुलक्षणा श्रीजी म.सा. की पावन प्रेरणा से तीर्थ स्थल में विशाल आराधना भवन, 50 कमरे, 5 हॉल, भोजनशाला, उपाश्रय, भव्य सूरज-भवन, त्रिशिखरबद्ध जिनालय दादावाडी, गुरु मन्दिर और सूर्य मन्दिर का कार्य तीव्रता से प्रगति की ओर...

प्राचीन प्रतिमाजी से तीर्थ स्थापना हुई। वही प्रतिमाजी मूलनायक रूप में विराजमान होगी। यह तीर्थोद्धार है।

तीर्थ का सुरम्य वातावरण जनमानुष को प्रमुदित बनाता है। दर्शन, पूजा का उत्कृष्ट प्रतीक है।

**उत्सव प्रसंग है महा मंगलकारी**
**गुरुवर्या श्री की सन्निधि अति आनंदकारी**
**पार्श्वमणितीर्थ की पवित्र भूमि पावनकारी**
**प्रतिष्ठा-महोत्सव की शुभ घड़ियाँ जयकारी... मंगलकारी**

**2 मार्च 2008 के शुभ मुहूर्त में प्रतिष्ठा**

# श्री पार्श्वमणि जैन तीर्थ

## पेद्दतुम्बळम, आदोनि.

# जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा

साध्वी डॉ. प्रियलता श्री

जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं (मान्य वि.वि. द्वारा)
पीएच.डी. उपाधि हेतु स्वकृत शोध प्रबन्ध

प्राप्ति स्थान :

**पार्श्वमणि जैन तीर्थ ट्रस्ट**
पो. पेद्दतुम्बलम्, वा. आदोनी,
जि. कर्नूल - 518301 (आ.प्र.)
फोन : 08512-257432, 257434

**प्राच्य विद्यापीठ**
दुपाडा रोड, शाजापुर -465 001. (म.प्र.)

कम्पोजिंग : **नवीनचन्द्रजी सावनसुखा**

प्रकाशक वर्ष : प्रथम संस्करण, ई. सन् 2007
प्रतियाँ : 1000

मूल्य : 250/-

प्रकाशक :

**प्रेम सुलोचन प्रकाशन**

**श्री पार्श्वमणि जैन तीर्थ ट्रस्ट**
पो. पेद्दतुम्बलम्, वा. आदोनी, जि. कर्नूल - 518 307. (आ.प्र.)
फोन : 08512-257432, 257434

मुद्रक :

**सुकांत प्रिन्ट एन्टरप्राइसेस**
35/12, वालटैक्स रोड, चेन्नई - 600 079.

दादा श्री जिनदत्त कुशल गुरुभ्यो नमः  श्री पार्श्वमणि पार्श्वनाथाय नमः  श्री गणनायक सुखसागर गुरुभ्यो नमः

# जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा

**दिव्याशीर्वाद :**

प.पू. आचार्य श्री मज्जिनकान्ति सागर सूरिश्वरजी म.सा.

प.पू. प्रवर्तनी महोदया श्री प्रेमश्रीजी म.सा.

प.पू. समतामूर्ति तेजश्रीजी म.सा.

**आज्ञा प्रदाता :**

प.पू. खरतरगच्छाधिपति आचार्य श्री जिन कैलास सागर सूरिश्वरजी म.सा.

**शुभाशीर्वाद :**

प.पू. उपाध्याय प्रवर श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

**सम्प्रेरिका :**

प.पू. पार्श्वमणि तीर्थ प्रेरिका गुरुवर्या श्री सुलोचनाश्रीजी म.सा.

प.पू. उग्रतपस्वीरत्ना सुलक्षणाश्रीजी म.सा.


लेखिका

**साध्वी डॉ. प्रियलता श्री**

मार्गदर्शन / निर्देशक :

**डॉ. सागरमल जैन**

संपादक :

**डॉ. ज्ञान जैन**

**अर्थ सौजन्य :**

# श्रीमान पुखराजजी सा
# धर्मपत्नि
# श्रीमती शान्तिदेवी गुलेच्छा
# परिवार

मोकलसर निवासी
हाल बेंगलौर (कर्नाटक)

श्रुत सौजन्य में लाभ लेकर, पुण्योपार्जन किया है।
आपकी श्रुत सेवा स्तुत्य, सराहनीय, अनुमोदनीय है।

सर्वांगीण क्षेत्र में आपने अनूठी उदारता का परिचय दिया है।
जिनशासन का गौरव बढ़ाने आपने प्रशंसनीय कार्य किया है।
अपनी तेजस्वी प्रतिभा से गुलेच्छा परिवार का नाम दिपाया है।

# श्री पार्श्वनाथ परमात्मा

## श्री पार्श्वमणि जैन तीर्थ

पेद्दतुम्बलम, आदोनी

दादा श्री जिनदत्त सूरीश्वरजी

दादा श्री जिनकुशल सूरीश्वरजी

आचार्य श्री जिनकान्तिसागरजी म.सा.

आचार्य श्री कैलाशसागरजी म.सा.

गुरुवर्या
सुलोचनाश्रीजी म.सा.

उपाध्याय
श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

गुरुवर्या
सुलक्षणाश्रीजी म.सा.

साध्वी प्रियलताश्रीजी

साध्वी प्रियवंदनाश्रीजी

# तेरा...तुझको...अर्पण

# समर्पण...

हे संयम साधिका ! तत्त्व रसिका !
वशिमालानी उद्धारिका ! पार्श्वमणि तीर्थ प्रेरिका !!
जीवन प्रभात हो तुम्हारा नवोदित !
संयम रश्मि तुम्हारी पाकर मन आंगन है प्रमुदित !!
हे उज्जवल कुमुदिनी ! त्यागी तपस्विनी !
परमात्म भक्ति से जीवन है सराबोर !!
तुम कृपा दृष्टि से हरपल पाऊं स्वर्णिम भोर !
शोधग्रंथ पूर्णाहुति में नृत्य करे मन मोर !!
शुभाशीष गुरु की पाकर खुला है मुझ भाग्य डोर !
हे वात्सल्य वारिधि ! अध्यात्म प्रवाहिनी !
सत्प्रेरणा निरंतर तुम अमी वर्षिणी !
हे स्नेह सुधा मंदाकिनी ! सर्वस्व प्रणम्य तुझ चरणें अर्पण !!
समर्पण...समर्पण...समर्पण...!!!

करूणामूर्ति, जीवनोपकारी, परम पूजनीया गुरुवर्या
**श्री सुलोचनाश्रीजी म.सा.** एवं वर्धमान तपाराधिका,
अध्यात्मद्रष्टा परम पूजनीया **श्री सुलक्षणाश्रीजी म.सा.** के
पावन...पवित्र...पाद्...प्रसूनों में सादर समर्पित...

**साध्वी प्रियलता श्री**

## ❊ मंगल संदेश ❊

*माँ शारदा के चरणों में समय, शक्ति और ज्ञान का अर्ध्य अर्पण करने वाली साध्वी डॉ. प्रियलताश्रीजी सादर सुख साता।*

*आपके प्रयत्न से अनुसंहित हुए ग्रंथ 'जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा' में आपने जो अपनी लेखनी चलाई है वह बहिर्मुखी आत्मा का अंतरात्मा बनाकर परमात्मा की ओर अग्रसर कराने वाली है।*

*आपका यह भगीरथ कार्य अत्यंत ही श्लाघनीय है। आपके द्वारा ऐसे ही अनेक विध शासन कार्य होते रहें, इन्हीं मंगल कामनाओं के साथ...*

**खरतरगच्छाधिपति आचार्य जिन कैलाश सागर सूरि**

## ❊ शुभ संदेश ❊

*निश्चय दृष्टि से आत्मा आत्मा में कोई भेद नहीं है। पर व्यवहार दृष्टि से शास्त्रकारों ने तीन भेद बताये हैं - 1. बहिरात्मा; 2. अन्तरात्मा; 3. परमात्मा।*

*शरीर को बहिरात्मा कहा। कर्म युक्त आत्मा का अन्तरात्मा जबकि कर्म-मुक्त शुद्ध आत्मा को परमात्मा कहा। इसे अन्य परिभाषा भी दी जा सकती है। शरीर से जुडी आत्मा बहिरात्मा है। अपने स्वरूप के बोध से जुडी आत्मा अन्तरात्मा है और अपने स्वरूप को प्राप्त आत्मा परमात्मा है।*

*यह उत्क्रान्ति का क्रम भी है। हम अभी बहिरात्मा में जी रहे हैं। इससे ऊपर उठनां है। अपने आत्म-स्वरूप से जुड़कर जीने का पुरुषार्थ हमें अगले पायदान तक पहुँचाता है, और उसी पुरुषार्थ में जब सातत्य आता है तो परमात्मा की मंजिल प्राप्त हो जाती है।*

*इस अनूठे और उपयोगी विषय पर अपने चिंतन को प्रस्तुत किया है - साध्वी प्रियलताश्रीजी ने। मुझे आशा है यह शोध प्रबन्ध आत्म-यात्रा के यात्रियों को नई दिशा देगा। उनके लिये उपयोगी बनेगा।*

*साध्वीश्री साहित्य के क्षेत्र में नित नये आयाम स्थापित करें, यही शुभकामना।*

**उपाध्याय मणिप्रभसागर**

# ※ अन्तराशीष ※

*परम विदुषी प्रतिभा सम्पन्न छोटी बहना प्रियलताश्री आधुनिक युग की एक सौम्य और प्रबुद्ध विचारिका ने आपने शोध प्रबन्ध 'जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा' का गम्भीर अध्ययन किया है। हिन्दी में लिखा हुआ ग्रंथ विद्वत् योग्य तो है ही, साथ ही जैन दर्शन के अन्य जिज्ञासुओं के लिए भी उपकारक सिद्ध होगा। इस ग्रंथ की गुरु-गम्भीर रहस्यों को इसमें उजागर किया गया है। भाव, भाषा, शैली सभी दृष्टियों से ग्रन्थ सरस और चित्ताकर्षक बना है। आशा है श्रद्धालु गण इस ग्रन्थ का स्वाध्याय कर अपने जीवन को नया मोड़ देंगे। उनमें स्वाध्याय की रूचि जागृत होगी और वे अधिकाधिक अन्तर्मुखी बनेंगे।*

*आप युग-युग तक शासन सेवा करें मैं देव गुरु से प्रार्थना करती हूँ। आपकी लिखि कृति जन-जन के लिए प्रेरणा रूप बने, साहित्य के द्वारा दिन-दुनी रात चौगुनी सेवा करके स्वयं पर कल्याण की साधना करें यही अन्तर शुभाशीष। आप स्वयं इस ग्रंथ को हृदयंगम करके अपनी आत्मा का अवलोकन करें। इस ग्रन्थ को बोधगम्य एवं सर्वाङ्गपूर्ण बनाने में डॉ. सागरमलजी जैन का महत्वपूर्ण योगदान रहा। शोध प्रबंध में कठिन विषय को भी सहज एवं सरल रूप में ग्रन्थ के माध्यम से महनीय कार्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। स्वाध्याय प्रेमी डॉ. ज्ञानचंदजी व कम्पोजिंग में श्री नवीनचन्द्रजी सावनसुखा का हार्दिक सहयोग कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।*

*यह ग्रंथ आत्मा का दर्पण बने, सम्यग्दर्शन से आत्मा दीप्तिमान बने। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अवधारना करके मुक्ति रमणी को वरण करें।*

**साध्वी सुलोचनाश्री**

# ❊ आशीर्वचन ❊

*स्नेही मानस तत्त्वज्ञ चिन्तिका, मेरी प्रिय बहना साध्वी प्रियलताश्री ने कई रिक्त जीवनों को ऋद्धि-सिद्धि से भरा है। कई सूने भाग्य उपवनों में वसंत खिलाया है और निराशों के जीवन में आशा का अरूणोदय किया है।*

*आगम मर्मज्ञ धार्मिक श्रद्धाशील प्रबुद्ध चिन्तक डॉ. सागरमलजी जैन के दुर्लभ सान्निध्य में अनुशीलन, परिशीलन किया सोने में सुहाग की तरह आत्म चिन्तन से शोध प्रबन्ध का लेखन प्रारंभ हुआ।*

*छोटी उम्र में ही बड़ी निष्ठा के साथ अध्ययन किया है, प्रज्ञावंत है। आत्मदर्शन, परमात्म दर्शन, बाह्य आत्म दर्शन उसका स्वयं का जीवन दर्शन बने। साधना पथ में निमग्न हो। संयम यात्रा खुशियों के साथ पार करें। रत्नत्रय की वृद्धि करते हुए आत्मा को दीप्तिमान बनावे, जिनशासन को गौरवान्वित करें। इनका उत्तरोत्तर विकास होता रहे, वे अपना श्रम साहित्य सर्जन में लगाती रहें और भविष्य में उत्तरोत्तर वृद्धि करें। यही अन्तर शुभाशीष है, आत्म कलम की सौरभ से आत्मा को सुरभित करके मुक्ति में रमणता करें, यही अन्तर कामना।*

*दीपक क्या कहता है सुनलो !*
*मुझे करो तुम स्नेह प्रदान।*
*ज्योति जगा दूँगा अब जग में,*
*बिना स्नेहामृत तन मन प्राण।*
*प्रभु से मिल सकती है आस्था की ज्योति*
*खुदा से मिल सकता है विश्वास का मोती*
*मन की भाव शुद्ध से काया निर्मल बनती*
*अध्यात्म ज्योति से मुक्ति को वरण करती।*

**साध्वी सुलक्षणाश्री**

# * मंगल शुभेच्छा *

*शोध-प्रकाशन की पुनित वेला में बसवनगुड़ी श्रीसंघ अत्यन्त ही गौरव का अनुभव कर रहा है। हम सभी का मन आज पुलकित है। प्रभु की परम कृपा से, गुरुदेव के असीम आशीर्वाद से, गुरुवर्या श्री प.पू. सुलोचनाश्रीजी म.सा. एवं प.पू. सुलक्षणाश्रीजी म.सा. की कृपा से एवं डॉ. सागरमलजी सा के कुशल निर्देशन में द्वय साध्वीवर्या ने अपने वर्षों से संजोये सपने को साकार रूप दिया। उन्होंने अपनी प्रज्ञा छैनी से प्रतिभा का सम्यक् उपयोग किया। निश्चित् रूप से यह श्रुतार्जन गहरी लगन का द्योतक है।*

*साध्वी श्री प्रियलता श्रीजी ने 'जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा' ग्रंथ का निर्माण कर बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा दशा का उल्लेख कर जन समुदाय को यथार्थ धरातल पर आत्मसात् करने का मार्गदर्शन कराया। साथ ही साध्वी श्री प्रियवंदना श्रीजी ने 'जैन दर्शन में समत्वयोग' ग्रंथ का आलेखन कर शोध यात्रा को सफलतम ऊँचाइयों तक पहुँचाया।*

*प्रबल-पुण्योदय से एक साथ दो ग्रंथों के प्रकाशन का अपूर्व अवसर प्राप्त कर हमारा श्री संघ लाभान्वित हो रहा है। द्वय साध्वीवर्या द्वारा संशोधित, नवनिर्मित कृति संत, संघ व समाज के लिए सर्वोपयोगी सिद्ध होगी। सभी दार्शनिकों ने जीवन का मूलाधार आत्मा व समत्व को स्वीकार किया है।*

*वर्तमान बाह्य परिवेश में..इन्टरनेट, कम्प्युटर युग में ऐसे प्रेरणा-स्रोत ग्रंथों का नियोजन होना चाहिये। पाठकवर्ग के लिए यह कृति ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय हेतु अतीव उपयोगी होगी। पूजनीया साध्वी श्री का सफलतम परिश्रम एवं ज्ञान के प्रति समर्पण स्तुत्य व अभिनन्दीय है। जिनशासन की गोद में अपूर्व धरोहर रूप शोध प्रबन्ध प्रदान किया इसी तरह भविष्य में अनेकविध ग्रंथ प्रदान कर शासन सेवा में रत रहें। साध्वी श्री द्वय को बधाई देते हुए हमारा समस्त श्री संघ गौरवान्वित है। यह कृति जनमानुष के मनोमस्तिष्क का परिमार्जन, परिष्कृत करें। यही शुभेच्छा....*

**श्री जिनकुशल सूरि जैन दादावाडी ट्रस्ट**

72, के.आर. रोड, बसवनगुड़ी, बेंगलौर - 560 004. कर्नाटक

फोन : 080 - 2242 3348

# * शुभानुशंसा *

*साध्वी श्री प्रियलताश्रीजी का शोध प्रबन्ध 'जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा' प्रकाशित हो रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई। साध्वी श्री ने मेरे सान्निध्य और मार्गदर्शन में ही यह शोधप्रबन्ध पूर्ण किया है और जिस पर उन्हें जैन विश्वभारती संस्थान मान्य विश्वविद्यालय लाडनूं से पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की गई थी। किसी लेख के श्रम की सार्थकता इसी में निहित रहती है कि उसका ग्रन्थ प्रकाशित होकर जन-योग्य बने। किसी ग्रन्थ के प्रकाशन का यह उपक्रम इसी हेतु होता है कि लेखक के श्रम को सार्थकता मिले। प्रकाशन की इस शुभ वेला पर मैं साध्वीश्रीजी को बधाई देता हूँ और यह आशा करता हूँ कि उनकी यह कृति जन-जन के आत्म विकास में सहयोगी बने और वे बहिरात्मभाव का त्याग कर अन्तरात्मा की साधना के द्वारा परमात्म पद की प्राप्ति करें। साथ ही साध्वीजी से भी यह अपेक्षा करता हूँ कि वे ज्ञान साधना में तत्पर रहते हुए जिनवाणी के भण्डार को समृद्ध करते हुए, जन कल्याण के साथ-साथ आत्म कल्याण कर परमात्म पद का शीघ्र वरण करें। ज्ञान की सार्थकता स्व पर कल्याण के साथ परमात्म-दशा की प्रप्ति में ही है।*

**डॉ. सागरमल जैन**

संस्थापक-निदेशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र)

# ❊ संपादकीय ❊

*शोध प्रबन्ध का संपादन सरल भी है, विषम भी।*

*'जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा' शोध प्रबन्ध के संपादन में अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति हुई। वर्तमान में बहिर्मुखी इन्सान का अन्तरमुखी होना सुखी जीवन के लिये कितना आवश्यक है और उस स्थिति को किन माध्यमों से पाया जा सकता है, पूज्या साध्वीजी ने अपने मौलिक सोच को, अनेकों ग्रन्थों के संदर्भों से, सरलता से समझाने का सराहनीय प्रयास किया है।*

*एक आत्मा का विविध दृष्टिकोणों से विचारना और फिर उसमें ही स्थित हो जाना - निर्द्वंद, निरपेक्ष भाव का स्थिरीकरण ही मोक्ष की सम्यग् राह है।*

*विभाव से स्वभाव में आना और स्वभाव को अप्रमत्त प्रयास पूर्व पल्लवित और पुष्ट करते रहना ही बहिर्गमन से अन्तरगमन और अन्तरगमन से परमगमन की यात्रा है।*

*साध्वीजी ने अनेकों सिद्धांतों के माध्यम से मुक्त जीवन का राज दर्शाया है। उनकी रूचि सतत ज्ञान अभिवृद्धि में कारण बने, यही अन्तरमन की अभिलाषा...*

**डॉ. ज्ञान जैन,** B.Tech., M.A., Ph.D.

37, पेरूमाल मुदली स्ट्रीट, चेन्नई - 600 079.

# ※ मंगल कामना ※

*श्रुतोपासिका...आत्मप्रिय...बहना प्रियलता श्रीजी*
*आत्मिय भावेन...सह...अनुमोदन...*

*शोधग्रंथ प्रकाशन की सुनहरी घड़ियाँ आई है।*
*मनांगन में उत्सव उमंग की अपूर्व रंगोली छाई है।।*

*दीर्घ श्रमशीलता लगनशीलता का साक्षात् परिणाम पाया है।*
*सहज सरल सुबोध शैली से इस ग्रंथ को संजोया है।।*

*गुरुवर्याश्रीजी की असीम कृपा से, अपनी प्रतिभा को निखारा है।*
*शाजापुर में विद्वत् शिरोमणि डॉ. सागरमलजी का निर्देशन मिला है।।*

*प्रांजल लेखनी निरंतर प्रवाहित कर पीएच.डी. का सपना साकार किया है।*
*त्रिविध आत्मा ग्रंथ निर्माण कर, कार्यनिष्ठा का परिचय दिया है।।*

*इस पावन प्रसंग पर हम देते, तुम्हें तहे दिल से बधाई हैं।*
*बचपन जीवन साथ-साथ रहकर, संयम में भी साथ निभाया है।।*

*स्वास्थ्य अस्वस्थ रहते हुए भी अध्ययन निमग्न तुम्हें पाया है।*
*गहरे आत्मविश्वास से आगे बढ़कर, अध्यात्म धरा का स्पर्श किया है।।*

*संयम साधना ज्ञानाराधना कर, जीवन को प्रगतिशील बनाया है।*
*स्व पर कल्याण कर त्रिविधात्मा ग्रंथ में अनहद आनंद पाया है।।*

*बधाई की मंगल घड़ियों में भगिनी मंडल शुभ कामना करती है।*

**आत्महितेषु**
**साध्वी श्री प्रियस्मिताश्री**
**साध्वी श्री प्रियवंदनाश्री**
**एवं समस्त साध्वी भगिनी मंडल**

परम पूज्य साध्वी श्री सुलोचना जी म. सा. का शिष्य परिवार

# ❊ मंगल कामना ❊

*साध्वी प्रियलताश्रीजी ने 'जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा' विषय पर अनेक ग्रन्थों का अवलोकन कर विशद विवेचन द्वारा इस ग्रंथ का निर्माण किया यह जानकर हृदय अत्यंत प्रमुदित बना। मैं आप के ज्ञान योग की साधना का अन्त:करण से अनुमोदन करता हूँ।*

*अध्यात्मवादी प्रबुद्ध चिन्तनशील मनीषियों के लिए आध्यात्मिक क्रमिक विकास हेतु जैन दर्शन में महत्त्वपूर्ण चिन्तन पाया जाता है। अनादि अनंत संसार के निबिडतम जंगल में कर्मबद्ध आत्मा निरंतर अनंतकाल चक्र तक परिभ्रमण, पर्यटन कर रही है। आखिर परिभ्रमण का क्या कारण है ? आत्मा अपने अनंत स्वाभाविक वैभव को आज तक क्यों नहीं पा सकी ? विषय एवं कषायों के निमित्तों को पाकर आत्मा पुन: पुन: माया में आत्मा आत्मत्व अपनापन की बुद्धि क्यों करती रहती है। जैन दर्शन में इन प्रश्नों का प्रत्युत्तर देते हुए कहा है कि जन्म-जन्मांतरीय अनुबन्धता से प्रगाढ़ किया हुआ बहिरात्मा भाव ही इन सब की जड़ है। आत्मा जब बहिर्भाव-पुद्गल भाव-अनात्म भावों में चली जाती है...तब वह बहिरात्मा है। एवं काया को सिर्फ साक्षी मानकर देहाध्यास-देहवृत्ति को छोड़कर आत्मा जब अपनी आत्मा में अवस्थान कर लेती है, उसी में सुख एवं आनंद की अनुभूति करती है तब वह अन्तरात्मा है। और जब ज्ञानानंद से परिपूर्ण बन कर कर्मों से शुद्ध होकर एवं सकल आदि-व्याधि-उपाधि से मुक्त बनकर जो अतीन्द्रिय गुणों का निधान स्वरूप है...वह परमतत्त्व परमात्मा है।*

*जैन दर्शन में इन त्रिविध आत्मा की विस्तृत रूप से परिकल्पना करके बहिरात्मा भाव से कैसे बचना एवं उससे विराम पाकर आत्मभाव में अवस्थित बन-कर परमात्मा भाव को कैसे संप्राप्त करना, विदुषी साध्वी श्री प्रियलताश्रीजी ने इस विषय पर विविध शोधपूर्वक परिश्रम करके जो विस्तृत निबंध आलेखित किया है, एतदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। पाठकगण भी इसका समुचित पठन, अभ्यास एवं परिचिन्तन करें तभी साध्वीजी का यह प्रयास विनियोग के रूप में सफल बनेगा।*

*मैं पूर्ण विश्वास रखता हूँ कि सा. प्रियलताश्रीजी पंचविध स्वाध्याय में अनुप्रेक्षारूप ऐसे निबंध अन्य अनेक विषयों पर भी आलेखित करके विद्वद् वृन्द एवं साधक गण के लिए आत्मानंद के रसपान में आलंबन रूप बने - यही मंगल कामना।*

आधोई (कच्छ), 2007 **- पं. कीर्तिचन्द्र विजय**

## ✻ एक जीवन - तीन रूप ✻

*इस संसार का प्रत्येक प्राणी तीन प्रकार का जीवन जीता है। एक उसका बाह्य प्रदर्शन एवं व्यवहार होता है, तो दूसरी ओर उससे भिन्न उसके संस्कार तथा विचार होते हैं। उसका तृतीय रूप उसका शुद्ध शाश्वत अपरिवर्तनीय स्वरूप होता है।*

*परम पूज्य साध्वी श्री प्रियलताश्रीजी द्वारा रचित शोध प्रबन्ध 'जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा' जीवन के इन तीनों रूपों का विशद एवम् विस्तृत विवेचन किया गया है। इसका नियमित पारायण, चिन्तन तथा मनन जीवन में सही दिशा में अग्रसर होने में अवश्य सहायक होगा।*

**नवीनचन्द्र नथमल सावनसुखा**

इन्दौर, 26-10-2007

## ✻ अंतर के द्वार से ✻

*पूज्या साध्वी श्री सुलोचनाश्रीजी म.सा. की सुशिष्या समतासाधिका, ज्ञान उपासिका, गंभीर विद्वत्ता और हृदयस्पर्शी विनम्रता, सरलता और मधुरता, संयम नपी तुली मिष्टवाणी और स्पष्ट प्रवाहपूर्ण लेखन, वात्सल्य और स्नेह में सनी दृष्टि, हर स्थिति में विहंसती भावमुद्रा, इस गुण रूपधारी भव्य व्यक्तित्व का नाम है 'साध्वी डॉ. प्रियलताश्रीजी म.सा.' जिन्होंने जैन त्रिविध आत्मा के उपर सरल, हृदयंगम, संशोधन करके साधको की ज्ञानपिपासा को पूर्ण करने का प्रयास किया है, वह अनुमोदनीय है। ज्ञान-समता की मूर्ति साध्वीजी भगवंत रत्नत्रयी की आराधना के लिए ऐसे ही अनेकानेक संशोधन करके साधकों को नई दृष्टि प्रदान करें... ऐसी शासनदेव को अंतस्थल की अभ्यर्थना...*

**नरेन्द्रभाई कोरडिया**

प्राचार्य - जैन ज्ञानशाला, नाकोडा तीर्थ

## ❊ मंगल कामना ❊

*आज मैं अत्यंत ही गौरव का अनुभव कर रहा हूँ कि साध्वी श्री प्रियलताश्रीजी ने 'जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा' पर शोध करने का अद्‌भुत कार्य किया है। लेखन निष्ठा को देखकर उनकी प्रतिभा संपन्नता व परिपक्वता का बोध होता है। संघ आप जैसी उदीयमान साध्वी श्री को पाकर गौरवान्वित है। मेरी शुभ कामना है कि अपनी स्वाध्याय वृति को निरंतर गतिमान रखकर संघ एवं समाज को अपने अमूल्य अवदानों से लाभान्वित करती रहें। आगे भी अधिक परिश्रम पूर्वक तथा सजगता से विविध ग्रन्थों की रचनाकर जैन विधा के भण्डार को समृद्ध करें।*

*इसी मंगल कामना के साथ,*

**- गौतमचंद कोठारी**

प्राचार्य - श. उ. मा. वि., फलोदी

## ❊ प्रज्ञाभिनंदन ❊

*साध्वी श्री प्रियलताश्रीजी ने 'जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा' पर शोध कार्य करके एक चुनौति स्वीकार करते हुए अपनी उर्जाभरी पैनी प्रज्ञा का सदुपयोग कर अपनी प्रतिभा को निखारा है।*

*साध्वीश्रीजी के शोध ग्रन्थ प्रकाशन के स्वर्णिम पलों में उनको मैं हार्दिक बधाई देता हूँ। इस प्रवाहपूर्ण प्रांजल लेखनी से साहित्य समाज को समृद्ध बनाने में उन्होंने अपना योगदान अर्पण किया है। इस ग्रंथ के माध्यम से साध्वी श्री ने बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्म दशा को कैसे उपलब्ध करें, इसकी विस्तृत जानकारी देकर हमें आध्यात्म मार्ग की ओर प्रेरित किया है। यह 'जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा' ग्रंथ जनसमुदाय के लिए अत्यन्त उपयोगी, सार्थक सिद्ध होगा।*

*साध्वी श्री ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा के माध्यम से लेखन को गति प्रदान कर, इस कार्य को लगन व परिश्रम से पूर्ण किया है। मैं हार्दिक ज्ञानाभिनंदन करता हूँ। इसी तरह उत्तरोत्तर अभिवृद्धि कर शासन सेवा में संलग्न रहें यही शुभेच्छा,*

**- गोविन्दचंद मेहता**

अध्यक्ष-कुशल एजुकेशन ट्रस्ट, मुंबई

जहाज मंदिर उपाध्यक्ष, जोधपुर

# ※ आत्मीय स्फुरण ※

*साध्वी श्री प्रियलताश्रीजी का शोध प्रबन्ध ''जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा'' एक महत्वपूर्ण कृति है। आपश्री ने अनेक विध कार्यों में व्यस्त होते हुये भी इस शोध-ग्रंथ का निर्माण कर जिनशासन की शान बढ़ायी है, इसलिए हमें आप पर नाज है। प्रसंगानुसार इसमें श्रावक एवं मुनि वर्ग की सामान्य साधना का भी चित्रण कर अपनी व्यापक अध्ययन दृष्टि का परिचय दिया है।*

*प्रस्तुत कृति सर्वांगीण क्षेत्र में अतीव उपयोगी रहेगी। निःसंदेह ऐसे सामाजिक, वैचारिक, व्यवहारिक विषमताओं के बारूद पर खड़े मानव समाज के लिए सर्वोपयोगी सिद्ध होगी। हमारे लिए हर्ष का विषय है कि आत्म साधना से सम्बन्धित शोध ग्रन्थ का लेखन कर साध्वी श्री प्रियलताश्रीजी ने पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की।*

*इस शोध ग्रंथ के प्रकाशन के शुभ अवसर पर हमारे गोलच्छा परिवार की ओर से हार्दिक बधाई। इसी तरह आप दिन दूनी रात चौगुनी साहित्य क्षेत्र में अभिवृद्धि करें एवं जिनशासन में चार चाँद लगाये।*

**प्रवीण/मनीष गोलच्छा एवं समस्त गोलच्छा परिवार**

रायपुर

# भूमिका

जैनदर्शन भारतीय श्रमण परप्परा का अंग है। श्रमण परम्परा में व्यक्ति के आध्यात्मिक और नैतिक विकास को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। व्यक्ति वासनाओं से ऊपर उठकर निर्वाण या परमात्मस्वरूप को प्राप्त करे, यही श्रमण परम्परा का मुख्य लक्ष्य है।

आध्यात्मिक विकास की यात्रा कहाँ से कैसे प्रारम्भ होकर कहाँ पूर्ण होती है, इसकी विवेचना ही श्रमण-धारा का मूल प्रतिपाद्य विषय रहा है।

औपनिषदिक परम्परा से लेकर जैन और बौद्ध परम्पराओं में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की विविध अवस्थाओं की चर्चा उपलब्ध होती है। उपनिषदों में प्रेयमार्ग और श्रेयमार्ग की चर्चा के साथ ही दो प्रकार के व्यक्तियों के उल्लेख मिलते हैं - बहिःप्रज्ञ और अन्तःप्रज्ञ। प्रकारान्तर से उपनिषदों में हमें आध्यात्मिक विकास की सुषुप्ति, स्वप्न, जागृति और तुरीय अवस्थाओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है। एक अन्य अपेक्षा से उपनिषदों में पंचकोषों की चर्चा भी मिलती है, यथा -

१. आनन्दमयकोश; २. प्राणमयकोश; ३. मनोमयकोश;
४. विज्ञानमयकोश और ५. अन्नमयकोश।

ये सब अवस्थाएँ व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की सूचक हैं। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा के अन्तर्गत भी स्रोतापन्नादि चार अवस्थाओं तथा दस भूमियों की चर्चा हमें मिलती है। जैन परम्परा में भी आध्यात्मिक और नैतिक विकास की दृष्टि से षड्लेश्याओं, कर्मविशुद्धि के दस स्थानों, चौदह गुणस्थानों और त्रिविध आत्माओं की चर्चा उपलब्ध होती है।

चौदह गुणस्थानों और षड्लेश्याओं को लेकर जैनविधा के क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से कुछ शोध कार्य हुए हैं, किन्तु त्रिविध आत्मा की अवधारणा की चर्चा आगमयुग के पश्चात् लगभग पाँचवीं शताब्दी से उपलब्ध होने लगती है। आगमकाल में भगवतीसूत्र में आठ प्रकार की आत्माओं का उल्लेख है। हमें ऐसा लगता है कि इन

आठ प्रकार की आत्माओं की चर्चा के आधार पर उपनिषदों की बहिःप्रज्ञ एवं अन्तःप्रज्ञ की अवधारणा अथवा निद्रादि चार अवस्थाओं और पंचकोशों की अवधारणा से ही त्रिविध आत्मा की इस अवधारणा का विकास हुआ है।

सर्वप्रथम हमें आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में त्रिविध आत्मा की अवधारणा मिलती है। आचार्य कुन्दकुन्द के काल को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। उन्हें विद्वानों ने ईसा की प्रथम शती से लेकर पाँचवीं शती तक के अलग-अलग कालखण्डों में माना है। उसके पश्चात् पूज्यपाद देवनन्दी के पाँचवीं-छठी शती के इष्टोपदेश और समाधितंत्र नामक संस्कृत ग्रन्थों में इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

इसके पश्चात् मुनिरामसिंह एवं योगीन्दुदेव (लगभग ७वीं शती) के अपभ्रंश ग्रन्थ क्रमशः पाहुडदोहा एवं परमात्मप्रकाश में भी त्रिविध आत्मा की चर्चा उपलब्ध है। इसी क्रम में आगे १०वीं शताब्दी में शुभचन्द्रजी के ज्ञानार्णव में यह अवधारणा मिलती है। लगता है कि श्वेताम्बर परम्परा में त्रिविध आत्मा की यह अवधारणा परवर्तीकाल में ही विकसित हुई है। सर्वप्रथम हेमचन्द्रजी ने इसका निर्देश किया है। उनके पश्चात् लगभग १७वीं शताब्दी में आचार्य यशोविजयजी ने त्रिविध आत्मा की इस अवधारणा का अपने ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन किया है। उनके ही समकालीन अध्यात्मयोगी आनन्दघनजी ने भी अपने पदों और चौवीसियों में त्रिविध आत्मा की चर्चा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत ग्रन्थों से प्रारम्भ होकर प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और मरुगूर्जर आदि सभी भाषाओं और सभी कालों में जैन परम्परा में त्रिविध आत्मा की चर्चा उपलब्ध होती है। इस चर्चा में सामान्यतः मिथ्यादृष्टि को बहिरात्मा, सम्यग्दृष्टि, देशविरत एवं मुनि आदि को अन्तरात्मा और केवली या वीतराग को परमात्मा के रूप में वर्णित किया गया है। इस चर्चा में यह भी फलित होता है कि व्यक्ति अपनी साधना से किस प्रकार से बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा की अवस्था को प्राप्त करता है। जैनदर्शन की यह विशिष्टता है कि वह प्रत्येक आत्मा को परमात्मपद तक अपना आध्यात्मिक विकास करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है। बहिरात्मा अपनी साधनात्मक यात्रा के माध्यम से अन्तरात्मा बनकर किस

प्रकार परमात्मपद को प्राप्त करती है, इसकी साधना-विधि का उल्लेख भी प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में किया गया है। साथ ही विशेषरूप से इस साधना में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र की साधना के साथ-साथ अनुप्रेक्षा, ध्यान आदि की साधना किस रूप में सम्पन्न होती है, इसकी चर्चा की गई है। अन्त में जैनदर्शन की इस त्रिविध आत्मा की तुलना आधुनिक मनोविज्ञान से भी की गई है। आधुनिक मनोविज्ञान में व्यक्तित्व की चर्चा के प्रारम्भ में अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तित्वों की चर्चा उपलब्ध होती है। जो किसी सीमा तक बहिरात्मा और अन्तरात्मा से तुलनीय है। इसी प्रकार उसमें (१) वासनात्मक अहम्; (२) विवेकात्मक अहम् और (३) आदर्शात्मक अहम् (Id, Ego & Super Ego) की चर्चा भी त्रिविध आत्मा से समतुल्यता रखती है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में इस त्रिविध आत्मा की अवधारणा को आधुनिक मनोविज्ञान के सन्दर्भ में पूरी तरह समझने का प्रयत्न किया गया है।

यहाँ यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि त्रिविध आत्मा की अवधारणा की वर्तमान युग में क्या प्रासंगिकता है? वर्तमान युग विज्ञान का युग है। वैज्ञानिक गवेषणाओं के परिणामस्वरूप आज भौतिक सुख साधनों का अम्बार लग गया है। धरती पर चलने वाला मानव अब अन्तरिक्ष में यात्रा कर रहा है। दूरभाष, दूरदर्शन और वायुयान आदि साधनों के परिणामस्वरूप दूरियाँ कम हो गई हैं, किन्तु इन सब के उपरान्त भी व्यक्ति की आकांक्षाएँ और तृष्णाएँ कम नहीं हो सकी हैं। विश्व की दूरियाँ चाहे कम हो गई हों, किन्तु हृदय की दूरियाँ बढ़ी हैं। विश्व बाह्य सुख-साधन और भौतिक सुख-सुविधाओं में आसक्त बना हुआ है। वह अपनी अन्तरात्मा की ओर अभिमुख नहीं है। वह पर-पदार्थों को जानने और भोगने में इतना तल्लीन हो गया है कि स्व (आत्मा) को लगभग विस्मृत ही कर चुका है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में हमारा प्रयत्न यही रहा है कि व्यक्ति अपनी इस बहिर्मुखता का त्यागकर अन्तर्मुखी बने और अपने परमात्मस्वरूप का अनुभव करे। आज विश्व का कल्याण इसी में निहित है कि वह बहिर्मुखता अर्थात् भोगोन्मुख दृष्टि का त्याग करे और अन्तर्मुख होकर अपनी अस्मिता को जाने और जीने का प्रयत्न करे।

# कृतज्ञता ज्ञापन

इस प्रयास को मूर्त रूप देने में जिन सहृदयों का सहयोग प्राप्त हुआ है, उन सभी के प्रति विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरा अपना पुनीत कर्तव्य है। सर्वप्रथम मैं उन आदर्श आप्त महापुरुषों के प्रति विनयावनत हूँ जिनके उपदेश आज भी समस्त प्राणी मात्र के लिए मार्गदर्शक हैं।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ में जिन आचार्यों, विद्वानों, विचारकों, लेखकों और गुरुजनों का सहयोग प्राप्त हुआ, उन सभी का आभार व्यक्त करना मैं अपना कर्त्तव्य समझती हूँ।

जिनकी अदृश्य कृपादृष्टि निरन्तर बरसती रही, उन चारों गुरुदेवों के चरणों में अनन्तानन्त वन्दन।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, मेरी अनन्त आस्था के केन्द्र, मेरी जीवन धारा के दिशा निर्णायक, प्रव्रज्या प्रदाता प.पू.आचार्य श्री जिनकान्तिसागरसूरीश्वरजी म.सा. की दिव्य कृपा से ही मैं प्रस्तुत कृति को पूर्ण कर सकी हूँ। इस मंगल अवसर पर मैं आपश्री के चरणारविन्दों में अहोभावपूर्वक नतमस्तक हूँ।

परमोपकारी, प्रज्ञामनीषी, मेरी असीम श्रद्धा के केन्द्र, जिनकी पुनीत प्रेरणा का अजस्र स्रोत सतत बहता रहा, उन्हीं परम वन्दनीय प.पू. उपाध्याय प्रवर गुरुदेव श्रीमणिप्रभसागरजी म.सा. को इस अवसर पर मैं भावपूर्वक वन्दन करती हूँ। प्रस्तुत कृति आपश्री के असीम आशीर्वाद का सुफल है।

महामनस्वी, वात्सल्यवारिधि मेरे अग्रज श्री प.पू. पं. प्रवर श्रीकीर्तिचन्द्रविजयजी म.सा. एवं प.पू. श्रीकीर्तिदर्शनविजयजी म.सा. की कृपा से ही यह कृति अल्पावधि में पूर्ण हुई है। वस्तुतः यह आपश्री के आत्मिक आशीर्वाद का ही प्रतिफल है।

चारित्र में पारदर्शी, ज्ञान में सूक्ष्मदर्शी, मम जीवनोपकारी, मातृवत्सला, प.पू. गुरुवर्या द्वय श्रीसुलोचनाश्रीजी म.सा. एवं प.पू. श्रीसुलक्षणाश्रीजी म.सा. ने ही मुझे शोधकार्य के लिए प्रेरित किया। वास्तविक रूप से कहा जाय, तो इस अध्ययन एवं शोधकार्य के क्षेत्र में गति प्रदान करने का सम्पूर्ण श्रेय पूज्याश्री को ही जाता है। आपश्री ही मेरे जीवन की विकास यात्रा की मार्गदर्शक हैं। आपका मंगलमय वरदहस्त मेरी अमूल्य थाती है।

पूज्याश्री के उन महान उपकारों का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ, एतदर्थ मेरे पास शब्द नहीं हैं। जिनकी प्रत्यक्ष कृपादृष्टि से मेरा अन्तर-सुमन खिला, जिनके कृपापूर्ण आशीर्वचन से यह कार्य किया जा सका, जिनके प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन से मेरी जीवनयात्रा को गति मिली। आपश्री की कृपा के अभाव में प्रस्तुत कृति की इस रूप में कल्पना भी असम्भव थी।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ के विषय का चयन मैंने पूज्याश्री की आज्ञानुसार किया। आपश्री का एक ही कहना था कि विषय आध्यात्मिक हो। साथ ही साथ अधिकाधिक स्वाध्याय की अपेक्षा रखता हो एवं जीवन में निरन्तर आत्मोन्मुखी होने की प्रेरणा देता हो तथा आधुनिक युग में युवा पीढ़ी के लिए निदेशक के रूप में उपयोगी हो।

समतामूर्ति, भगिनीवर्या प.पू. प्रीति-सुधाश्रीजी म.सा. एवं प्रतिभासम्पन्न प.पू. प्रीतियशाश्रीजी म.सा., मृदुस्वभावी प्रियकल्पनाश्रीजी, स्नेह-सरिता प्रियरंजनाश्रीजी, प्रियश्रद्धांजनाश्रीजी, प्रियस्नेहांजनाश्रीजी, प्रियसौम्यांजनाश्रीजी, प्रियदिव्यांजनाश्रीजी, प्रियस्वर्णांजनाश्रीजी, प्रियश्रुतांजनाश्रीजी, प्रियशुभांजनाश्रीजी, प्रियदर्शांजनाश्रीजी, प्रियज्ञानांजनाश्रीजी, प्रियदक्षांजनाश्रीजी, प्रियश्रेष्ठांजनाश्रीजी, प्रियमेघांजनाश्रीजी आदि के सहयोग का स्मरण इस ग्रन्थ की पूर्णाहुति की वेला में करना मैं आवश्यक समझती हूँ।

वात्सल्यनिर्झरा, परम सहयोगिनी भगिनीवर्या प.पू. प्रियस्मिताश्रीजी म.सा. ने सामाजिक प्रवृत्तियों को संभालकर अध्ययन का अवसर प्रदान किया और समय-समय पर स्वच्छ प्रतिलिपी तैयार करने आदि कार्यों में वे मेरी सतत सहयोगिनी रही हैं। आपश्री का आत्मीय सहयोग इस कृति का प्राणतत्त्व है।

मधुरकण्ठी, स्नेहप्रदात्री भगिनी श्री प्रियवन्दनाश्रीजी, जिनकी इस अनुसंधानकार्य में निरन्तर विनयान्वित सेवाएँ रही हैं, सर्वथा स्तुत्य हैं। वे भी यद्यपि अपनी पीएच.डी. सम्पन्न करने में संलग्न रहीं, तथापि उन्होंने अपने कार्य को गौण बनाकर मेरे कार्य की प्रगति एवं लेखन में पूर्ण सहयोग दिया है। अनन्यसेवाभाविनी प्रिय-प्रेक्षांजनाश्रीजी एवं अध्ययनरता प्रिय- श्रेयांजनाश्रीजी का भी इस शोधकार्य को पूर्ण करने में सक्रिय सहयोग रहा है। इन दोनों ने अपनी स्नातक कक्षा का अध्ययन जारी रखते हुए भी हमारी

सुख-सुविधा का पूर्ण ध्यान रखा है।

इन सभी गुरुबहनों के आत्मीय एवं स्नेहिल सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हुआ। मैं इनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर उनकी आत्मीयता को कम नहीं करना चाहती हूँ। इन सभी की स्नेहवृष्टि से मेरी श्रुतसाधना सदैव गतिशील बनी रहे, यही शुभेच्छा।

स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मैंने तथा प्रियवन्दनाश्रीजी ने पीएच.डी. करने का निर्णय लिया। हमने जयपुर प्रवास के दौरान समाज के कर्मठ सेवाभावी श्रीमान् विमलचन्दजी सा. सुराणा एवं उनकी धर्मपत्नी उदार हृदया, प्रमुख श्राविका श्री मेमबाईसा सुराणा के सत्प्रयास से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्यातिप्राप्त, मूर्धन्य विद्वान, आगम-मर्मज्ञ, पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व निदेशक तथा प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर के संस्थापक श्रद्धेय डॉ. सागरमलजी सा. जैन से सम्पर्क किया। तभी से हमें डॉ. साहब का मार्गदर्शन उपलब्ध होता रहा। जब आपका जयपुर आगमन हुआ, तब आपने पूछा कि आप कैसा विषय लेना चाहती हैं। मैंने उत्तर दिया कि मेरी आध्यात्मिक विषय में रुचि है। अन्ततः मैंने डॉ. साहब के द्वारा प्रस्तावित विषयों में से *"जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा"* विषय का चयन किया। अपनी रुचि एवं अभिलाषा के अनुरूप विषय चुनने पर मुझे अति प्रसन्नता हुई। सौभाग्य से एवं डॉ.सा. की अनुकम्पा से प्रस्तुत विषय विश्व भारती संस्थान, लाडनूं के द्वारा स्वीकृत कर लिया गया।

मेरे पीएच.डी. के समग्र कार्य की इस पूर्णता का श्रेय निदेशक मूर्धन्य मनीषी डॉ. सागरमलजी सा. जैन को जाता है। उन्होंने शोध विषय को अधिकाधिक प्रासंगिक एवं उपादेय बनाने हेतु सतत मार्गदर्शन किया। डॉ. सा. अत्यन्त सरल, सहज, उदार तथा निःस्वार्थ सेवाभावी हैं। यद्यपि वे नामस्पृहा के लेशमात्र भी अभिलाषी नहीं हैं; तथापि इस शोधकार्य के सूत्रधार होने से उनका नाम प्रस्तुत कृति के साथ स्वतः ही जुड़ गया है। वे मेरे शोध-प्रबन्ध के मात्र निदेशक ही नहीं है, वरन् मेरे आत्मविश्वास के प्रतिष्ठापक भी हैं। उन्होंने मुझे सदैव परिश्रमपूर्वक शोधकार्य करने की प्रेरणा प्रदान की। इस वृद्धावस्था में भी आपने शारीरिक कष्टों की परवाह किये बिना नियमित मार्गदर्शन तथा कार्यावलोकन करके प्रस्तुत शोधकार्य को पूर्णता प्रदान की। इस हेतु मैं आपके

प्रति हृदय के अन्तस्तल से भावभीनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

स्वाध्याय संयुक्त, सरलता, सहजता की प्रतिमूर्ति, यथानाम तथा गुणों से सुशोभित, जैनदर्शन के गहन अध्येता डॉ. ज्ञानजी जैन को मैं विस्मृत नहीं कर सकती हूं। क्योंकि ग्रंथ चेन्नई प्रेस में छप रहा था और हमारा चातुर्मास बेंगलौर था इसी दरमियान प्रुफ लेकर सहज ही जाना-आना होता रहा और अपना अमूल्य समय प्रदानकर इस कृति में त्रुटियाँ न रह जाय, उस पर पूरा-पूरा ध्यान केन्द्रित करते हुए सम्पादन किया। आपके निर्मल, निश्चल सहयोग के प्रति मैं तहे दिल से सविनय प्रणत हूं।

इस शोध-सामग्री को कम्प्युटराइज्ड करने में अनन्य निःस्वार्थ सेवाभावी, अगाध ज्ञानप्रेमी, देव गुरु भक्त सुश्रावकरत्न श्रीमान नवीनजी सा बुजुर्गावस्था के साथ-साथ स्वास्थ्य की अस्वस्थता होते हुये भी निरंतर वैशिष्ट्य योगदान प्राप्त हुआ। आपमें जिनशासन के प्रति अपूर्व समर्पण के दर्शन हुए। आप कहा करते थे आप दोनों के शोधग्रंथ के टाइप का सारा कार्य मैं करूंगा व सम्पूर्ण उर्जा लगाकर कार्य पूर्ण किया। धन्य है आपकी महानता को, आपके वात्सल्यसिक्त भावों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं।

इस ग्रंथ प्रकाशन में श्रुत सहयोगी खरतरगच्छ समर्पित, उदारहृदयी, शान्तमूर्ति, भाग्यशाली श्रावकरत्न श्रीमान तेजराजजी सा गुलेछा की सेवाभावनाऐं प्रशंसनीय, अतुलनीय व अनुमोदनीय है। आप साधुवाद के पात्र है। श्रुत सहयोग करके आपने अपनी उदारता का परिचय दिया है एवं खरतरगच्छ संघ का गौरव बढाया है। एतदर्थ मैं उनकी भी हृदय से आभारी हूं।

पीएच.डी. करने के उद्देश्य से जब हम शाजापुर आए, उस समय साध्वी श्रीदर्शनकलाश्रीजी आदि ठाणा ५ का सान्निध्य हमें सहज ही सम्प्राप्त हुआ। उनका आत्मीय सहयोग एवं सद्भाव निरन्तर प्राप्त हुआ, जिसे कदापि विस्मृत नहीं किया जा सकता।

सरलता एवं सहजता के प्रतीक प्राध्यापक (संस्कृत) डॉ. वी.के. शर्मा एवं अनन्य सेवाभावी उपाध्याय भूदेवजी का भी सहयोग रहा है।

शाजापुर श्रीसंघ के अध्यक्ष, परमात्मभक्ति रसिक श्री लोकेन्द्रजी नारेलिया एवं अन्य पदाधिकारीगण श्री ज्ञानचन्दजी सा. गोलेच्छा तथा श्री मनोजजी नारेलिया के प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित

करती हूँ।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ में कम्प्युटर कॉपी तैयार करने में बुढ़ानिवासी श्री राजेन्द्रजी एवं सुनीलजी राणावत ने पर्याप्त श्रम किया। उनका यह सहयोग स्मृति के धरातल पर सदैव जीवन्त रहेगा। यह कार्य उन्होंने जिस लगन से पूर्ण किया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय तथा अनुमोदनीय है। उन्हीं के सहयोग से प्रस्तुत शोधकार्य इतनी अल्पावधि में पूर्ण हो सका है। एतदर्थ मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करती हूँ।

इन्दौर निवासी श्री हेमन्तबाबू सा. शेखावत ने पुस्तकें उपलब्ध कराकर शोधकार्य में सहयोग प्रदान किया। श्रीमान् नन्दलालजी सा. लुनिया, श्री लुणकरणजी सा. मेहता एवं श्री प्रकाशजी मालू भी आवश्यकतानुसार पधारकर इस कार्य में सहयोगी बने हैं। एतदर्थ आप सभी साधुवाद के पात्र हैं।

जोधपुर, जयपुर, इन्दौर, विजयनगर आदि खरतरगच्छ श्रीसंघों का हार्दिक साधुवाद। इनका विहार आदि में समय-समय पर सहयोग प्राप्त होता रहा है।

उन आत्मीयजनों का हृदय से आभार, जिन्होंने मुझे शोधकार्य में निरन्तर संलग्न एवं तत्पर रहने का संकेत करते हुए सम्प्रेरित किया। इनमें श्री गोविन्दजी सा. मेहता, श्री उत्तमराजजी सा. बडेर, श्री नेमीचन्दजी सा. झाडचूर, श्री लाभचन्दजी सा. जैन, श्री गौतमजी सा. कोठारी, श्री प्रवीणजी लोढा, श्री पारसजी लूकड, श्री रमेशजी वैद, श्री अनन्यसेवाभावी मदनबाईसा, हेमन्तभाई, अल्पनाजी, आशाजी आदि का प्रोत्साहन एवं सहयोग विशेषतः उल्लेखनीय है।

इन सबके अतिरिक्त जिनका भी प्रस्तुत शोधकार्य के प्रणयन में मुझे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। प्रस्तुत कृति आत्मसाधना के सम्यक् पथ पर अनुसरित ज्ञान-पिपासुओं के लिए पाथेय बने, इसी शुभेच्छा के साथ,

*– साध्वी प्रियलताश्री*

## जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा

# अनुक्रमणिका

## अध्याय १ : विषय प्रवेश


| | | |
|---|---|---|
| १.१ | जैन दर्शन में आत्मा का महत्त्व | १ |
| १.२ | जैन दर्शन में पंचास्तिकाय एवं षड्द्रव्यों की अवधारणा | ३ |
| १.३.१ | आत्मा का स्वरूप एवं लक्षण | १७ |
| | आत्मा एक स्वतन्त्र तत्त्व है | २० |
| | आत्मा का अस्तित्व | २१ |
| | आत्मा एक मौलिक तत्त्व है | २३ |
| १.३.२ | आत्मा के लक्षण | २५ |
| | त्रिविध चेतना | २७ |
| | मनोविज्ञान की दृष्टि में चेतना | २८ |
| १.३.३ | आत्मा का कर्तृत्त्व | २९ |
| | १. आत्मा भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कर्ता-भोक्ता है | ३२ |
| | २. क्या आत्मा पौद्गलिक कर्मों की कर्ता है ? | ३२ |
| | ३. आत्मा निज भावों की कर्ता है | ३५ |
| | ४. अकर्तृत्व सम्बन्धी सांख्यमत की समीक्षा | ३७ |
| | ६. बौद्धदर्शन और आत्मकर्तृत्ववाद | ३९ |
| | ७. गीता का दृष्टिकोण | ४० |
| | ८. आत्मभोक्तृत्ववाद | ४० |
| | ९. व्यवहारदृष्टि और निश्चयदृष्टि | ४१ |
| | १०. जैनदृष्टि से अनित्य आत्मवाद की समीक्षा | ४३ |
| | ११. नित्य आत्मवाद | ४४ |
| १.३.४ | आत्मा को निष्क्रिय मानने में कठिनाईयाँ | ४६ |
| | १. आत्मा की सक्रियता | ४७ |
| | २. आत्मा का देह से पृथक्त्व | ४८ |
| | ३. आत्मा स्वयम्भू और सम्प्रभु है | ४८ |

| | | |
|---|---|---|
| | ४. आत्मा देहव्यापी और सर्वव्यापी - दोनों ही है | ४९ |
| | ५. आत्मा के भावात्मक स्वरूप का चित्रण | ५० |
| | ६. निषेधात्मक रूप से आत्मा के स्वरूप का चित्रण | ५१ |
| १.४.१ | ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग | ५२ |
| | १. ज्ञानापयोग के भेद | ५४ |
| | २. ज्ञान की परिभाषा | ५५ |
| | ३. ज्ञान आत्मा से कथंचित् भिन्न-अभिन्न | ५५ |
| | ४. आत्मा अनन्त-चतुष्टय से युक्त है | ५७ |
| | (क) अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान | ५८ |
| | (ख) अनन्तसौख्य | ५९ |
| | (ग) अनन्तवीर्य | ६० |
| १.४.२ | आत्मा की स्वभाव और विभाव परिणति | ६२ |
| | १. आत्मा परिणामी कैसे ? | ६४ |
| | २. आत्मा अपरिणामी कैसे ? | ६५ |
| | ३. आत्मा कथंचित् मूर्त और कथंचित् अमूर्त है | ६७ |
| | ४. आत्मा के अनिर्वचनीय स्वरूप का चित्रण | ६८ |
| | ५. बौद्धदर्शन की अपेक्षा से आत्मा की अवधारणा | ६९ |
| १.५ | भगवतीसूत्र के अनुसार आत्मा के आठ प्रकार | ७१ |
| १.६ | आत्मा (जीवों) के प्रकार | ७६ |
| | १. संसारीजीव के भेद | ७९ |
| | २. इन्द्रियों की अपेक्षा से संसारीजीव के भेद | ८० |
| | ३. भव्यात्मा की अपेक्षा से संसारीजीवों के भेद | ८४ |
| | ४. गति की अपेक्षा से संसारीजीव के भेद | ८४ |
| १.७ | आत्मा के पंचभाव | ८८ |
| १.८ | बन्धन और उसके कारण | ९४ |
| | १. बन्ध के प्रकार | ९५ |
| | २. बन्ध के भेद | ९७ |
| | ३. जैनेतर (अन्य) दर्शनों में बन्ध के कारण | ९८ |
| | ४. जैनदर्शन में कर्मबन्ध के कारण | ९९ |

| | | |
|---|---|---|
| | ५. बन्धन का कारण आस्रव | १०२ |
| १.९ | बन्धन से मुक्ति की ओर | १०३ |
| | १. संवर : नवीन कर्मबन्ध को रोकने की प्रक्रिया | १०५ |
| | २. निर्जरा ही मोक्ष का कारण | ११२ |
| | ३. निर्जरा के भेद | ११३ |
| १.१० | आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवधारणाएँ | ११३ |
| | (क) लेश्या की अवधारणा | ११४ |
| | (ख) गुणश्रेणियाँ | ११४ |
| | (ग) गुणस्थान | ११५ |
| १.११.१ | आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से त्रिविध आत्मा की अवधारणा | ११६ |
| १.११.२ | आगम साहित्य और त्रिविध आत्मा की अवधारणाएँ | १२१ |
| | (क) आचारांग और त्रिविध आत्मा | १२१ |
| | (ख) भगवतीसूत्र की अष्टविध आत्मा की अवधारणा से त्रिविध आत्मा की अवधारणा की तुलना | १२२ |


## अध्याय २ : औपनिषदिक, बौद्ध एवं जैन साहित्य में आत्मा की अवस्थाएँ


| | | |
|---|---|---|
| २.१.१ | औपनिषदिकदर्शन में आत्मा की दो अवस्थाएँ | १२७ |
| २.१.२ | औपनिषदिक चिन्तन में निद्रा, स्वप्न और तुरीय अवस्थाएँ | १३३ |
| | १. उपाध्याय यशोविजयजी के अनुसार चेतना की चार अवस्थाएँ | १३६ |
| | २. सुषुप्तावस्था में चैतन्य की अनुभूति कैसे होती है ? | १३७ |
| २.२.१ | बौद्धदर्शन में आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाएँ | १३८ |
| २.२.२ | हीनयान सम्प्रदाय की स्रोतापन्न आदि चार भूमियाँ | १३९ |
| २.३.१ | महायान सम्प्रदाय की दस भूमियाँ | १४३ |
| २.४.१ | जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा | १४८ |
| २.४.२ | कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में त्रिविध आत्मा की अवधारणा | १५२ |
| | (क) मोक्षप्राभृत में त्रिविध आत्मा | १५२ |
| | (ख) नियमसार में त्रिविध आत्मा | १५२ |

| | | |
|---|---|---|
| २.४.३ | स्वामी कार्तिकेय की कार्तिकेयानुप्रेक्षा | १५३ |
| २.४.४ | पूज्यपाद देवनन्दी के समाधितन्त्र में त्रिविध आत्मा | १५५ |
| २.४.५ | योगीन्दुदेव के अनुसार त्रिविध आत्मा | १५६ |
| | (क) परमात्मप्रकाश में त्रिविध आत्मा | १५६ |
| | (ख) योगसार में त्रिविध आत्मा | १५७ |
| २.४.६ | शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में त्रिविध आत्मा | १५९ |
| २.४.७ | गुणभद्र के आत्मानुशासनम् और उसकी प्रभाचन्द्रकृत टीका में त्रिविध आत्मा | १५९ |
| २.४.८ | अमितगति के योगसारप्राभृत में त्रिविध आत्मा | १६० |
| २.४.९ | आचार्य हेमचन्द के योगशास्त्र में त्रिविध आत्मा | १६१ |
| २.४.१० | बनारसीदास के ग्रन्थ और त्रिविध आत्मा | १६१ |
| २.४.११ | आनन्दघनजी की कृतियों में त्रिविध आत्मा के उल्लेख | १६३ |
| २.४.१२ | भैया भगवतीदास, धानतराय, यशोविजयजी आदि के ग्रन्थों में त्रिविध आत्मा | १६४ |
| | (क) भैया भगवतीदास के ब्रह्मविलास में त्रिविध आत्मा | १६४ |
| | (ख) धानतराय के अनुसार त्रिविध आत्मा | १६५ |
| | (ग) उपाध्याय यशोविजयजी के अनुसार त्रिविध आत्मा | १६५ |
| २.४.१३ | देवचन्द्रजी की कृतियों में त्रिविध आत्मा | १६६ |
| २.४.१४ | श्रीमद्राजचन्द्र एवं त्रिविध आत्मा | १६८ |


## अध्याय ३ : बहिरात्मा


| | | |
|---|---|---|
| ३.१ | बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | १६९ |
| ३.२.१ | आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में बहिरात्मा का स्वरूप, नियमसार में बहिरात्मा | १७१ |
| | मोक्षप्राभृत में बहिरात्मा | १७२ |
| ३.२.२ | कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बहिरात्मा के लक्षण | १७४ |
| ३.२.३ | आचार्य देवनन्दी के अनुसार बहिरात्मा का स्वरूप | १७६ |
| ३.२.४ | योगीन्दुदेव की रचनाओं में बहिरात्मा का स्वरूप | १७७ |

| | | |
|---|---|---|
| | परमात्मप्रकाश में बहिरात्मा | १७७ |
| | योगसार में बहिरात्मा | १८२ |
| ३.२.५ | मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा में बहिरात्मा के लक्षण | १८२ |
| ३.२.६ | आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | १८७ |
| ३.२.७ | आचार्य अमितगति के योगसारप्राभृत में बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | १९२ |
| ३.२.८ | आचार्य गुणभद्र के अनुसार बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | १९५ |
| ३.२.९ | योगशास्त्र में बहिरात्मा का स्वरूप | १९६ |
| ३.२.१० | बनारसीदास की रचनाओं में बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | १९७ |
| ३.२.११ | श्रीमद् राजचन्द्रजी के अनुसार बहिरात्मा | २०० |
| ३.२.१२ | आनन्दघनजी के अनुसार बहिरात्मा का स्वरूप | २०१ |
| ३.२.१३ | देवचन्द्रजी के अनुसार बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | २०३ |
| ३.३ | बहिरात्मा के प्रकार एवं अवस्थाएँ | २०४ |
| ३.४ | क्या अविरतसम्यग्दृष्टि बहिरात्मा है ? | २०५ |
| ३.५ | बहिरात्मा और लेश्या | २०६ |
| ३.६ | बहिरात्मा और कषाय | २०७ |

## अध्याय ४ : अन्तरात्मा का स्वरूप, लक्षण और प्रकार

| | | |
|---|---|---|
| ४.१ | अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | २०९ |
| ४.२.१ | कुन्दकुन्ददेव की दृष्टि में अन्तरात्मा का स्वरूप | २०९ |
| | (क) मोक्षप्राभृत में अन्तरात्मा का स्वरूप | २०९ |
| | (ख) नियमसार में आत्मा का स्वरूप | २११ |
| ४.२.२ | स्वामी कार्तिकेय के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | २१३ |
| ४.२.३ | आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप | २१७ |
| ४.२.४ | योगीन्दुदेव के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | २१९ |
| | (क) परमात्मप्रकाश में आत्मा का स्वरूप | २१९ |
| | (ख) योगसार में आत्मा का स्वरूप | २२८ |
| ४.२.५ | मुनि रामसिंह की दृष्टि में अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | २३० |
| ४.२.६ | आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | २३४ |

| | | |
|---|---|---|
| ४.२.७ | अमितगति के योगसार के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | २३९ |
| ४.२.८ | गुणभद्र एवं प्रभाचन्द्राचार्य के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | २४१ |
| ४.२.९ | हेमचन्द्राचार्य के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप | २४१ |
| ४.२.१० | बनारसीदासजी की दृष्टि में अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण | २४२ |
| ४.२.११ | आनन्दघनजी के अनुसार आत्मा का स्वरूप | २४५ |
| ४.२.१२ | देवचन्द्रजी के अनुसार आत्मा का स्वरूप | २४७ |
| ४.२.१३ | श्रीमद् राजचन्द्रजी के अनुसार अन्तरामा | २४८ |
| ४.३ | अन्तरात्मा के प्रकार | २५० |
| ४.३.१ | अविरतसम्यगदृष्टि तथा देशविरत श्रावक का स्वरूप एवं लक्षण | २५१ |
| | (क) अविरतसम्यगदृष्टि जघन्य अन्तरात्मा कैसे है ? | २५१ |
| | (ख) जघन्य-मध्यम अन्तरात्मा : देशविरतसम्यगदृष्टि | २५२ |
| ४.३.२ | देशविरत श्रावक का स्वरूप | २५३ |
| | १. सप्तव्यसन का त्याग | २५३ |
| | २. मार्गानुसारी के ३५ गुण | २५४ |
| | ३. श्रावक के बारह व्रत | २५५ |
| | ४. श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ | २६३ |
| ४.३.३ | सर्वविरत अन्तरात्मा | २६७ |
| | मध्यम-मध्यम अन्तरात्मा किसे कहते हैं ? | २६७ |
| | १. मुनि का स्वरूप एवं लक्षण | २६८ |
| | २. श्रमण के पंचमहाव्रत | २७० |
| | ३. अष्टप्रवचन माता : समिति एवं गुप्ति | २७५ |
| | ४. दस मुनिधर्म | २७९ |
| | ५. बाईस परिषह | २७९ |
| | ६. पाँच चारित्र | २८० |
| | ७. षड्आवश्यक | २८१ |
| | ८. समाचारी | २८२ |
| | ९. दिनचर्या | २८३ |
| | १०. प्रतिलेखन | २८३ |

| | | |
|---|---|---|
| | ११. भिक्षाचारी | २८४ |
| | १२. सचेल-अचेल | २८४ |
| ४.३.४ | उत्कृष्ट-मध्यम अन्तरात्मा | २८५ |

## अध्याय ५ : परमात्मा का स्वरूप, लक्षण और प्रकार

| | | |
|---|---|---|
| ५.१ | परमात्मा का सामान्य स्वरूप | २८७ |
| ५.१.१ | अर्हत् परमात्मा | २८८ |
| ५.१.२ | सामान्य केवली और तीर्थंकर | २८८ |
| ५.१.३ | सयोगी केवली और अयोगी केवली | २९० |
| ५.२ | जैनाचार्यों की दृष्टि में परमात्मा का स्वरूप एवं भेद | २९२ |
| ५.२.१ | आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में परमात्मा का स्वरूप | २९३ |
| | (क) मोक्षपाहुड के अनुसार परमात्मा | २९३ |
| | (ख) नियमसार के अनुसार परमात्मा | २९४ |
| ५.२.२ | स्वामी कार्तिकेय के अनुसार परमात्मा का स्वरूप | २९७ |
| ५.२.३ | आचार्य पूज्यपाद के अनुसार परमात्मा का स्वरूप | २९९ |
| ५.२.४ | योगीन्दुदेव के अनुसार परमात्मा का स्वरूप | ३०० |
| | (क) परमात्मप्रकाश के अनुसार परमात्मा | ३०० |
| | (ख) योगसार के अनुसार परमात्मा का स्वरूप | ३०७ |
| ५.२.५ | मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा में परमात्मा का स्वरूप | ३०९ |
| ५.२.६ | आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार परमात्मा का स्वरूप | ३१३ |
| ५.२.७ | अमितगति के योगसारप्राभृत में परमात्मा का स्वरूप | ३१७ |
| ५.२.८ | गुणभद्र के आत्मानुशासनम् में परमात्मा का स्वरूप | ३१९ |
| ५.२.९ | हेमचन्द्र के योगशासत्र के अनुसार परमात्मा का स्वरूप | ३२० |
| ५.२.१० | बनारसीदासजी के अनुसार परमात्मा का स्वरूप | ३२१ |
| ५.२.११ | आनन्दघनजी के अनुसार परमात्मा का स्वरूप | ३२५ |
| ५.२.१२ | देवचन्द्रजी के अनुसार परमात्मा का स्वरूप | ३२८ |
| ५.२.१३ | श्रीमद् राजचन्द्रजी के अनुसार परमात्मा | ३३० |
| ५.३ | तीर्थंकर का स्वरूप | ३३२ |
| ५.४ | अतिशय | ३३३ |

५.४.१ तीर्थंकरों के पंचकल्याणक ३३९
५.४.२ तीर्थंकर परमात्मा का निर्दोष व्यक्तित्व ३४३
५.५ तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : तुलनात्मक विवेचन ३४५
५.६ तीर्थंकर एवं बुद्ध का अन्तर ३५०
५.७ तीर्थंकर एवं अवतार की समानता ३५१
५.८ तीर्थंकर और अवतार में अन्तर ३५२
५.९ सिद्धों का स्वरूप ३५३
५.१० सिद्ध परमात्मा के ३१ गुण ३५६
५.११ सिद्ध परमात्मा के पन्द्रह भेद ३५८

## अध्याय ६ : त्रिविध आत्मा की अवधारणा एवं आध्यात्मिक विकास की अन्य अवधारणाएँ

६.१ लेश्या सिद्धान्त ३६१
६.२ कर्म विशुद्धि के दस स्थान (गुणश्रेणियाँ) ३७७
६.३ आध्यात्मिक विकास के सोपान गुणस्थान, परिभाषा एवं स्वरूप ३७९

## अध्याय ७ : आधुनिक मनोविज्ञान और त्रिविध आत्मा की अवधारणा

७.१ अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी व्यक्तित्व की अन्तरात्मा और बहिरात्मा से तुलना ३९९
७.२ फ्रायड की त्रिविध अहम् की अवधारणा और त्रिविध आत्मा की अवधारणा ४०१

## अध्याय ८ : उपसंहार

उपसंहार ४०७

सहायक ग्रन्थ सूची ४१७

# आठ आत्मा

द्रव्य आत्मा

ज्ञान आत्मा

क्रोध
मान
माया
लोभ
कषाय आत्मा

दर्शन आत्मा

योग आत्मा

चारित्र आत्मा

उपयोग आत्मा

वीर्य आत्मा

अध्याय १

# विषय प्रवेश

## १.१ जैनदर्शन में आत्मा का महत्त्व

जैनदर्शन आत्मवादी दर्शन है; अतः उसमें आत्मा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आत्मा ही एक चेतन तत्त्व है। चेतना लक्षण के द्वारा ही आत्मा के अस्तित्व का बोध होता है। जैन ग्रन्थों में आत्मा के लिए जीव, सत्त्व, प्राणी, भूत आदि पर्यायवाची शब्द भी उपलब्ध होते हैं। जैन आगमों में आत्मा शब्द के स्थान पर प्रायः जीव शब्द का प्रयोग अधिक किया गया है। किन्तु आत्मा शब्द के प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। आत्मा और जीव शब्द जैनदर्शन में एक ही अर्थ में गृहीत हैं, जबकि अन्य दर्शनों में जीव और आत्मा में अन्तर किया जाता है। वहाँ जीव शब्द का प्रयोग साधारण शरीरधारी प्राणियों के लिए होता है। उपनिषदों में तो आत्मा को ब्रह्म का पर्यायवाची माना गया है ('अयं आत्मा ब्रह्मः' –माण्डूक्य २)।

जैनदर्शन में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नवतत्त्वों में भी जीव (आत्मा) का मुख्य स्थान है। पंचास्तिकायों में भी जीवास्तिकाय और षड्द्रव्यों में भी आत्मद्रव्य को एक प्रमुख द्रव्य माना गया है।

आचारांगसूत्र का प्रारम्भ आत्मा की जिज्ञासा से ही होता है। उसमें कहा गया है कि कितने ही व्यक्तियों को यह ज्ञात नहीं होता है कि – "मैं कौन हूँ ?" "मैं कहाँ से आया हूँ ?"[1]

इस प्रकार उसमें आत्मज्ञान को साधक जीवन की प्राथमिक आवश्यकता बताया गया है। उसमें कहा गया है कि जो आत्मवादी होगा, वही लोकवादी अर्थात् संसार की सत्ता को मानने वाला

---

[1] आचारांग १/१/१/१ ।

होगा। जो लोकवादी होगा वही कर्मवादी होगा अर्थात् कर्मसिद्धान्त को मानेगा और जो कर्मवादी होगा वही क्रियावादी होगा अर्थात् आत्मा को कर्ता-भोक्ता मानेगा। वस्तुतः आत्मतत्त्व वह केन्द्र बिन्दु है, जिसके बिना शुभाशुभ का विवेक और धर्मसाधना सम्भव नहीं है। नैतिकता और धर्मसाधना दोनों ही आत्मसापेक्ष हैं; क्योंकि इच्छाओं एवं वासनाओं और विवेक के मध्य संघर्ष का द्रष्टा और चयनकर्ता कोई सचेतन आत्मतत्त्व ही हो सकता है। मात्र यही नहीं, ज्ञान और विज्ञान, धर्म और दर्शन सभी आत्माश्रित ही हैं, बिना आत्मा को स्वीकार किये इनका अस्तित्व ही नहीं रहता। ज्ञान और विज्ञान का समग्र विकास आत्मतत्त्व अर्थात् किसी चेतन तत्त्व के आधार पर ही होता है। विश्व व्यवस्था में से यदि चेतना और जीवन को अलग कर दिया जाय तो विश्व का कोई अर्थ ही नहीं रहता। इस प्रश्न पर चाहे विवाद हो सकता है कि आत्मा नित्य है या नहीं? किन्तु आत्मा या चेतन सत्ता को नकारने पर समस्त ज्ञान और विज्ञान भी अपना अस्तित्व खो देंगे। चाहे विविध दर्शनों में आत्मस्वरूप एवं आत्मा के लक्षणों को लेकर मतभेद रहा हो, किन्तु किसी ने भी उसके अस्तित्व को नहीं नकारा है। अनात्मवादी दर्शनों में जो आत्मा का निषेध किया गया है, वह भी केवल इस अपेक्षा से है कि आत्मा नित्य या स्वतन्त्र तत्त्व है या नहीं? भारतीय दर्शनों में चाहे चार्वाक ने नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया हो, किन्तु उसने भी आत्मा को पूर्णतः नहीं नकारा है। भौतिक तत्त्वों से उसकी उत्पत्ति बता कर उसकी सत्ता को तो उसने अवश्य स्वीकार किया है। इसी प्रकार अनात्मवादी बौद्धदर्शन में कूटस्थ नित्य आत्मा का चाहे निषेध किया हो, किन्तु परिवर्तनशील चित्त की सत्ता को तो बौद्धाचार्यों ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने इस चैतसिक तत्त्व को आलयविज्ञान, निवृतचित्त, परावर्तविज्ञान, अनास्रवधातु (आवरण रहित) अतर्कगम्य, कुशल, ध्रुव, आनन्दमय विमुक्तिकाय और धर्मकाय कहा है। आधुनिक विज्ञान भी चाहे नित्य और स्वतन्त्र आत्मतत्त्व को स्वीकार न करता हो; वह भी विश्व में जीवन और चेतन सत्ता के अस्तित्व को नहीं नकारता है। क्योंकि चेतन आत्मसत्ता को नकारने पर तो समस्त ज्ञान, विज्ञान, धर्म और दर्शन अपना आधार ही खो देंगे।

जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है, वह तो स्पष्ट रूप से एक आत्मवादी दर्शन है। उसमें जो पंचास्तिकाय एवं षड्द्रव्यों की चर्चा है, उसमें जीवास्तिकाय या जीवद्रव्य को ही प्रधान माना गया है। आगे हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य की अवधारणा में आत्मा की क्या स्थिति है?

## १.२ जैनदर्शन में पंचास्तिकाय एवं षड्द्रव्यों की अवधारणा

जैनदर्शन में जगत् के मूलभूत घटक के रूप में दो अवधारणाएँ उपलब्ध होती हैं – १. पंचास्तिकाय और २. षड्द्रव्य।

प्राचीन जैनआगमों में भगवतीसूत्र,[२] ऋषिभाषित[३] आदि में लोक को पंचास्तिकाय रूप कहा है। जबकि परवर्ती ग्रन्थों में लोक को षड्द्रव्यात्मक कहा गया है। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य की अवधारणा में विशेष अन्तर नहीं है। पंचास्तिकाय में काल को जोड़कर षड्द्रव्यों की अवधारणा बनी है। धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय रूप माने गये हैं। छठे कालद्रव्य को अनस्तिकाय कहा गया है। इस प्रकार पाँच अस्तिकायों में अनस्तिकाय के रूप में काल को जोड़कर षड्द्रव्यों की अवधारणा बनी। इस प्रकार षड्द्रव्यों में पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय रूप और काल को अनस्तिकाय रूप माना गया है। अतः षड्द्रव्यों की अवधारणा के विवेचन के पूर्व अस्तिकाय की अवधारणा को समझ लेना आवश्यक है। अस्तिकाय शब्द दो शब्दों से बना है– अस्ति+काय। अस्ति का अर्थ अस्तित्व या सत्ता है और काय शब्द का अर्थ सामान्य रूप से शरीर किया जा सकता है। जैनदर्शन में काय शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। प्रदेशप्रचयत्व का एक अर्थ प्रदेश समूह भी होता है। इस अपेक्षा से जिन द्रव्यों की संरचना प्रदेश समूह से हुई है वे अस्तिकाय हैं। सामान्य दृष्टि से वे सभी द्रव्य जिनका विस्तार क्षेत्र होता है अथवा जो विस्तारयुक्त हैं वे अस्तिकाय कहलाते हैं। इस अपेक्षा से

---

[२] अंगसुत्ताणि भाग २ भगवई २/१०/१२४। –जैन विश्व भारती, लाडनू।

[३] ऋषिभाषित, अध्ययन ३१ पार्श्व।

अस्तिकाय द्रव्यों को लोक में विस्तृत माना गया है। धर्म और अधर्म को सम्पूर्ण लोक में व्याप्त कहा गया है। जीव और पुद्गल अनेक द्रव्य हैं। वे लोक के एक भाग में व्याप्त होकर रहे हुए हैं। आकाश लोक एवं अलोक में व्याप्त होकर रहा हुआ है। इस प्रकार अस्तिकाय उन द्रव्यों को कहते हैं, जो विस्तार से युक्त हैं।

सिद्धसेनगणि ने तत्त्वार्थभाष्य की टीका में अस्तिकाय शब्द की एक नवीन दृष्टि से व्याख्या की है और जिन द्रव्यों में मात्र परिवर्तनशीलता ही है; वे अनस्तिकाय हैं। वे लिखते हैं कि अस्ति शब्द ध्रौव्यता का सूचक है और काय शब्द परिवर्तनता का सूचक है।[४] इस प्रकार जिन द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण पाया जाता है वे अस्तिकाय हैं। किन्तु जिनमें केवल परिवर्तनशीलता या उत्पाद व्यय ही है वे अनस्तिकाय हैं। इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पाँच अस्तिकाय हैं और काल अनस्तिकाय है। इस परिभाषा के अनुसार जो द्रव्य परिणामी नित्य हैं; वे अस्तिकाय हैं और जिन द्रव्यों में मात्र परिवर्तनशीलता ही है; वे अनस्तिकाय हैं। काल केवल परिणमनशील या परिवर्तनशील है। इस अपेक्षा से उसे अनस्तिकाय कहा गया है; जबकि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव परिणामी नित्य हैं; इसलिये उन्हें अस्तिकाय कहा गया है।

एक अन्य अपेक्षा से अस्तिकाय शब्द का अर्थ अवयव युक्त माना गया है। जो द्रव्य सावयव है अर्थात् जो स्कन्धरूप हैं वे अस्तिकाय हैं और जो निरायवी हैं या मात्र प्रदेशरूप ही हैं वे अनस्तिकाय हैं।[५] यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पुद्गल द्रव्य का अन्तिम घटक परमाणु निरंश होता है, उसका कोई अवयव नहीं होता तो क्या उसे अनस्तिकाय कहा जाय? इस प्रश्न के उत्तर में जैनाचार्यों का कहना हैं कि चाहे परमाणु, परमाणु रूप में निरवयव हो, किन्तु वह स्कन्धरूप में परिणत होकर सावयवत्व को प्राप्त होता है। इसलिए उपचार से परमाणु को भी अस्तिकाय कहा गया है। विस्तार या प्रदेश प्रचयत्त्व दो प्रकार का होता है :

१. ऊर्ध्वप्रचय; और २. तिर्यक्प्रचय।

---

[४] 'आर्हत् दृष्टि' पृ. ६० । -समणी मंगलप्रज्ञा ।

[५] द्रव्यानुयोग भाग १; भूमिका, पृ. ३३ ।

अस्तिकाय शब्द की चर्चा में जिस प्रदेशप्रचयत्व की बात कही जाती है उसमें ऊर्ध्व और तिर्यक् दोनों प्रकार का प्रचयत्व होता है अर्थात् उनमें लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई तीनों ही पाई जाती हैं। जैनदर्शन की यह विशेषता है कि वह न केवल मूर्त पुद्गल द्रव्य में ही प्रदेशप्रचयत्व मानता है अपितु अमूर्त धर्म, अधर्म और जीवादि में भी प्रदेशप्रचयत्व मानता है। काल द्रव्य, जिसे अनस्तिकाय माना गया है उसमें भी प्रदेशप्रचयत्व तो है किन्तु वह मात्र ऊर्ध्व प्रचयत्व है। दूसरे कालाणु स्कन्धरूप में भी परिणत नहीं होते हैं। वे केवल सीधी रेखा में एक-दूसरे से स्वतन्त्र होकर स्थित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य की अवधारणाओं को परस्पर समन्वित करने का प्रयास किया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मान्यता परवर्ती काल में ही मिली है। कर्मास्रव[६] के भाष्यमान्य पाठ का "कालश्चेत्येके" कथन यही सूचित करता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक कुछ आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकारते थे, किन्तु कुछ आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं स्वीकारते थे। भगवतीसूत्र में भी काल को जीव और पुद्गल का पर्याय बताया गया है।[७] यहाँ हम इन सब विवादों की गहराई में न जाकर केवल यह चर्चा करेंगे कि जैनदर्शन में स्वीकृत षड्द्रव्य कौन-कौन से हैं और उनके लक्षण क्या हैं? डॉ. सागरमल जैन एवं अन्य कुछ विद्वानों की मान्यता है कि जैनदर्शन की मूल अवधारणा अस्तिकाय की है।[८] द्रव्य की अवधारणा तो उसने न्याय-वैशेषिक दर्शन से ग्रहण की है और उसे अपने प्राचीन अस्तिकाय की अवधारणा के साथ समाहित किया है। द्रव्य शब्द का अर्थ "द्रवति इति द्रव्यं" अर्थात् जो परिणमनशील है या परिवर्तनशील है वही द्रव्य है। दूसरे शब्दों में जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य घटित होता है जो गुण और पर्यायों से युक्त है वही द्रव्य कहा जाता है। जैनदर्शन निम्न छः द्रव्यों को स्वीकार करता है -

---

६ कर्मास्रव, ५/३८ ।

७ भगवई (लाडनूं) १३/४/५६ ।

८ 'डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ' पृ. १०६-१०७ ।

१. धर्म; २. अधर्म; ३. आकाश;
४. जीव; ५. पुद्गल और ६. काल।

यहाँ हम इन पंचास्तिकायों एवं षड्द्रव्यों का अति संक्षेप विवेचन करेंगे। हमारे शोध प्रबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य तो जीव द्रव्य ही है। इसलिये यहाँ अन्य द्रव्यों की विस्तृत विवेचना अपेक्षित नहीं है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकायों में काल को जोड़कर ही षड्द्रव्यों की अवधारणा बनी है। अतः पहले पंचास्तिकायों और अन्त में कालद्रव्य का विवेचन करेंगे।

## १. धर्मास्तिकाय

पंचास्तिकायों में प्रथम स्थान धर्मास्तिकाय का है। सामान्यतः धर्म शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं – आत्मशुद्धि की साधनारूप धर्म, वस्तुस्वभाव (वत्थु सहावो धम्मो), उपासना, सामाजिक कर्त्तव्यरूप धर्म आदि हैं; किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में धर्म शब्द सर्वथा भिन्न अर्थ में व्यवहृत हुआ है। "गतिसहायोधर्मः, गमन प्रवृतानां जीव पुद्गलानां गतौ उदासीनभावेन अनन्य सहायकं द्रव्यं धर्मास्तिकायः, यथा–मत्स्यानां जलम्" अर्थात् जीव और पुद्गल द्रव्य को गति करने में जो सहायक तत्त्व होता है उसे धमास्तिकाय कहा है। जीव और पुद्गल की गति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन तक में यह धर्मास्तिकाय सहयोगी होता है। गति करने में उपादान कारण तो जीव या पुद्गल स्वयं ही है, परन्तु निमित्त कारण के रूप में धर्मास्तिकाय की अपनी महत्ता होती है। इसके बिना जीव या पुद्गल गति करने में असमर्थ है। जैसे मछली में गति करने की स्वतः शक्ति होती है परन्तु जल के अभाव में वह गति नहीं कर सकती। जल में स्वतः गति करने की शक्ति नहीं होती। फिर भी जल की सहायता के बिना मछली तैर नहीं सकती। वैसे ही जीव और पुद्गल की गति में धर्मद्रव्य (धर्मास्तिकाय) का अनिवार्य रूप से सहयोग उपलब्ध होता है। इसी के सहयोग से जीव या पुद्गल गति क्रिया कर सकता है। फिर भी यह धर्मद्रव्य निष्क्रिय है। यह किसी को गति करने की प्रेरणा नहीं देता और कोई उसका सहयोग ले तो मना भी नहीं करता। माध्यस्थ भाव से यह सहयोगी होता है। अतः धर्मास्तिकाय को जीव और पुद्गल की गति करने

में उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी के रूप में स्वीकृत किया गया है। डॉ. सागरमल जैन[६] लिखते हैं कि धर्मद्रव्य प्रसारित स्वभाव वाला होकर भी अमूर्त (अरूपी) और अचेतन है।[६] धर्मद्रव्य एक और अखण्ड द्रव्य है। जहाँ जीवात्माएँ और पुद्गल अनेक हैं वहाँ धर्म एक ही है। यह द्रव्य असंख्य प्रदेशी माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसकी गति व लक्षण की चर्चा उपलब्ध होती है। "गई लक्खणोउ धम्मो" अर्थात् धर्मास्तिकाय गति लक्षण वाला होता है।[१०] इसका विस्तृत विवरण भगवतीसूत्र में भी मिलता है। उसमें कहा गया है कि जीवों का आना, जाना, बोलना और पलकों का झपकना इस प्रकार मन, वचन और काया की प्रवृत्तियाँ धर्मास्तिकाय के सहयोग से होती हैं।[११] आचार्य नेमिचन्द्र द्रव्यसंग्रह में धर्मद्रव्य का लक्षण बताते हुए लिखते हैं कि जीव और पुद्गल की गति में सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय है।[१२] यह धर्मास्तिकाय लोक व्यापी है। अलोक में यह नहीं है। इसलिए सिद्धात्माएँ भी लोक के अग्रभाग में स्थित हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में इसे अनादि एवं अपर्यवसित (नित्य) कहा गया है।[१३]

आधुनिक वैज्ञानिकों ने इसे ईथर नामक एक अदृश्य पदार्थ स्वीकार किया है। प्रो. जी. आर. जैन ने "Cosmology Old and New" में धर्मद्रव्य के समरूप ईथर को अभौतिक, अविभाज्य, अखण्ड आकाश के समान स्व में स्थित तथा गति का सहयोगी माना है।[१४]

## २. अधर्मास्तिकाय

अधर्म द्रव्य को भी अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत माना जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में अधर्म को स्थिति-सहायक द्रव्य माना है।[१५]

---

[६] 'डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ' पृ. १०६-१०७।

[१०] उत्तराध्ययनसूत्र, २८/९।

[११] भगवई १३/४/५६ ।

[१२] बृहद्द्रव्य संग्रह, गा. १७ ।

[१३] उत्तराध्ययनसूत्र ३६/८ ।

[१४] उत्तराध्ययनसूत्र तृतीय भाग पृ. १८५ । -आचार्य हस्तीमलजी ।

[१५] 'अहम्मो ठाणलक्खणो।' -उत्तराध्ययनसूत्र २८/९ ।

अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों की स्थिति (ठहरने) में सहायक होता है। जिस प्रकार धूप से थका मुसाफिर वृक्ष की छाया में ठहर जाता है; वैसे ही अधर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गल की अवस्थिति में सहायक होता है। धर्मद्रव्य की तरह ही अधर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन भाव से सहयोगी होता है। धर्मास्तिकाय के बिना जीव और पुद्गल की गति सम्भव नहीं है। यह अधर्म द्रव्य दृष्टिगोचर नहीं होता है क्योंकि यह अमूर्तद्रव्य है। आगम साहित्य में भी धर्म और अधर्म द्रव्यों के अस्तित्व एवं उनके लक्षणों का उल्लेख मिलता है। इन दोनों द्रव्यों के अभाव में जीव तथा पुद्गल की गति और स्थिति सम्भव नहीं है। अलोकाकाश में धर्म एवं अधर्म द्रव्य का अभाव होता है। अतः उसमें जीव एवं पुद्गल की गति भी नहीं है। क्षेत्र की दृष्टि से यह द्रव्य लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त है। डॉ. सामगरमल जैन लिखते हैं कि जैसे वैज्ञानिक दृष्टि से गुरुत्वाकर्षण आकाश में स्थित पुद्गल पिण्डों को नियंत्रित करता है; वैसे ही यह अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल की गति का नियमन कर उसे विराम देता है।[१६] संख्या की दृष्टि से अधर्म द्रव्य को एक और अखण्ड द्रव्य माना गया है। प्रदेशप्रचयत्व की दृष्टि से इसका विस्तार क्षेत्र लोक तक सीमित होने से इसे असंख्य प्रदेशी माना जाता है। क्योंकि लोक चाहे कितना ही विशाल हो, सीमित ही है। इसका विखण्डन असम्भव है। धर्म और अधर्म द्रव्य में देश-प्रदेश आदि की कल्पना केवल वैचारिक स्तर पर की जा सकती है। अधर्म द्रव्य सत्ता के आधार पर नित्य है। यह द्रव्य एक, अखण्ड, स्वतन्त्र एवं वस्तुनिष्ठ सत् है। काल की दृष्टि से यह अनादि, अनन्त और शाश्वत है। भाव (स्वरूप) की दृष्टि से यह अमूर्त अर्थात् वर्ण, गन्ध से रहित अभौतिक और अजीव एवं अगतिशील है। गुण (लक्षण) की दृष्टि से यह स्थिति में सहयोगी है। अधर्मास्तिकाय के अभाव में स्थिर भाव अर्थात् बैठना, खड़ा रहना, सोना, मौन करना, मन को स्थिर करना, शरीर को स्पन्दन से रहित बनाना, निर्निमेष नयन होना आदि क्रियाएँ असम्भव हैं। इस विश्व में गति और स्थिति दोनों हैं। स्थिति में सहायक बनना अधर्मास्तिकाय का लक्षण है।

---

[१६] 'डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ' पृ. १०६ ।

## ३. आकाशास्तिकाय

जैनदर्शन में पंचास्तिकायों अथवा षड्द्रव्यों में तीसरे द्रव्य के रूप में आकाशास्तिकाय का उल्लेख मिलता है। भगवतीसूत्र में बताया गया है कि "अवगाह लक्खणेणं आगासत्थिकाए" अर्थात् अवकाश देने वाले द्रव्य को आकाश कहते हैं। आकाश अवगाह लक्षण वाला है।[१७] तत्त्वार्थसूत्र में भी बताया है- "आकाशस्यावगाहः"। इस सूत्र में आकाश के लक्षण की चर्चा मिलती है।[१८] उत्तराध्ययनसूत्र में भी आकाश द्रव्य का लक्षण भाजन के रूप में मिलता है - "भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं" अर्थात् आकाशद्रव्य सर्वद्रव्यों के लिए भाजन रूप है। उसका लक्षण अवकाश देना है।[१९] आकाश अमूर्तद्रव्य होते हुए भी आकाश के अस्तित्व को अनुभव किया जा सकता है। चार्वाक को छोड़कर भारतीय दार्शनिकों ने आकाश के अस्तित्व को माना है। संसार के सभी पदार्थों को आश्रय या स्थान देने वाला तत्त्व आकाश ही है। द्रव्य की दृष्टि से आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। क्षेत्र की दृष्टि से यह द्रव्य लोकालोक परिमाण है अर्थात् असीम और अनन्त विस्तार वाला है। यह सर्वव्यापी है। असीम होने से इसके प्रदेशों की संख्या अनन्त है। काल की दृष्टि से आकाश अनादि और अनन्त (शाश्वत) है। भाव की दृष्टि से आकाश अमूर्त अर्थात् वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित है। आकाश अभौतिक और अचेतन है, अगतिशील है। आकाश द्रव्य भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त लक्षण वाला है। पूर्व पयार्य का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होते हुए भी यह अविच्छिन्न द्रव्य है। इसलिए आकाश द्रव्य परिणामी नित्य माना जाता है।

## ४. पुद्गलास्तिकाय

जैनदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द "पुद्गल" है। जैनागमों में

---

[१७] भगवई १३/४/५८ ।

[१८] तत्त्वार्थसूत्र ५/१८ ।

[१९] 'भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं ।। ६ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २८ ।

भगवतीसूत्र[२०] में भी पुद्गल शब्द को आत्मा (जीव) का वाचक माना गया है। दृष्यमान जगत् की सारी लीला का मूल सूत्रधार पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल द्रव्य के लक्षण वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि हैं। आधुनिक विज्ञान ने इसे (Matter) और न्यायवैशेषिकों ने इसे भौतिक जड़ तत्त्व कहा है। छः द्रव्यों में जीव को छोड़कर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ये पाँचों द्रव्य अजीव हैं। पुद्गल चैतन्य गुण से रहित है। पुद्गलास्तिकाय के सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश को परमाणु कहते हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्त और अचेतन द्रव्य है। धर्म, अधर्म और आकाश ये एक-एक द्रव्य हैं। किन्तु पुद्गल अनेक द्रव्य है। अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर स्कन्ध की रचना करते हैं और उनसे ही भौतिक जगत् की सभी वस्तुओं का निर्माण होता है। जैनाचार्यों ने पुद्गल द्रव्य को दो रूपों में विभाजित किया है :

१. स्कन्ध और २. परमाणु।

विभिन्न परमाणुओं के संयोग से ही स्कन्ध बनते हैं। पुद्गल द्रव्य के अन्तिम घटक को परमाणु कहते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र[२१] एवं नवतत्त्व[२२] में पुद्गलास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार भेद माने गये हैं। जैन सिद्धान्तदीपिका में बताया हैं कि "स्पर्शन-रस-गन्ध-वर्णवान् पुद्गलः" अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णयुक्त द्रव्य पुद्गल हैं। इन लाक्षणिक गुणों अर्थात् वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि के कारण ही पुद्गल मूर्त (इन्द्रिय ग्राह्य) है। पुद्गल में ही ये गुण पाये जाते हैं - अन्य पाँच द्रव्यों में नहीं होते हैं। शेष पाँच द्रव्य अमूर्त (अरूपी) हैं। पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जिसकी इन्द्रियानुभूति की जा सकती है।

---

२० (क) 'संद्दथयार उज्जोग, पभा छाया तवेहिअ ।
वण्ण गंध रसा फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ।। ११ ।।' -नवतत्त्वप्रकरण ।
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र २८/१२ ।
(ग) बृहद्द्रव्यसंग्रह १६ ।

२१ 'खंधा य खंध देशा य तप्पएसा तहेव य ।
परमाणुणो य बोद्धव्वा, रुविणो य चउव्विहा ।। १० ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३६ ।

२२ 'धम्मा धम्मागासा, तिय-तिय भेया तहेव अद्धा य ।
खंधा देश पएसा, परमाणु अजीव चउदसहा ।। ८ ।।' -नवतत्त्वप्रकरण ।

## पुद्गल के लाक्षणिक गुणों के पर्याय

वर्ण के पाँच प्रकार हैं- काला, पीला, नीला, लाल और श्वेत। गन्ध के दो प्रकार हैं- सुगन्ध और दुर्गन्ध। रस के पाँच प्रकार हैं- मीठा, कटु, खट्टा, कसैला और तिक्त। स्पर्श के आठ प्रकार हैं- शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, गुरु, लघु, मृदु और कठोर। इस प्रकार इन चार लाक्षणिक गुणों की बीस पर्यायें हैं। जिस प्रकार गुणों की पर्याये होती हैं वैसे ही इन पर्यायों की अनन्त पर्यायें होती हैं। पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है। किन्तु पयार्य रूप से अशाश्वत है। किन्तु अन्य दर्शनों में पुद्गल शब्द के स्थान पर प्रकृति, परमाणु आदि शब्द पाये जाते हैं। बौद्धदर्शन पुद्गल शब्द को जीव के अर्थ में स्वीकार करता है। उसमें "पोग्गलं पञ्ञति" नामक एक ग्रन्थ है, जिसमें जीवों के प्रकारों की चर्चा है। भगवतीसूत्र[२३] में कुछ स्थानों पर पुद्गल शब्द को जीव का वाचक माना गया है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उसे भौतिक तत्त्व का वाचक माना है। उत्तराध्ययनसूत्र[२४] के अनुसार पुद्गलस्तिकाय के चार भेद होते हैं : १. स्कन्ध; २. देश; ३. प्रदेश और ४. परमाणु।

परमाणु जब सम्पृक्त होते हैं तो वे स्कन्ध कहलाते हैं और स्वतन्त्र होते हैं तो परमाणु कहलाते हैं।

१. स्कन्ध : पुद्गल स्कन्ध दो परमाणु से लेकर अनन्त परमाणु के संयोग से निर्मित होते हैं। वे अनन्त हैं।
२. देश : पुद्गल का एक अंश देश कहलाता है।
३. प्रदेश : स्कन्ध के अविभाज्य अंश को प्रदेश कहा जाता है।
४. परमाणु : पुद्गलास्तिकाय के स्कन्ध का निर्माण परमाणु के संयोग-वियोग से होता है। फिर भी परमाणु अपना स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व भी रखता है। पुद्गल संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। वे द्रव्य की अपेक्षा से अनन्त द्रव्य एवं क्षेत्र की दृष्टि से सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं। पुद्गल काल की दृष्टि से अनादि, अनन्त हैं। भाव की अपेक्षा से रूप,

---

[२३] अंगसूत्ताणि, खण्ड २, १३/४/५६ । -भगवई (लाडनूं) ।
[२४] उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१० ।

वर्णादि से युक्त और अजीव हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में पुद्गल के लक्षण की चर्चा निम्न रूप से उपलब्ध है- शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये सब पुद्गल के लक्षण हैं। बृहत्द्रव्यसंग्रह एवं नवतत्त्वप्रकरण में भी पुद्गल द्रव्य के ये ही लक्षण प्राप्त होते हैं।

## ५. जीवास्तिकाय

उत्तराध्ययनसूत्र[२५] में जीव के स्वरूप की चर्चा निम्न रूप से प्राप्त होती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप वीर्य, उपयोग आदि जीव के लक्षण हैं। कर्मास्रव[२६] में जीव के लक्षण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि – "उपयोगो जीव लक्षणं" अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग (चेतना) है। उसमें ज्ञान, दर्शनादि गुणों को उपयोग के अन्तर्गत स्वीकार किया है। कुछ ग्रन्थों में जीव के लक्षण का निरूपण करते हुए कहा गया है कि "जीवति प्राणान् धारयति इति जीवः" अर्थात् जो जीवन जीता है और प्राणों को धारण करता है वह जीव द्रव्य कहलाता है। भगवतीसूत्र में प्राण, सत्व, विज्ञ, भूत, वेत्ता, चेता, आत्मादि जीव के पर्यायवाची नाम प्राप्त होते हैं।[२७] उत्तराध्ययनसूत्र में जीव को कर्ता और भोक्ता माना गया है।[२८] महापुराण में जीव के अनेक नाम उपलब्ध हैं, यथा प्राणी, जीव, क्षेत्रज्ञ, अन्तरात्मा, ज्ञानी, पुरुष आदि। भारतीय दर्शनों में भी आत्मा के लिए जीव शब्द प्रयुक्त हुआ है। फिर भी जहाँ जीव शब्द प्रायः संसारी शरीरधारी आत्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है वहीं आत्मा शब्द शुद्ध चेतना के लिए प्रयुक्त हुआ है।[२९] सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु यही चेतन तत्त्व रहा है।

---

२५ 'नाणं च दंसणं चेव, चरित्त च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ।। ११ ।।' –उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २८ ।

२६ कर्मास्रव २/८ ।

२७ भगवतीसूत्र १/८/१० ।

२८ 'अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिओ ।। २७।।' –उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २० ।

२९ भगवतीसूत्र १३/७/४९५

## उपनिषद्

आत्मा के विभिन्न स्तरों के उल्लेख हमें उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा के अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश और आनन्दमयकोश - ऐसे पाँच स्तरों का विवेचन उपलब्ध होता है;[३०] जो क्रमशः सूक्ष्म-सूक्ष्म हैं। उपनिषदों में आत्मा को देह से विलक्षण, मन से भी भिन्न, विभु, व्यापक और अपरिणामी भी बताया गया है।[३१] उसे वचन से अगम्य कहते हुए नेति-नेति के द्वारा बताया गया है।

## सांख्यदर्शन

सांख्यदर्शन में आत्मा को नित्य, निष्क्रिय, सर्वगत एवं चित्स्वरूप, अमूर्त, चेतन, अकर्ता, भोक्ता, निर्गुण और सूक्ष्म रूप माना गया है। सांख्यदर्शन में आत्मा के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है।[३२]

## न्यायदर्शन

न्यायदर्शन में जीव शब्द के स्थान पर आत्मा शब्द मिलता है। ईर्ष्या, द्वेष, प्रत्यय, सुख, दुःख, ज्ञानादि आत्मा के आगन्तुक लक्षण बताये गये हैं। ज्ञानादि को आत्मा का स्वभाव न मानकर उसका विभाव माना है।[३३]

## वेदान्तदर्शन

वेदान्त दार्शनिकों के अनुसार आत्मा एक है, किन्तु शरीरादि उपाधियों के कारण वह भिन्न प्रकार से दृष्टिगोचर होती है। यह दर्शन एकतत्त्ववादी है। ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् में निम्न प्रकार से बताया गया है - "एक एवं ही भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः"

अर्थात् एक ही आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रूप में अभिव्यक्त होती है।[३४]

---

[३०] तैत्तिरीयोपनिषद् २/१-५ ।

[३१] केनोपनिषद् १/४/६ ।

[३२] श्रावकाचार (अमितगति) ४/३५ ।

[३३] (क) पंचास्तिकाय ४८ ।
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक १/१, ६ ।

[३४] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १/४/३०, ३३ एवं ३४ ।

## बौद्धदर्शन

बौद्धदर्शन को अनात्मवादी दर्शन कहा जाता है। आत्मा के अस्तित्व को वे वस्तुसत्य न मानकर केवल काल्पनिक संज्ञा मानते हैं। वह पंच स्कन्धों का समूह मात्र है और प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।

## जैनदर्शन

जैनदर्शन में जीवद्रव्य को अस्तिकाय के अन्तर्गत माना गया है। जैनदर्शन ने आत्मा को परिणामी नित्य माना है। आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप को अखण्ड रखती हुई विभिन्न अवस्थाओं (पर्यायों) में परिणत होती रहती है। वह न अणु है और न विभु है, अपितु स्वदेह परिमाण है। जैन दार्शनिकों ने जीव द्रव्य का लक्षण चेतना (उपयोग) को माना है। जीवद्रव्य के सन्दर्भ में डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि जैनदर्शन की विशेषता यह है कि वह जीव को एक अखण्ड द्रव्य न मानकर अनेक द्रव्य मानता है। उसके अनुसार प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता है और विश्व में जीवों की संख्या अनन्त है।

जीवास्तिकाय का विस्तृत विवेचन 'जैनदर्शन मनन और मीमांसा', आत्ममीमांसा' और 'जैन सिद्धान्तदीपिका' आदि में उपलब्ध होता है। जीवों के भेदों की विस्तृत चर्चा हम षड्जीवनिकाय के अन्तर्गत आगे करेंगे।

## काल

उत्तराध्ययनसूत्र में षड्द्रव्यों की चर्चा में काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है एवं उसे वर्तना लक्षणवाला कहा गया है।[३५] काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के प्रश्न पर जैनदर्शन में मतैक्य प्राप्त नहीं होता। स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में काल के अस्तित्व को मानने सम्बन्धी यह मतभेद लगभग छठी शती तक चलता रहा है। यद्यपि पंचास्तिकायों में काल को स्वीकार नहीं किया है, किन्तु षड्द्रव्यों के अन्तर्गत कालद्रव्य को स्वीकार किया गया है। इस जगत् में आकाश

---

[३५] 'वत्तणालक्खणो कालो'। —उत्तराध्ययनसूत्र २८/१०।

और काल के सम्बन्ध में सामान्य रूप से सभी दर्शनों में चर्चा उपलब्ध होती है। आकाश (Space) और काल (Time) की अवधारणाएँ वैज्ञानिक धरातल पर भी विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार ही नहीं अपितु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी वे आवश्यक सिद्ध होती हैं। 'काल' के पयार्यवाची शब्द भी उपलब्ध होते हैं। जैनदर्शन की द्रव्यमीमांसा में 'काल' का पर्यायवाची शब्द 'समय' मिलता है। अनुयोगद्वारसूत्र में समय को काल कहा है।[३६] श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानों में एकमत है कि काल अस्तिकाय नहीं है; क्योंकि कालद्रव्य में प्रदेशप्रचयत्व अर्थात् विस्तार गुण नहीं होता। काल में वर्तमान समय का महत्त्व होता है – भूत व्यतीत हो चुका है और भविष्य अनुत्पन्न होता है। कालद्रव्य का अतीत नष्ट होने के कारण इसका स्कन्ध नहीं बनता है। इसका तिर्यक् प्रचय भी नहीं होता। इस कारण काल की गणना अस्तिकायों के अन्तर्गत नहीं होती। अतः वह अस्तिकाय नहीं है। श्वेताम्बर आचार्यों ने काल को दो भागों में विभाजित किया है –

१. व्यवहारिक काल और २. नैश्चयिक काल।

व्यवहारिक काल को औपचारिक काल भी कहा जाता है। जैन सिद्धान्तदीपिका में आचार्य तुलसी लिखते हैं कि–

"कालश्च। जीवा-जीव पर्यायत्वात् औपचारिकद्रव्यमसौ इत्यस्य-प्रथग् ग्रहणम्। क्षणवर्तित्वान्न च अस्तिकायः"

अर्थात् काल, जीव और अजीव का पर्याय है। इस प्रकार यह औपचारिक द्रव्य है और उसे पाँचों अस्तिकाय द्रव्यों से अलग ग्रहण किया गया है। निश्चयदृष्टि से तो काल जीव और अजीव का पर्याय रूप है; किन्तु व्यवहारदृष्टि में काल द्रव्य है। काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है।[३७] तत्त्वार्थसूत्र में पण्डित सुखलालजी लिखते हैं कि "उपकारणं द्रव्यं" अर्थात् वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व – इन पाँच उपकारों के कारण काल द्रव्य की कोटि में आता है। उत्तराध्ययनसूत्र में

---

[३६] अनुयोगद्वारसूत्र १/१/३६।

[३७] 'जं जस्स आउगं खलु तं दसभागो समं विभइऊणं।
मज्झिल्लट्ठविभागो कुलगरकालं वियाणाहि ॥' –विशेषावश्यकभाष्य।

मुहूर्त, प्रहर, दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदि रूप व्यवहारिक काल लोकाकाश के एक भाग अर्थात् मनुष्य क्षेत्र तक ही है।[३८] व्यवहारिक काल को लोकाकाश तक सीमित होने के कारण असंख्य माना गया है। किन्तु निश्चय दृष्टि से तो काल अनन्त द्रव्य है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार भी काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने का मुख्य आधार यह है कि जिस प्रकार गति और स्थिति के निमित्तकारण धर्म और अधर्म द्रव्य हैं; उसी प्रकार जीव और अजीव द्रव्य के परिणत होने का भी कोई बाह्य निमित्त कारण अवश्य होता है और वह काल ही है। इसी अर्थ में काल स्वतन्त्र द्रव्य है। लोकाकाश में कालद्रव्य के निमित्त से ही परिणमन होता है। अलोकाकाश का परिणमन लोकाकाश की अपेक्षा से ही है। लोकाकाश में पर्याय परिवर्तन का सहकारी कारण काल है। बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति में बताया हैं कि –

"पदार्थ परिणतेर्यत्सहकारित्व सा वर्तना भण्यते।"

अर्थात् पर्यायरूप परिवर्तनों में प्रति समय में द्रव्य के ध्रौव्य का अनुभव होता है, वह वर्तना है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में कहा गया है कि – "नैश्चयिक दृष्टि से जो वर्तना लक्षणवाला द्रव्य कालाणु है; वही काल कहलाता है।"[३९] इस काल के निमित्त से द्रव्य में परिवर्तन भी होता है और अस्तित्व की ध्रुवता भी रहती है। अतः यह कालद्रव्य भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपुटी से युक्त माना गया है – "उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्।"

यह बात कालाणु पर भी लागू होती है। इसी परिणमन रूप कालाणु को द्रव्य स्वीकार किया है।[४०] द्रव्य की भूत एवं वर्तमानकालीन पर्यायों को व्यवहारिककाल की संज्ञा दी गई है। बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति में बताया है कि :

"तस्य पर्याय संबन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थितिः सा व्यवहारकालसंज्ञा भवति, न च पर्याय इत्यभिप्रायः।"

---

[३८] 'समएं समयखेतिए'। –उत्तराध्ययनसूत्र ३६/७।

[३९] तत्त्वार्थराजवार्तिक ५/२११।

[४०] तत्त्वार्थसूत्र ५/३०।

अर्थात् द्रव्य के पर्याय से सम्बन्ध रखनेवाली जो समय घटिका आदि रूप स्थिति है, वह स्थिति ही 'व्यावहारकाल' है; किन्तु जो द्रव्य की पर्याय है, वह काल नहीं है। अपितु उसके परिणमन क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि लक्षणों से जिसे जाना जाता है वह व्यावहारिककाल आदि और अन्त सहित होता है। किन्तु निश्चयकाल शाश्वत है और आदि अनन्त रहित है। व्यावहारिककाल स्वयं द्रव्य नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में नैश्चयिककाल को मात्र जीव और अजीव का पर्याय रूप माना गया है। दिगम्बर परम्परा में नैश्चयिक दृष्टि से काल को वस्तु सापेक्ष स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप में स्वीकृत किया गया है। कर्मास्रव और विशेषावश्यकभाष्य में काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं - इन दोनों मतों का उल्लेख प्राप्त है। जैनदर्शन में काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं - ये दोनों विचारधाराएँ विशेषावश्यकभाष्य अर्थात् विक्रम की सातवीं शती तक चलती रही हैं। इस प्रकार जैनदर्शन में पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही षड्द्रव्य की अवधारणा का विकास हुआ है और कालद्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता को कालान्तर में ही स्वीकार किया गया है।

## १.३.१ आत्मा का स्वरूप एवं लक्षण

आचारांगसूत्र में आत्मा के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है कि "जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया" अर्थात् जो विज्ञाता है वही आत्मा है, जो आत्मा है वही विज्ञाता है।[४१] आत्मा को परिभाषित करते हुए अभिधानराजेन्द्रकोश में कहा गया है कि "अतति इति आत्मा" जो गमन करती है, वही आत्मा है अर्थात् जो विभिन्न गतियों या योनियों में जन्म ग्रहण करती है वही आत्मा है।[४२] आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जो सर्वनयों (विचार-विकल्पों) से शून्य है, वही शुद्ध आत्मतत्त्व या समयसार है। वह केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त अर्थात् विशुद्ध

---

[४१] आचारांगसूत्र १/५/५/१०४ ।

[४२] 'अभिधानराजेन्द्रकोश', भाग २ पृ. १८८ ।

ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाववाली है।[४३] आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है कि विचार की विधाओं से रहित निर्विकल्प, स्वस्वभाव में स्थित, जो आत्मा (समयसार) है, वही अप्रमत्त पुरुषों के द्वारा अनुभूत है, वही विज्ञान है, वही पवित्र पुराण पुरुष है। उसे ज्ञाता, द्रष्टा आदि अनेक नामों से जाना जाता है।[४४]

चैतन्यतत्त्व के साथ-साथ आत्मा विवेकशील तत्त्व भी है। किसी चैतन्य सत्ता के द्वारा ही चिन्तन, मनन और शुभाशुभ का विवेक होता है। आत्मा के बिना शुभाशुभ का विवेक सम्भव नहीं है। वस्तुतः जिसमें विवेकपूर्वक आदर्श का अनुसरण करने की क्षमता है उसे ही आत्मा कहा जाता है।

आत्मा के स्वरूप को लेकर विभिन्न दार्शनिकों की विभिन्न मान्यताएँ हैं। योगीन्दुदेव ने 'परमात्मप्रकाश' में इन सभी मान्यताओं का निर्देश करते हुए उनका भी समन्वय किया है। वे लिखते हैं कि कई दार्शनिक अर्थात् नैयायिक, वेदान्ती और मीमांसक आत्मा को सर्वगत कहते हैं। चार्वाक आदि कुछ दार्शनिक आत्मा को जड़ कहते हैं। कई दार्शनिक उसे शून्य कहते हैं। योगीन्दुदेव की दृष्टि में ये सभी अवधारणाएँ अपेक्षा-विशेष पर आधारित हैं।[४५] यह आत्मा कर्म विवर्जित होकर अपने केवलज्ञान स्वभाव से लोक और अलोक सभी को जानती है। इस अपेक्षा से यह आत्मा सर्वगत है, ऐसा कहा जाता है। केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर इन्द्रियजन्य ज्ञान नाश को प्राप्त हो जाते हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान के अभाव की अपेक्षा से आत्मा को जड़ भी कहा जा सकता है। निर्विकल्प अवस्था के अन्दर आत्मा में कोई भी विकल्प शेष नहीं रहता है। वह सर्व दोषों से रहित होती है। इसलिए उसे शून्य भी कहा जा सकता है। कर्मों के कारण देह में स्थित होने से आत्मा को देह-परिमाण भी कहा गया है। इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों की जो अवधारणाएँ हैं; उन्हें सापेक्षिक रूप से ही सत्य कहा जा

---

[४३] 'समयसार', १८ ।

[४४] 'समयसारटीका', १५ पृ. ४१ ।

[४५] 'कि वि भणंति जिउ सव्वगउ जिउ जडु के वि भणंति ।
कि वि भणंति जिउ देह-समु सुण्णु वि के वि भणंति ।। ५० ।।' -परमात्मप्रकाश ।

सकता है।[४६]

'परमात्मप्रकाश' की गाथा ५६ की टीका के परिणामी आत्मा के सिद्धान्त में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य किस प्रकार घटित होता है, इसकी चर्चा की गई है। यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि संसारीजीवों में तो देव, मनुष्य, नारक आदि पर्याएँ होती हैं। उन पर्यायों की अपेक्षा से उनमें उत्पाद तथा व्यय माना जा सकता है;[४७] किन्तु सिद्धों में तो जन्म, मरण और शरीर धारण नहीं होता, अतः उनमें उत्पाद-व्यय कैसे घटित होगा ? उसके उत्तर में कहा गया है कि सिद्धों में अगुरू, लघु गुण की परिणति रूप अर्थ पर्याय है और उस अर्थ पर्याय में षट्गुणी हानि वृद्धि भी होती है। इस अर्थ पर्याय की अपेक्षा से सिद्धों में भी उत्पाद-व्यय कहा जाता है।[४८] पुनः संसार के सभी ज्ञेय पदार्थों का उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप परिणमन होता है और वे सभी पदार्थ सिद्धों के ज्ञानगोचर हैं। ज्ञान की परिणति ज्ञेयाकार होती है। ज्ञेय पदार्थों में उत्पाद-व्यय होने पर वह ज्ञान में प्रतिभाषित होता है, क्योंकि ज्ञान ज्ञेयाकार है। इसीलिए सिद्धों के ज्ञान में भी ज्ञेय पदार्थों की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय घटित होता है। अतः सिद्धों में अन्य द्रव्यों के समान ही उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य मानने में कोई कठिनाई नहीं है। ज्ञान आत्मा का गुण है और उसे द्रव्य, गुण और पर्याय से युक्त कहा गया है। ज्ञेय पदार्थों में घटित होने वाला उत्पाद-व्यय ज्ञान-गुण में भी घटित होता है। द्रव्य और गुण में भी कथंचित् अभेद है। अतः सिद्धों के ज्ञान में भी ज्ञेय की अपेक्षा से परिणमन अवश्य होता है और इसी अपेक्षा से उनमें भी उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य माना गया है। पुनः सिद्धावस्था भी आत्मा की एक पर्याय है और वह पर्याय उत्पन्न हुई है। सिद्धात्मा में संसारी पर्यायों का नाश हुआ है और

---

[४६] 'अप्पा जोइय सव्व-गउ अप्पा जडु वि वियाणि ।
अप्पा देह-पमाणु मुणि अप्पा सुण्णु वियाणि ।। ५१ ।।' -वही ।

[४७] 'अप्पा जणियउ केण ण वि अप्पें जणिउ ण कोइ ।
दव्व-सहावें णिचु मुणि पज्जउ विणससइ होइ ।। ५६ ।।' -वही ।

[४८] 'तं परियाणहि दव्वु तुहुँ जं गुण-पज्जय-जुत्तु ।
सह-भुव जाणहि ताहँ गुण कम-भुव पज्जउ वुत्तु ।। ५७ ।।' -परमात्मप्रकाश ।

सिद्ध पर्याय का उत्पाद हुआ है। उसकी अपेक्षा से भी सिद्धों में भी उत्पाद-व्यय घटित होता है।[४९]

## आत्मा एक स्वतन्त्र तत्त्व है

जैनदर्शन में आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व माना गया है। उसके अनुसार कभी जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती है। सूत्रकृतांग की टीका में जड़ से चेतन की उत्पत्ति मानने सम्बन्धी मान्यता का निराकरण किया गया है। सूत्रकृतांग की टीका में शीलांकाचार्य लिखते हैं- "भूत समुदाय स्वतन्त्रधर्मी है; उसका गुण चैतन्य नहीं हो सकता है; जैसे रूक्ष बालुका-कणों के समुदाय में तेल का अभाव होने से उनको पैरने पर तेल की उत्पत्ति नहीं होती है; वैसे ही जड़ तत्त्वों में चेतना लक्षण का अभाव होने से उनके संयोग से भी चेतन गुण प्रकट नहीं हो सकता। अतः चैतन्य आत्मा का ही गुण हो सकता है। जड़ भूतों से चैतन्य लक्षणयुक्त आत्मतत्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती।"[५०] भगवद्गीता में भी कहा गया है कि असत् से सत् का प्रादुर्भाव नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता। यदि जड़ भूतों में चेतना असत् है तो फिर उनमें से चेतना की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।[५१]

आत्मा की जड़ से भिन्नता सिद्ध करने के लिए शीलांकाचार्य एक दूसरी युक्ति भी प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं कि पाँचों इन्द्रियों के विषय अलग-अलग हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का

---

[४९] (क) 'अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुँ गुण पुणु दंसणु णाणु ।
पज्जय चउ-गइ-भाव तणु कम्म-विणिम्मिय जाणु ।। ५८ ।।' -परमात्मप्रकाश ।
(ख) 'अप्पा कम्म-विवज्जियउ केवल-णाणें जेण ।
लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण ।। ५२ ।।' -वही ।
(ग) 'कारण-विरहिउ सुद्ध-जिउ बड्ढइ खिरइ ण जेण ।
चरम-शरीर पमाणु जिउ जिणवर बोल्लहिं तेण ।। ५४ ।।' -वही ।
(घ) 'अट्ठ वि कम्मइँ बहुविहइँ णवणव दोस वि जेण ।
सुद्धहँ एक्कु वि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण ।। ५५ ।।' -वही ।

[५०] सूत्रकृतांगटीका १/१/८ ।

[५१] 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।' - भगवद्गीता २/१६ ।

ही ज्ञान करती है, जबकि पाँचों इन्द्रियों के विषयों का एकत्रीभूत रूप में ज्ञान करनेवाला अन्य कोई अवश्य है और वही आत्मा है।[५२]

## आत्मा का अस्तित्व

विशेषावश्यकभाष्य में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि आत्मा का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है क्योंकि उसी के आधार पर संशयादि उत्पन्न होते हैं।[५३] आत्मा के अस्तित्व के प्रति संशय स्वयं ही आत्मा की सत्ता को सिद्ध करता है;[५४] क्योंकि संशयकर्त्ता के बिना संशय सम्भव नहीं है और जो सन्देह या संशय का कर्त्ता है, वही तो आत्मा है।[५५] जैनदर्शन के अनुसार सुख, दुःखादि आत्मा के कारण ही होते हैं।[५६]

ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शंकर भी कहते हैं कि जो निरसन कर रहा है, वही तो उसका स्वरूप है। इस प्रकार आचार्य शंकर भी आत्मा के अस्तित्व के लिए स्वतः बोध को स्वीकार करते हैं।[५७]

पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट भी संशय के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि किसी भी सत्ता के अस्तित्व में सन्देह किया जा सकता है किन्तु सन्देहकर्त्ता के अस्तित्व में सन्देह करना असम्भव है। सन्देहकर्त्ता का अस्तित्व सन्देह के परे है। डेकार्ट कहते हैं कि "मैं सन्देहकर्त्ता हूँ। अतः मैं हूँ।" इस प्रकार डेकार्ट ने भी आत्मा के अस्तित्व को स्वतःसिद्ध माना है।[५८]

जैनदर्शन के समान गीता भी आत्मा को स्वतन्त्र नित्य द्रव्य के

---

[५२] सूत्रकृतांग १/१/८ ।
[५३] विशेषावष्यकभाष्य १५७५ ।
[५४] विशेषावष्यकभाष्य १५७१ ।
[५५] वही १५५७ ।
[५६] (क) जैन दर्शन, पृ. १५४ ।
(ख) आचारांगसूत्र१/५/५/१६६ ।
[५७] ब्रह्मसूत्र - शंकरभाष्य ३/१/७ ।
[५८] पश्चिमी दर्शन पृ. १०६ । -यदुनाथ सिन्हा ।

रूप में स्वीकार करती है।[५९] उसमें आत्मा के सम्बन्ध में जैनदर्शन के समान ही कहा गया है - "शस्त्र आत्मा का छेदन नहीं कर सकते, अग्नि उसे जला नहीं सकती, न जल द्वारा भिगोया या वायु द्वारा सुखाया जा सकता है। वह अछेद्य एवं अभेद्य है अर्थात् आत्मा नित्य है।"[६०] यद्यपि भारतीय दर्शनों में बौद्ध एवं चार्वाकदर्शन को अनात्मवादी कहा जाता है किन्तु चार्वाकदर्शन और बौद्धदर्शन के अनात्मवाद में कुछ भिन्नता है। चार्वाकदर्शन के अनुसार चैतन्य-विशिष्ट देह को ही आत्मा माना गया है, देह के नष्ट होते ही चेतना भी सदा के लिए नष्ट हो जाती है। इस प्रकार चार्वाकदर्शन चेतनायुक्त शरीर को ही आत्मा मानकर देह से उसकी अभिन्नता को प्रतिपादित करता है। अतः वह देहात्मवादी है। वह आत्मा को अनित्य मानता है। अतः वह आत्मउच्छेदवादी है; जबकि भगवान् बुद्ध ने आत्मा के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त दिया है, वह अनुच्छेद अशाश्वतवाद का है अर्थात् उनके अनुसार आत्मा एकान्त रूप से न तो विनाशशील है और न ही एकान्त रूप से नित्य है। बौद्धदर्शन के अनात्मवाद का अभिप्राय आत्मा के अस्तित्व की अस्वीकृति नहीं है। वह उसकी कूटस्थ-नित्यता की अस्वीकृति है। बौद्धदर्शन में आत्मा को उत्पाद-व्यय धर्मी अर्थात् सतत परिवर्तनशील माना गया है। वह कूटस्थ-नित्य आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करता है किन्तु आत्मसन्तति अर्थात् चित्तधारा को स्वीकार करता है।[६१]

इस प्रकार जहाँ चार्वाकदर्शन में देहात्मवाद को स्वीकार किया गया है और शरीर के समान आत्मा को भी विनाशशील माना गया है, वहाँ बौद्धदर्शन में विज्ञान स्कन्ध या चेतना प्रवाह को आत्मा

---

[५९] (क) 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शारीरिणः ।
अनाषिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्य भारत ।। १८ ।।'
(ख) 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं, भूत्वा भविता वान भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। २० ।।'
(ग) 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।। २३ ।।'
-गीता अध्याय २ (तुलना करें आचारांगसूत्र १/३/३) ।

[६०] 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।। २४ ।।' -गीता अध्याय २ ।

[६१] 'बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' पृ. ४३९-४४० ।

कहा गया है। चार्वाकदर्शन में चार महाभूतों के समूह से ही चैतन्य तत्त्व अर्थात् आत्मा की उत्पत्ति मानी गयी है और चार महाभूतों के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई नित्य एवं स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना गया है।[६२] बौद्धदर्शन में चेतना से ही चेतना की उत्पत्ति मानकर आत्मसन्ततिवाद को स्वीकार किया गया है। उसने चेतना प्रवाह को आत्मा माना है। साथ ही उसने कूटस्थ (अपरिणामी) नित्यआत्मवाद का निषेध किया है; किन्तु विज्ञानादि पंचस्कन्धों के रूप में सतत प्रवाहशील चेतन सत्ता को अवश्य स्वीकार किया है।[६३]

## आत्मा एक मौलिक तत्त्व है

आत्मा एक मौलिक तत्त्व है। यह सिद्धान्त चार्वाक को छोड़कर समस्त भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार संसार जड़-चेतन, जीव-पुद्गल या आत्म और अनात्म का संयोग है, फिर भी उनके मतों में कुछ अन्तर है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार इससे सम्बन्धित चार प्रमुख धारणाएँ हैं[६४] :

१. मूल तत्त्व जड़ (अचेतन) है। उसी से चेतन की उत्पत्ति होती है। चार्वाक दार्शनिक एवं अजितकेशम्बलिन आदि भौतिकवादी इस मत का प्रतिपादन करते हैं।

२. मूल तत्त्व चेतना है और जड़ की सत्ता उसी पर आश्रित मानी जा सकती है। बौद्ध विज्ञानवाद, शांकर वेदान्त तथा पाश्चात्य विचारक बर्कले इस मत का प्रतिपादन करते हैं।

३. कुछ विचारक ऐसे भी हैं, जिन्होंने परमतत्त्व को एक मानते हुए भी उसे जड़-चेतन - उभय रूप स्वीकार किया और दोनों को ही उसका पर्याय या अवस्था माना है। गीता, रामानुज और स्पिनोजा इस मत का प्रतिपादन करते हैं।

४. कुछ विचारक जड़ और चेतन दोनों को परम तत्त्व मानते हैं

---

[६२] सुत्रकृतांग १/१/८ ।

[६३] (क) न्यायवार्तिक, पृ. ३६६ (न्यायमीमांसा पृ. २ पर उद्धृत);
(ख) दर्शन दिग्विजय, पृ. ५१४ ।

[६४] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. २०९-१० । -डॉ. सागरमल जैन ।

और उनके स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। सांख्य, जैन और डेकार्ट इस धारणा में विश्वास करते हैं।

जैन विचारक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि कभी भी जड़ तत्त्व से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार चेतन तत्त्व से भी जड़ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। दोनों ही स्वतन्त्र तत्त्व हैं।[६५]

आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता के सम्बन्ध में प्रो. ए.सी. मुखर्जी ने अपनी पुस्तक में विशेष रूप से चर्चा की है।[६६] वे आचार्य शंकर के मन्तव्य को प्रस्तुत करते हुए भौतिकवादियों से यह प्रश्न पूछते हैं कि भूतों से उत्पन्न होनेवाली उस चेतना का स्वरूप क्या है? या तो चेतना उन तत्त्वों की प्रत्यक्ष कर्त्री होगी या उनका ही एक गुण होगी। यदि चेतना भौतिक तत्त्वों की प्रत्यक्ष कर्त्री होगी तो वह उनसे प्रत्युत्पन्न नहीं होगी। दूसरे में यदि वह भौतिकगुण है और अपने ही गुणों को अपने ज्ञान की विषय-वस्तु बनाती है; ऐसा मानें तो फिर यह भी मानना होगा कि आग अपने को ही जलाती है या नष्ट करती है। निष्कर्ष यह है कि चेतना (आत्मा) भौतिक तत्त्वों से भिन्न एक स्वतन्त्र तत्त्व है।

डॉ. यदुनाथ सिन्हा के अनुसार आत्मा एक वास्तविक, स्थाई आत्मचेतन एवं स्वतन्त्र कर्त्ता होना चाहिए। साथ ही उसमें आत्मसंकल्प एवं आत्मनिर्णय की शक्ति 'स्व' के भीतर होनी चाहिए। तर्क शक्ति या बौद्धिक विवेक आत्मा का एक अनिवार्य तत्त्व होना चाहिए।[६७] श्री केल्डरउड़ के अनुसार आत्मा केवल मनीषा के रूप में नहीं; शक्ति के रूप में भी प्रकट होती है। व्यक्ति में आत्म-चेतन सत्ता, आत्मनियन्त्रित बुद्धि तथा आत्म-निर्णायक क्रिया का समावेश होता है।[६८]

जैनेन्द्र-सिद्धान्तकोश में कहा गया है - "जीवस्वभावश्चेतना यतः सन्निधानादात्मा ज्ञाता, द्रष्टा, कर्त्ता, भोक्ता च भवति जीवः"

अर्थात् जीव का स्वभाव चेतना है; उसी के सन्निधान के कारण आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा एवं कर्त्ता-भोक्ता होती है।[६९]

---

६५ 'जैन दर्शन' पृ. १५७। -डॉ मोहनलाल मेहता।

६६ 'The Nature of Self' Page 141 & 143. -Dr. A.C. Mukharjee.

६७ 'नीतिशास्त्र' पृ. १८१-८२। -डॉ यदुनाथ सिन्हा।

६८ 'नीतिशास्त्र' पृ. २८३। -डॉ यदुनाथ सिन्हा।

६९ 'जैनेन्द्र-सिद्धान्तकोश भाग २' पृ. २९६-९७।

## १.३.२ आत्मा के लक्षण

जैनदर्शन की दृष्टि से जो ज्ञानादि पर्यायों से युक्त है, वही आत्मा है। जैनदर्शन में मुख्य रूप से दो पदार्थ माने गए हैं -

१. जीव और २. अजीव।

इनमें जीव उसके ज्ञानोपयोग के द्वारा ही पहचाना जा सकता है। वैसे जैनदर्शन में आत्मा का लक्षण उपयोग अर्थात् चेतना माना गया है। भगवतीसूत्र,[७०] ठाणांगसूत्र,[७१] उत्तराध्ययनसूत्र[७२] आदि जैन आगमों में आत्मा का लक्षण उपयोग ही बताया गया है। परवर्ती जैनाचार्य[७३] एवं सन्त-साधक[७४] भी आत्मा का लक्षण उपयोग अर्थात् चेतना ही मानते रहे हैं। निशीथचूर्णि में कहा गया है कि "जहाँ

---

[७०] भगवतीसूत्र १३/४/४८० ।

[७१] ठाणांगसूत्र ५/३/५३० ।

[७२] उत्तराध्ययनसूत्र २८/१० ।

[७३] (क) 'उपयोगो लक्षणम्' । -तत्त्वार्थसूत्र २/८ ।

(ख) 'सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानां ।
साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु ।। १६४ ।।' -प्रशमरतिप्रकरणकारिका ।

(ग) 'सव्वण्हुणाण दिट्ठो जीवो उवओग लक्खणो निच्चं ।। २४ ।।' -समयसार ।

(घ) 'उवयोग एवं हमिक्को चेदण भावो जीओ चेदण गुण वज्जिया सेसा ।। ३७ ।।'
-नियमसार २ ।

(च) 'उपयोगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ।
जीवस्स सव्वकालं अणण्ण भूदं वियाणिहि ।। ४० ।।' -पंचास्तिकाय ।

(छ) 'उपयोगो विनिर्दिष्टस्तत्र लक्षणमात्मनः ।
द्विविधो दर्शन-ज्ञान-प्रभेदेन जिनाधिपैः ।। ६ ।। -योगसार प्राभृत ।

(ज) 'चैतन्य लक्षणो जीवो, यश्चैतद्विपरीतवान् ।
अजीवः स समाख्यातः पुण्यं सत्कर्म पुद्गलाः ।। ४६ ।। -षड्दर्शन समुच्चय ।

(झ) 'चैतन्य स्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद् भोक्ता स्वदेह परिमाणः ।
प्रतिक्षेत्रं भिन्नं पौद्गलिका दृष्टवांश्चायम् ।। ५५-५६ ।।'
-प्रमाणनय तत्त्वलोक ७ ।

[७४] (क) 'चेतन लक्षण आत्मा, आतम सत्ता मांहि ।
सत्ता परिमित वस्तु है, भेद तिहूं मैं नाहि ।। ११ ।।' -समयसारनाटक, मोक्षद्वार ।

(ख) 'चेतना लक्षणो जीवः चेतना च ज्ञानदर्शनोपयोगी ।
अनन्तपर्याय पारिणामिक कर्तृत्व भोक्तृत्वादि लक्षणो जीवास्तिकायः ।।
-देवचन्द्रजी कृत नयचक्रसार ।

आत्मा है वहाँ उपयोग (चेतना) है; जहाँ उपयोग है वहाँ आत्मा है" अर्थात् उपयोग और आत्मा में तादात्म्य है। वही उसका स्वलक्षण या स्वरूप है।[७५] देवचन्द्र जी नयचक्रसार में लिखते हैं-

"चेतनालक्षणो जीवः चेतना च ज्ञानदर्शनोपयोगी-अनन्तपर्याय-
पारिणामिक-कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि लक्षणो जीवास्तिकायः।"

इस प्रकार देवचन्द्रजी ने चेतना के साथ-साथ कर्तृत्व भोक्तृत्वादि अन्य लक्षणों का भी निर्देश किया है। आनन्दघनजी ने भी "आनन्दघन चेतनमय मूरति", इस कथन के द्वारा आत्मा का लक्षण चेतना प्रतिपादित किया है। आनन्दघनजी शान्तिजिन स्तवन में लिखते हैं-

"आपणो आतम भाव जे एक चेतना धार रे,
आवर सवि संयोग थी, वो निज परिकर सार रे।"[७६]

इस प्रकार जैन दृष्टि में आत्मा का स्वलक्षण उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन है। दूसरे शब्दों में ज्ञाताद्रष्टा भाव ही आत्मा का निजगुण है। ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त अन्य पदार्थ आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध से रहे हुए हैं। वे उसका स्वरूप लक्षण नहीं हैं। यही कथन संथारापोरसीसूत्र,[७७] नियमसार और भावप्राभृत[७८] आदि में भी पाया जाता है। आत्मा का मुख्य लक्षण चेतना है; यह बात मुनि ज्ञानसागरजी ने भी कही है :

"धर्मी अपने धर्म को तजे न तीनों काल।
आत्मा न तजे ज्ञान गुण जड़ किरिया की चाल।।"[७९]

अर्थात् आत्मा चैतन्य स्वभाव का तीन काल में भी त्याग नहीं करती। पुनः यही बात आनन्दघनजी ने वासुपूज्य भगवान् के स्तवन में भी कही है -

"चेतनता परिणाम न चूके चेतन कहे जिन चंदो रे।"[८०]

---

७५ 'यत्रात्मा तत्रोपयोगः यत्रोपयोगस्तत्रात्मा' ।। ३३३२ ।। -निशीथचूर्णि ।

७६ 'शान्तिजिन स्तवन' -आनन्दघन ग्रन्थावली ।

७७ 'एगो में सासओ अप्पा, नाणदंसण संजुओ ।
सेसा में बाहरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा ।।' -संथारापोरसीसूत्र ।

७८ 'एगो में सासदो अप्पा नाणदंसण लक्खणो ।
सेसा में बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा ।। १०२ ।।' -नियमसार एवं भावप्राभृत ५६ ।

७९ मुनि ज्ञानसागर - उद्धृत आनन्दघन ग्रन्थावली पृ. २६३ ।

८० 'वासुपूज्य स्तवन' -आनन्दघन ग्रन्थावली ।

अर्थात् चेतन (आत्मा) कभी भी अपनी चैतन्य अवस्था का त्याग नहीं करता है, यह जिनेश्वरदेव का वचन है। यहाँ आनन्दघनजी चेतना को न तो चार्वाकदर्शन की तरह पृथ्वी आदि चार भूतों से उत्पन्न गुण मानते हैं और न न्यायवैशेषिकदर्शन के समान उसे आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं; अपितु उनके अनुसार चेतना आत्मा का स्वलक्षण है। यहाँ जैनदर्शन के आत्मा के चेतना गुण सम्बन्धी यह विचार आचार्य शंकर के अनुरूप है। जैनदर्शन का मानना है कि निर्वाण या मुक्ति की अवस्था में भी आत्मा में चेतना गुण रहता है। मात्र इतना ही नहीं मुक्ति की अवस्था में आत्मा की चेतना शक्ति पूर्णरूपेण विकसित होती है; जबकि संसारावस्था में उसकी चेतना शक्ति आवृत्त रहती है। किन्तु संसार दशा में जीव की चेतना शक्ति पूर्ण रूप से आच्छादित नहीं होती है। इस प्रकार जहाँ न्यायवैशेषिकदर्शन मुक्तावस्था में आत्मा में चेतना का अभाव मानता है और उसे आत्मा का आगन्तुक गुण कहता है; वहीं सांख्ययोग, वेदान्त और जैनदर्शन इसे आत्मा का लक्षण मानते हैं। आत्मा का यह चेतना लक्षण दर्शन और ज्ञान इन दो रूपों में प्रकट होता है। दर्शन सामान्य की चेतना है अतः निर्विकल्प है और ज्ञान विशेष की चेतना है अतः सविकल्प है। इनमें दर्शन (निराकार चेतना) अभेद अर्थात् वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करता है; जबकि ज्ञान (साकार चेतना) भेद अर्थात् वस्तु के विशेष स्वरूप को ग्रहण करता है।[८९] इन दोनों प्रकार की चेतनाओं से ही आत्मा की सत्ता का बोध होता है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन रूप चेतन गुणों की विशेष चर्चा आगे ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के रूप में की जायेगी।

## त्रिविध चेतना

जैनदर्शन में आत्मा को परिणामी नित्य कहा गया है अर्थात् आत्मा नित्य होते हुए भी परिवर्तनशील है, अर्थात् उसका उपयोग या ज्ञानरूप पर्यायों में परिणमन होता रहता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा का यह परिणमन तीन प्रकार का है। वैसे तो

---

[८९] 'द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः' -तत्त्वार्थसूत्र (२/९)।

चेतना लक्षण से युक्त आत्मा अपने आप में एक अक्षय अखण्ड तत्त्व है; फिर भी आत्मद्रव्य का पर्याय की अपेक्षा से तीन रूपों में परिणमन होता है। त्रिविध चेतना का वर्गीकरण इस प्रकार है :

१. ज्ञान-चेतना; २. कर्मचेतना (संकल्प); और
३. कर्म-फल-चेतना (सुखदुःखरूप अनुभूति)।

इन तीनों प्रकार की चेतनाओं का उल्लेख प्रवचनसार[८२] एवं अध्यात्मसार[८३] आदि ग्रन्थों में मिलता है। आनन्दघनजी भी वासुपूज्य स्तवन में लिखते हैं-

"परिणामी चेतन परिणामों, ज्ञान करमफल भावि रे।
ज्ञान करमफल-चेतन कहिये, लीजो तेह मनावी रे।।"[८४]

शुद्धस्वभाव में परिणमन करनेवाली चेतना ज्ञानचेतना है, जबकि रागादि भावों में परिणमन करनेवाली चेलना कर्मचेतना है और सुख-दुःखादि का अनुभव करनेवाली चेतना कर्मफलचेतना है।

ज्ञानचेतना शुद्ध और भूतार्थ है। वह ज्ञानादि गुणों में परिणमन करती है। कर्मचेतना रागादि भावों के साथ कर्तारूप में परिणमन करती है जैसे "मैने यह किया है, मैं यह करुँगा" आदि। सुख-दुःख आदि विविध अनुभूतियाँ कर्मफलचेतना है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना पर के निमित्त से उत्पन्न होती है। इनके निमित्त से आत्मा रागादि परिणामवाली हो जाती है। अतः ये दोनों बहिरात्मा या बुद्धात्मा से सम्बन्धित हैं।

## मनोविज्ञान की दृष्टि में चेतना

आधुनिक मनोविज्ञान में भी चेतना के तीन रूप माने गये है-
१. Knowing (जानना); २. Willing (इच्छा करना); और
३. Feeling (अनुभव करना)।

मनोविज्ञान की शब्दावली में इन्हें - १. ज्ञान; २. संकल्प; तथा ३. अनुभूति कहा जाता है।

---

[८२] प्रवचनसार गाथा १२३-२५ ।

[८३] 'ज्ञानाऽख्या चेतना बोधः, कर्माख्या द्विष्टरक्तता ।
जन्तोः कर्मफलाऽख्या सा वेदना व्यपदिश्यते ।।४५।।' -अध्यात्मसार आत्मनिश्चयाधिकार ४५ ।

[८४] 'वासुपूज्य जिन स्तवन' -आनन्दघन ग्रन्थावली ।

प्रकारान्तर से ये तीनों ही जैनदर्शन में क्रमशः ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के परिचायक हैं। ज्ञानचेतना, ज्ञाताभाव है, कर्मचेतना कर्ताभाव है और कर्मफलचेतना द्रष्टा भाव है। किन्तु संसारी आत्मा रागादि के कारण इसके निमित्त से कर्ता भोक्ता भाव में परिणमन करती है। कर्मचेतना बन्धनकारक है।

इसी दृष्टि से समयसार नाटक में बनारसीदासजी ने कहा है कि ज्ञानचेतना मुक्तिबीज है और कर्मचेतना संसार का बीज है। इन तीनों चेतनाओं में ज्ञानचेतना को परमात्मा, कर्मफलचेतना को अन्तरात्मा का और कर्मचेतना को बहिरात्मा का विशेष लक्षण कहा जा सकता है; क्योंकि परमात्मा में मात्र ज्ञानचेतना ही होती है – कर्म और कर्मफल चेतना नहीं होती है। संसारीजीवों में ज्ञानचेतना के साथ-साथ कर्मचेतना और कर्मफलचेतना भी होती है; किन्तु उनकी ज्ञानचेतना प्रमाद के कारण आवृत्त रहती है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना में भी मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा में कर्मचेतना की प्रधानता होती है और सम्यग्दृष्टि या अन्तरात्मा में कर्मफलचेतना की प्रधानता होती है।[८५]

## १.३.३ आत्मा का कर्तृत्व

जैन दार्शनिकों ने आत्मा को शुभ-अशुभ कर्मों या द्रव्य कर्म एवं भाव कर्म का कर्ता स्वीकार किया है। न्यायवैशेषिक, मीमांसा एवं वैदान्तिक दार्शनिकों ने भी जैन दार्शनिकों की तरह आत्मा में कर्तृत्व गुण स्वीकारा है। अन्य दार्शनिकों की तुलना में जैन दार्शनिकों की यह विशिष्टता है कि वे अपने मूलभूत अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न अपेक्षाओं से आत्मा को कर्ता एवं भोक्ता मानते हैं। समयसार में कहा है- "यः परिणमति स कर्त्ता"[८६] अर्थात् जो परिणमनशील है वही कर्ता है। आत्मद्रव्य स्व-स्वभाव में परिणमन करता है। अतः स्व-स्वभाव का कर्ता है। पंचास्तिकाय में कहा गया है कि अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से तो शुभ और

---

[८५] 'समयसारनाटक' अधिकार १०, गाथा ८५-८६ ।

[८६] समयसार, आत्मख्याति टीका गा. ८६ कलश ५१ ।

अशुभ परिणामों का परिणमन होना ही आत्मा का कर्तृत्व है।[८७] विभिन्न नयों के आधार पर आत्मा को कर्ता बतलाते हुए जैनदर्शन में कहा गया है कि आत्मा द्रव्यकर्म, नोकर्म अर्थात् शरीरादि एवं घट-पटादि बाह्य पदार्थों की कर्ता है। यह व्यवहारनय का कथन है। आत्मा शुभाशुभ भाव-कर्मों की कर्ता है यह अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से माना जाता है। किन्तु आत्मा अपने ज्ञाता, द्रष्टा, स्व-स्वभाव की कर्ता है; यह शुद्ध निश्चयनय से माना जाता है। कहा भी है- "व्यवहार से जीव ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों तथा औदारिकशरीर, आहारादि पर्याप्तिरूप नोकर्मों का और घट-पटादि बाह्य पदार्थों का कर्ता है।"[८८] किन्तु वह राग-द्वेषादि भावकर्मों का कर्त्ता है, यह कथन अशुद्ध निश्चयनय के अनुसार है और शुद्ध-चेतन-ज्ञान-दर्शन स्वरूप शुद्ध भावों का कर्त्ता है, यह शुद्ध निश्चयनय का कथन है। यह अवधारणा द्रव्यसंग्रह टीका, श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में मिलती है। कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार[८९] से भी इस कथन की पुष्टि होती है। वे कहते हैं कि -

"ववहारेण दु एवं करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्मणिह विविहाणी।"

अर्थात् आत्मा व्यवहारनय से घट-पटादि बाह्य पदार्थों, शरीरादि नोकर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों की कर्त्ता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय ने भी कहा है कि जीव कर्त्ता है; क्योंकि कर्म, नोकर्म तथा अन्य समस्त क्रियाएँ उसके द्वारा ही की जाती हैं। मात्र यही नहीं जीव संसार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, एवं भाव के अनुरूप आत्म पुरुषार्थ से मोक्ष को भी उपार्जित कर सकता है, अतः वह कर्त्ता है।[९०] उत्तराध्ययनसूत्र में भी आत्मा स्वयं को अपने सुख-दुःखादि की कर्त्ता एवं भोक्ता कहा गया है :

"अप्पा कत्ताविकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पामित्तंममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ।"

आत्मा स्वयं अपने सुख-दुःख की कर्त्ता है और स्वयं ही

---

[८७] पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति चूलिका गा. ५७।

[८८] द्रव्य संग्रह टीका ८; श्रावकाचार (वसुनन्दि) ३५।

[८९] समयसार ६८।

[९०] कार्तिकेयानुप्रेक्षा १८८।

उनकी भोक्ता है। दुष्प्रतिष्ठित आत्मा ही अपनी शत्रु होती है और सुप्रतिष्ठित आत्मा ही अपनी मित्र होती है।[६१] निश्चयनय से संसार में न तो कोई दूसरा व्यक्ति किसी को सुखी करता है और न वह किसी को दुःखी करता है; किन्तु आत्मा स्वयं स्वोपार्जित कर्मों से ही सुखी-दुःखी होती है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि :

"अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली
अप्पा कामदूहा धेणु अप्पा मे नंदणं वणं।"[६२]

अर्थात् आत्मा ही वैतरणी नदी एवं कूटशाल्मली वृक्ष है और यही कामधेनु एवं नन्दनवन भी है अर्थात् आत्मा स्वयं ही अच्छा व बुरा कर्म करके अपना हित या अहित करती है। जो आत्मा असत्कर्म करती है वह वैतरणी नदी या कूटशाल्मली वृक्ष के समान है। वह अपनी ही शत्रु है। किन्तु जो सत्कर्म करती है वह आत्मा कामधेनु या नन्दनवन के समान अपनी ही मित्र बनती है। जीव जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है। जीव के सुख-दुःख का कर्त्ता ईश्वर है, यह एक भ्रान्त अवधारणा है। जो जीव अच्छे कर्म करता है, वह सुखी होता है एवं जो बुरे कर्म करता है, वह दुःखी होता है। सुखी और दुःखी होना जीव के स्वयं के कर्मों पर आधारित है। इसलिए जीव को कर्ता कहा गया है।

वेदान्तदर्शन में आत्मा को सत् चित् एवं आनन्द रूप स्वीकार किया गया है।[६३] जैनदर्शन में भी आत्मा को आनन्दस्वरूप माना गया है। जैनदर्शन के अनुसार अनन्त सुख या आनन्द आत्मा का मूल गुण है।[६४] कषाय अर्थात् राग-द्वेषादि के क्षय होने पर ही आत्मा समस्त तनावों से मुक्त होकर स्वयं अनन्तसुख या आनन्द की अनुभूति कर सकती है।[६५] अपने आत्मगुणों को प्रकट करने की अपेक्षा से उसे उनकी कर्ता कहा गया है।

---

[६१] उत्तराध्ययनसूत्र २०/३७ ।
[६२] उत्तराध्ययनसूत्र २०/३६ ।
[६३] गीता २/२४, १३/३२ ।
[६४] समयसार, आत्मख्याति टीका गा. ८६, कलश ७५ एवं ८३ ।
[६५] वही कलश १०४-०७ ।

## १. आत्मा भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कर्ता-भोक्ता है

जैनदर्शन में पृथक्-पृथक् अवस्थाओं की अपेक्षा से जीव को कर्ता-भोक्ता स्वभाववाला स्वीकार किया गया है :

"यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः।।"

अर्थात् जीव स्वयं अनेक प्रकार के कर्मों का कर्ता है और उनके फलों का भोक्ता है। अपने कर्मों से जीव संसार में परिभ्रमण करता है एवं कर्मों से मुक्त होकर वही निर्वाण अवस्था को भी प्राप्त करता है। आनन्दघनजी ने भी आत्मा के कर्तृत्व पक्ष को इसी प्रकार स्वीकारा है :

"कर्ता परिणामी परिणामों, कर्म जे जीवै करिये रे,
एक अनेक रूप नयवादे, नियते नर अनुसरिये रे।"[९६]

अर्थात् आत्मा कर्ता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि आत्मा परिणामी है अर्थात् परिवर्तनशील है। अतः कर्मरूप परिणाम भी उसके अपने ही हैं। इसलिए आत्मा कर्ता है, वह स्वयं कर्म रूप क्रिया करती है। आत्म परिणामों में कर्म और कर्मफलों का संवेदन समाहित है। नयवाद की अपेक्षा से आत्मा के कर्तृत्व के अनेक रूप हैं। निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव की कर्ता है। अशुद्ध निश्चय नय से वह रागादि भावों की कर्ता है और व्यवहारनय से आत्मा पौद्गलिक कर्मों एवं घट-पटादि बाह्य पदार्थों की कर्ता है।

## २. क्या आत्मा पौद्गलिक कर्मों की कर्ता है?

व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा को ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों की एवं शारीरिक क्रियाओं की कर्ता माना गया है। समयसार की टीका में कहा गया है :

"यः परिणमति स कर्ता"[९७]

अर्थात् जो परिणमन करता है वह कर्ता है। कर्मबन्ध का

---

[९६] 'वासुपूज्य स्तवन'। -आनन्दघन ग्रन्थावली।

[९७] समयसार आत्मख्याति टीका गा. ८६ कलश ५१।

निमित्त होने के कारण उपचार से आत्मा को कर्मों की कर्ता कहा जाता है।[९८] जैसे- "सेना युद्ध करती है", किन्तु उपचार से ऐसा कहा जाता है कि "राजा युद्ध करता है।" अतः उपचार से आत्मा को ज्ञानावरणादि कर्मों की कर्ता कहा जाता है। निश्चय से तो कर्म ही कर्म का कर्ता होता है।[९९]

प्रवचनसार की टीका में भी कहा गया है कि आत्मा अपने भावकर्मों की कर्ता होने के कारण उपचार से उसे द्रव्यकर्म की कर्ता कहा जाता है।[१००] जैसे कुम्भाकार घड़े का कर्ता एवं भोक्ता है, यह कथन व्यवहारनय का है; वैसे ही आत्मा को भी कर्मों की कर्ता-भोक्ता व्यवहारनय से ही स्वीकार करना चाहिए। पारमार्थिक रूप से आत्मा को पुद्गल कर्मों की कर्ता मानना मिथ्या है।[१०१] क्योंकि चेतन पदार्थ को अचेतन द्रव्य का कर्ता माना जाये तो चेतन और अचेतन में भेद करना असम्भव हो जायेगा।[१०२] जीव और पुद्गल में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने के कारण ही जीव को ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता माना जाता है।

भारतीय परम्परा में सदैव ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण रहे हैं कि आत्मा कर्ता है या नहीं ? भारतीय विचारक इस सम्बन्ध में तो एकमत हैं कि जीव अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है। प्राणीय जीवन भौतिक शरीर में चेतन आत्मा के संयोग का परिणाम है। उसमें चित्त-अंश व अचित्-अंश दोनो ही हैं। शंकर ने इस कर्तृत्व गुण को मायाधीन पाया और उसे एक भ्रान्ति माना। सांख्यदर्शन में आत्मा को अकर्ता माना और जड़ प्रकृति को ही कर्ता माना, जबकि न्यायवैशेषिक आदि कुछ विचारकों ने आत्मा को कर्ता माना है। लेकिन जैन विचारकों ने इन एकान्तिक मान्यताओं के मध्य समन्वय का रास्ता चुना। यह सत्य है कि जैन आगम ग्रन्थों में आत्मा को सुख-दुःखादि की कर्ता एवं भोक्ता स्वीकार किया गया है, फिर भी वह इसे

---

[९८] 'ववहारस्स दु आदो पोग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गलकम्मं अणेयविहं ।। ८४ ।। -समयसार, कर्तृकर्माधिकार ।

[९९] समयसार कलश १०४-०७ ।

[१००] प्रवचनसार, तत्त्वदीपिका टीका २९ ।

[१०१] योगसार (अमितगति) २/३० ।

[१०२] समयसार गा. ८६ कलश ११९ ।

एकान्तरूप से नहीं मानता है। उसके अनुसार संसारी आत्मा पूर्व कर्मों के निमित्त से अच्छे-बुरे भाव करती है। अतः वह उन भावों की कर्ता है। उन भावों के निमित्त से जो कर्मबन्ध होता है, उसे उसकी भी कर्ता और भोक्ता कहा गया है। किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा को पर-पदार्थों की कर्ता मानने वालों को मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी या मोही कहा है। समयसार में वे कहते हैं कि "जो यह मानता है कि मैं दूसरे जीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। जो यह मानता है कि मैं अपने द्वारा दूसरे जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ, वह भी अज्ञानी व मूढ़ है। ज्ञानी इसके विपरीत है। संसार के सभी जीव अपने कर्मोदय के द्वारा ही सुखी-दुःखी होते हैं।"[१०३]

अमृतचन्द्रसूरि ने भी समयसार की आत्मख्याति टीका[१०४] में यही कहा है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञान से भिन्न नहीं है। अपने ज्ञाता-द्रष्टा भाव के अतिरिक्त वह पुद्गलरूप कर्मों की कर्ता नहीं है। व्यवहारी जीवों का ऐसा मानना मोह है।[१०५] अज्ञानी जीव ही आत्मा को पौद्गलिक कर्मों की कर्ता मानते हैं। मोक्ष की अभीप्सा होते हुए भी ऐसे लोगों को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।[१०६] आत्मा पुद्गलद्रव्यरूप कर्मों की कर्ता भोक्ता नहीं हो सकती; क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-भोक्ता नहीं हो सकता।

पंचाध्यायीकार ने भी कहा है कि मिथ्यादृष्टि एवं निकृष्ट बुद्धिवालों की ही यह मान्यता हो सकती है कि जीव अन्य द्रव्यों का कर्ता-भोक्ता है। आत्मा को पर-पदार्थों का कर्ता माननेवालों को कुन्दकुन्दाचार्य ने जैन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ एवं मिथ्यादृष्टि कहा है। यह अवधारणा निश्चयनय पर आधारित है।[१०७]

---

[१०३] समयसार २४७-५८ ।
[१०४] समयसार आत्मख्याति टीका गा. ७९ कलश ५० ।
[१०५] समयसार आत्मख्याति टीका गा. ९७ कलश ६२ ।
[१०६] वही टीका गा. ३२० कलश १९९ ।
[१०७] (क) पंचाध्यायी, पूर्वार्ध श्लोक ५८०-८१;
(ख) योगसार (अमितगति) ४/१३ ।

## ३. आत्मा निज भावों की कर्ता है

पंचास्तिकाय[१०८] में स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि आत्म-परिणामों के निमित्त से कर्मों का बन्ध होने के कारण व्यवहारनय के अनुसार आत्मा कर्ता-भोक्ता कहलाती है। निश्चयनय की अपेक्षा से तो कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्यों के परिणामों का कर्ता नहीं हो सकता है। अतः पुद्गल कर्मों का कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा अपने स्वयं के परिणामों की ही कर्ता है - पुद्गलरूप द्रव्य कर्मों की नहीं। पंचास्तिकाय में भी इसी प्रकार यह बताया गया है कि निश्चय में तो आत्मा अपने भावों की ही कर्ता है; पुद्गल रूप द्रव्यकर्मों की नहीं।[१०९] प्रवचनसारटीका में भी कहा है - "अपने परिणामों अर्थात् भावों से आत्मा अभिन्न होने के कारण वह स्वयं अपने परिणामरूप भावकर्मों की ही कर्ता है, पर पुद्गल परिणामात्मक द्रव्यकर्म की नहीं।[११०] अमृतचन्द्रसूरि ने समयसार में एक उदाहरण से यह बताया है कि कुम्भकार घट बनाता है पर स्वयं घट-रूप में परिणमित नहीं होता; अतः पारमार्थिक रूप से तो वह उसका कर्ता नहीं कहा जायेगा। इसी प्रकार आत्मा ज्ञानावरणादि रूप कर्मों में परिणमित नहीं होने के कारण परमार्थ रूप से उनकी कर्ता नहीं हो सकती है।[१११] इन सभी मन्तव्यों से सिद्ध है कि अपने परिणामों अर्थात् भावों की कर्ता आत्मा स्वयं है, किन्तु पुद्गल रूप कर्मों की कर्ता नहीं है। ये वैभाविक आत्म-परिणाम भी पूर्व कर्मों के निमित्त से ही होते हैं। अतः उनका भी निमित्त कारण तो कर्म ही है। निश्चयनय से आत्मा उनकी भी कर्ता नहीं है। इस प्रकार जैनदर्शन में व्यवहारनय से आत्मा को बाह्य पदार्थों, ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों और शरीर आदि कर्मजन्य अवस्थाओं की कर्ता माना गया है। अशुद्ध निश्चयनय से उसे शुभाशुभ भावों अर्थात् अपनी राग-द्वेष रूप वैभाविक अवस्थाओं की कर्ता माना गया है और शुद्ध निश्चयनय से अपने ज्ञानादि गुणों की कर्ता माना गया है।

---

[१०८] पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिका टीका २७ ।

[१०९] पंचास्तिकाय ६१; प्रवचनसार ६२ ।

[११०] प्रवचनसार ३० ।

[१११] समयसार, आत्मख्याति टीका कलश ७५, ८३ एवं ८६ ।

आचार्य गुणरत्न का कहना है कि जो जीव जिन कर्मों का कर्ता होता है, उन्हीं कर्मों का भोक्ता भी होता है। व्यवहार में भी जो फसल बोता है, वही काटता भी है। यदि सांख्य दार्शनिक एक ओर पुरुष को अकर्ता बताते हैं और दूसरी ओर उसे प्रकृति का भोक्ता भी मानते हैं तो उनका यह सिद्धान्त समीचीन नहीं हो सकता।[११२]

जैनदर्शन का यह मानना है कि एकान्त रूप से आत्मा को अकर्ता मानने पर उसमें अर्थक्रिया का अभाव होता है और जिसमें अर्थक्रिया नहीं होती उसे सत् नहीं कहा जा सकता। अतः यदि आत्मा को सत् वस्तु माना जाता है, तो उसे कर्ता मानना होगा; चाहे हम उसे ज्ञानरूप, दर्शनरूप परिणामों का कर्ता क्यों न माने। सांख्य दार्शनिकों का यह आक्षेप है कि यदि आत्मा को कर्ता मानते हो, तो फिर मुक्त आत्मा को भोक्ता मानना पड़ेगा और यदि ऐसा मानेंगे तो मुक्त अवस्था को कृत्यकृत्य स्थिति नहीं माना जा सकेगा। इसके उत्तर में जैन दार्शनिकों का कहना है कि संसारी आत्मा जब तक कर्मों से युक्त है, तब तक ही वह पुद्गल रूप कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। मुक्तात्मा तो अपनी ज्ञाताद्रष्टा रूप पर्यायों का कर्त्ता और भोक्ता होती है।

## ४. अकर्तृत्व में दोष

डॉ. सागरमल जैन ने आत्म अकर्तृत्ववाद में निम्न दोष दिखाये हैं :[११३]

१. यदि आत्मा अकर्ता है, तो उसे शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी भी नहीं माना जा सकेगा।

२. यदि आत्मा अकर्ता है, तो वह शुभाशुभ कर्मों का कर्ता भी नहीं होगी और शुभाशुभ की कर्ता नहीं होने से वह बन्धन में नहीं आवेगी और अपने शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होगी।

३. उत्तरदायित्व के अभाव में नैतिकता का प्रत्यय अर्थहीन होता है, यदि आत्मा को अकर्ता माना जाए, तो उत्तरदायित्व की व्याख्या सम्भव नहीं होगी।

---

[११२] षड्दर्शनसमम्मुच्चय टीका, प्र. २३६ ।

[११३] 'जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. २२३ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

४. नैतिक आदेश किसी कर्ता की अपेक्षा रखते हैं। यदि आत्मा अकर्ता है तो नैतिक आदेश किसके लिए ?
५. मुक्ति यदि सदाचरण का परिणाम है, तो अकर्ता आत्मा के लिए उसका क्या अर्थ रहेगा।

आत्मा के कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व को तीन दृष्टिकोणों से अभिव्यक्त किया जा सकता है –

१. व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा शरीर के सहयोग से (क्रियाओं की) कर्ता है। जब तक आत्मा कर्म शरीर से युक्त है, वह कर्मों की कर्ता है और उस स्थिति में वह शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी भी है।[११४]
२. पर्यायार्थिक निश्चयदृष्टि (अशुद्धनिश्चयनय) के अनुसार आत्मा जड़ कर्मों की कर्ता नहीं है वरन् मात्र कर्मपुद्गल के निमित्त से अपने चैतसिक भावों (अध्यवसाय) की कर्ता है।[११५]
३. शुद्ध निश्चयनय या द्रव्यार्थिक दृष्टि से आत्मा परद्रव्यों की अकर्ता है। मात्र अपनी स्वभाव पर्यायों की कर्ता है।[११६]

## ५. आत्म अकर्तृत्व सम्बन्धी सांख्यमत की समीक्षा

सांख्यदर्शन में पुरुष (आत्मा) को कूटस्थ-नित्य माना गया है, अतः वह अकर्ता है। उसकी मान्यता है कि प्रकृति परिणामी होने के कारण वही कर्मों की कर्ता है। पुण्य-पाप, बन्धन-मुक्ति आदि का सम्बन्ध प्रकृति से ही है।[११७] इसके विरोध में जैन दार्शनिकों का कहना यह है कि यदि आत्मा अकर्ता है और जड़ प्रकृति ही कर्ता है; तो फिर आत्मा को शुभाशुभ कर्मों का उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता। प्रकृति को जड़ माना गया है। जड़ वस्तु चेतन भावों की कर्ता नहीं हो सकती।[११८] क्योंकि पुण्य-पाप या कर्मों का शुभत्त्व या अशुभत्त्व चेतन भावों के आधार पर ही निर्भर होता है। अचेतन

---

[११४] समयसार, कर्तृकर्माधिकार ८४ ।
[११५] समयसार गाथा ८१ एवं ८३ ।
[११६] समयसार गाथा ६२ ।
[११७] (क) तत्त्वार्थवार्तिक (२/१०/१);
(ख) षड्दर्शन समुच्चय टीका २६६ ।
[११८] आप्तपरीक्षा, पृ. ११४ ।

प्रकृति में शुभाशुभभाव घटित नहीं होते। अतः वह पुण्य-पाप की कर्ता नहीं हो सकती। यदि पुरुष अकर्ता है और प्रकृति अचेतन होने से शुभाशुभकर्मों की कर्ता नहीं हो सकती, तो फिर पुण्य-पाप आदि का कर्ता कौन है; यह निश्चय करना कठिन होगा।

पुनः सांख्यदर्शन पुरुष (आत्मा) को अकर्ता मानकर भी उसे भोक्ता भी मानता है, तो जैन दार्शनिकों का प्रश्न होगा कि जो कर्ता नहीं है वह भोक्ता कैसे होगा? यदि सांख्य दार्शनिक पुरुष को भोक्ता मानते हैं, तो उन्हें उसे कर्ता भी मानना पड़ेगा। अन्यथा उन पर अकृतभोग का दोष आयेगा।[११९]

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अनुसार सांख्यों का यह कथन कि आत्मा या पुरुष तो अकर्ता है, किन्तु वह प्रकृति के द्वारा किये गये कार्यों का उपभोग करता है, उचित नहीं है। व्यवहार में भी यह देखा जाता है कि जो काम करता है, वही उसके फल का भोग करता है। यदि पुरुष अकर्ता है और प्रकृति ही कर्ता है, तो उसे ही भोक्ता मानना चाहिये।[१२०] किन्तु अचेतन प्रकृति भोक्ता कैसे होगी ? यदि यह मानें कि एक के द्वारा किए गये कार्यों के फल का भोग दूसरा करता है तो फिर एक के भोजन करने से दूसरे को तृप्त होना चाहिए। अतः यह कथन लोक व्यवहार के विपरीत है। यदि अचेतन प्रकृति को कर्ता माना जायेगा, तो घटादि जड़ पदार्थों को भी कर्ता मानना पड़ेगा।[१२१]

अकलंकदेव ने कहा है कि यदि पुरुष (आत्मा) अकर्ता है तो फिर प्रकृति के द्वारा किये गये कार्यों से आत्मा (पुरुष) की मुक्ति नहीं हो सकती है।[१२२] सांख्यों ने पुरुष को कर्ता तो नहीं माना, किन्तु भोक्ता माना है।

जैनदर्शन संसारी आत्मा को अपने शुभाशुभ कर्मों का

---

[११९] आप्तपरीक्षा, पृ. ११४ ।

[१२०] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक २४६ ।

[१२१] 'प्रधानेन कृते धर्मे मोक्षभागी न चेतनः ।
परेण विहिते भोगे तृप्तिभागी कुतः परः ।।
उक्त्वा स्वयमकर्तारं, भोक्तारं चेतनं पुनः ।
भाषमाणस्य सांख्यस्य न ज्ञानं विद्यते स्फुटम् ।।' -श्रावकाचार (अमितगति ४/३४-३८) ।

[१२२] तत्त्वार्थवार्तिक २०/१०/१ ।

कर्ता-भोक्ता मानता है। उसके अनुसार मुक्त-आत्मा तो अपनी ज्ञाताद्रष्टा रूप परिणामों की ही कर्ता-भोक्ता है।

आचार्य देवसेन ने कहा है कि जो जीव देहधारी है, वही भोक्ता है और जो भोक्ता होता है, वह कर्ता भी होता है अर्थात् संसारीजीव ही कर्मों का कर्ता-भोक्ता है।[१२३] प्रभाचन्द्र ने कहा है कि यदि आत्मा को कर्ता नहीं मानते हैं, तो भोक्ता मानने में भी विरोध आता है।[१२४]

## ६. बौद्धदर्शन और आत्मकर्तृत्ववाद

बौद्धदर्शन में आत्मकर्तृत्व की समस्या नहीं है। बौद्धदर्शन अनात्मवादी दर्शन है फिर भी वह चेतना के कर्तृत्व को स्वीकार करता है। वह मनोवृत्ति के आधार पर ही कर्मों के कुशल एवं अकुशल होने का निर्णय करता है, किन्तु चेतना को प्रवाहरूप मानने के कारण, जिसे कर्मों का कर्ता या उत्तरदायी माना जाय, ऐसी किसी चेतना की सिद्धि उसमें नहीं होती है। नदी के प्रवाहरूप डुबानेवाली जलधारा के समान वह तो परिवर्तनशील है। वस्तुतः वहाँ डूबने की क्रिया तो दिखाई देती है, किन्तु कोई डुबानेवाला नहीं होता है। जब तक डूबने की क्रिया सम्पन्न होती है, तब तक भी डुबानेवाले का अस्तित्व नहीं रहता। उसे कर्ता कैसे कहा जाय? फिर भी बौद्धदर्शन में व्यवहार-दृष्टि से व्यक्ति को कर्ता माना गया है। भगवान् बुद्ध कहते हैं : "अपने से उत्पन्न अपने से किया गया पाप अपने दुर्बुद्धि कर्ता को इसी तरह विदीर्ण कर देता है, जैसे मणि को वज्र काटता है।"[१२५] धम्मपद में कहा गया है- "स्वयं का किया पाप स्वयं को ही मलिन करता है। यदि स्वयं पाप न करे, तो स्वयं ही शुद्ध रहता है।" शुद्धि-अशुद्धि प्रत्येक की अलग है। कोई आत्मा दूसरे को शुद्ध या अशुद्ध नहीं कर सकती; ऐसा धम्मपद का कथन है।[१२६] बौद्धदर्शन इस प्रकार "प्रवाही आत्मा" को कर्ता के रूप में स्वीकृत करता है।

---

[१२३] नयचक्रवृत्ति १२४ ।

[१२४] न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ८१८ ।

[१२५] धम्मपद १६१ ।

[१२६] वही १६५ ।

## ७. गीता का दृष्टि कोण

गीता कूटस्थ आत्मवाद को स्वीकार करती है।[१२७] इसमें भी आत्मा को अकर्तारूप स्वीकार किया गया है। प्रकृति से भिन्न विशुद्ध आत्मा अकर्ता है। आत्मा का कर्तृत्व प्रकृति के संयोग से ही है। निश्चयनय से अकर्ता में कर्मपुद्गलों के निमित्त कर्तृत्वभाव को जैनदर्शन में भी स्वीकार किया गया है। अतः आचार्य कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण गीता के दृष्टिकोण से अत्यधिक निकट प्रतीत होता है।[१२८]

## ८. आत्मभोक्तृत्ववाद

सभी भारतीय दार्शनिकों की तरह जैन दार्शनिकों ने भी आत्मा को अपने कृत कर्मों के फलों का भोक्ता माना है। जैन दार्शनिक आत्मा को मात्र उपचार से कर्म फलों का भोक्ता न मानकर वास्तविक रूप से भोक्ता मानता है।[१२९] जैसे आत्मा का कर्तृत्व कर्मपुद्गलों के निमित्त से सम्भव है वैसे ही भोक्तृत्व भी कर्मपुद्गलों के निमित्त से सम्भव है। कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनों ही शरीरयुक्त बद्धात्मा में पाये जाते है। जैनदर्शन आत्मा का भोक्तृत्व भी शरीरयुक्त बद्धात्मा में स्वीकार करता है।

द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि में व्यवहारनय से आत्मा को जिस प्रकार पुद्गलरूप कर्मों का कर्ता माना गया है; उसी प्रकार व्यवहारनय से आत्मा को पौद्गलिक कर्मजन्यविपाक रूप सुख-दुःख एवं बाह्य पदार्थों की भोक्ता भी माना गया है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा रागद्वेषादि वैभाविक भावों की भोक्ता भी है, किन्तु शुद्ध निश्चयनय से वह ज्ञाताद्रष्टा रूप से स्वाभाविक पर्यायों की भोक्ता है।[१३०]

---

[१२७] गीता १३/२९ ।

[१२८] समयसार, ११२ । -तुलनीय गीता ३/२७-२८ ।

[१२९] 'एतेन उपचरितवृत्या भोक्तारं चात्मानं मन्यमानानां सांख्यानां निरासः ।
तथा स्वकृतस्य कर्मणां यत्फलं सुखादिकं तस्य साक्षाद् भोक्ता च ।। ४९ ।।'
-षड्दर्शनसमुच्चय कारिका टीका ।

[१३०] (क) द्रव्य संग्रह, गा. ९ एवं उसकी टीका;
(ख) पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिका ६८ ।

आदिपुराण में कहा गया है कि परलोक सम्बन्धी पुण्य-पापजन्य फलों की भोक्ता आत्मा है।[१३१]

स्वामी कार्तिकेय ने आत्मा को कर्म विपाकजन्य सुख-दुःख की भोक्ता बतलाया है।[१३२]

षड्दर्शनसमुच्चय की टीका[१३३] में सांख्य दार्शनिकों का मन्तव्य इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि आत्मा वस्तुतः ऐन्द्रिक विषयों की भोक्ता नहीं है, अपितु उपचार से भोक्ता है। वस्तुतः पुरुष भोक्ता नहीं; बुद्धि में झलकनेवाले सुख-दुःख की छाया 'पुरुष' में पड़ने के कारण पुरुष भोक्ता कहलाता है। जैसे स्फटिकमणि को जिस रंग के संसर्ग में रखा जाय, वह वैसी ही प्रतीत होती है; वैसे ही स्वच्छ निर्मल पुरुष, प्रकृति के सम्बन्ध से सुख-दुःखादि का भोक्ता बन जाता है। वस्तुतः प्रकृति ही कर्ता-भोक्ता है, पुरुष मात्र उपचार से भोक्ता है।

जैन दार्शनिक सांख्यों के इस मत से सहमत नहीं हैं। जैनदर्शन में आत्मा को उपचार से भोक्ता न मानकर वास्तविक रूप से भोक्ता स्वीकार किया गया है।[१३४] स्याद्वादमंजरी में सांख्य दार्शनिकों के मत की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं कि आत्मा औपचारिक रूप से नहीं; अपितु वास्तविक रूप से भोक्ता ही है।[१३५]

जैनदर्शन आत्मा के भोक्तृत्व गुण को शरीरयुक्त बद्धात्मा में स्वीकार करता है।

## ६. व्यवहारदृष्टि और निश्चयदृष्टि :

डॉ. सागरमल जैन ने लिखा है[१३६] :

१. व्यवहारिक दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा भोक्ता है।

---

[१३१] आदिपुराण २४/२६२-६३ ।

[१३२] 'जीवो विहवइभुत्ता कम्मफलं सो वि य भुंजदे जम्हा ।
विवायं-विविहं सो चिय भुंजदि संसारे ।। -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

[१३३] षड्दर्शनसमुच्चय टीका कारिका ४८-४६ ।

[१३४] स्याद्वादमंजरी, पृ. १३५ ।

[१३५] स्याद्वादमंजरी, पृ. १३५ ।

[१३६] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. २२५ । -डॉ सागरमल जैन ।

२. अशुद्ध निश्चयनय या पर्यायदृष्टि से आत्मा अपनी मानसिक अनुभूतियों का वेदक (भोक्ता) है।
३. पारमार्थिक दृष्टि से तो आत्मा भोक्ता और वेदक नहीं मात्र द्रष्टा या साक्षी है।[१३७] गीता और बौद्धदर्शन भी सशरीर जीवात्मा में भोक्तृत्व को स्वीकार करते हैं।

आनन्दघनजी आत्मा के भोक्तृत्व स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि –

"सुख-दुःख रूप करम फल जानों, निश्चय एक आनन्दो रे,
चेतनता परिणामन चूके, चेतन कहे जिनचन्दों रे।"

सुख-दुःखरूप परिणमन कर्मों के विपाक के कारण है। निश्चय में तो आत्मा आनन्दमय है। कर्मों के परिणामस्वरूप जो सुख-दुःखरूप संवेदनाएँ होती हैं; उसमें कर्म निमित्त कारण है और आत्मा उपादान कारण है, जबकि आनन्दानुभूति आत्मा का निजगुण है।[१३८]

निश्चय की दृष्टि से तो शुभाशुभ कर्मों का सुख-दुःखरूप प्रतिपल का संवेदन आत्मा के स्वभाव से भिन्न है; इसलिए सुख-दुःख पुद्गल के निमित्त से होनेवाली आत्मा की वैभाविक पर्याय हैं।[१३९] शुद्ध आत्मा तो उनकी साक्षी है; वह तो मात्र दर्शक है।[१४०] इस प्रकार निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा कर्म की कर्ता एवं भोक्ता नहीं है; किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा शुभाशुभ कर्मों की कर्त्ता एवं उनके सुख-दुःखरूपी फल की भोक्ता भी है।[१४१] लेकिन कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही गुण देहधारी बद्धात्मा में ही घटित होते हैं, न कि मुक्त आत्मा में।

उत्तराध्ययनसूत्र में भी आत्मा को सुख और दुःख का कर्ता एवं भोक्ता स्वीकार किया गया है।[१४२] समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा को पुद्गलकर्मों की कर्ता और

---

[१३७] समयसार ८१-९२।
[१३८] 'वासूपुज्य जिन स्तवन'। –आनन्दघन ग्रन्थावली।
[१३९] (क) उत्तराध्ययनसूत्र २०/३७।
(ख) समयसार गाथा ९१-९२ की आत्मख्याति टीका।
[१४०] उत्तराध्ययनसूत्र २०/३७।
[१४१] वही।
[१४२] उत्तराध्ययनसूत्र २०/३७।

अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से चैतसिक भावों की कर्ता माना है।[१४३] नियमसार[१४४] एवं पंचास्तिकाय[१४५] में भी व्यवहारनय से आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वीकृत किया गया है। निश्चयनय से तो आत्मा को ही स्व-स्वभाव की कर्ता और भोक्ता माना गया है। बृहद्द्रव्यसंग्रह[१४६] और प्रमाणतत्त्वलोक[१४७] आदि ग्रन्थों में भी आत्मा के कर्तृत्व व भोक्तृत्व पर विभिन्न नयों की अपेक्षा से विचार किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि संसारी आत्मा शरीर के माध्यम से एवं पूर्वकृत कर्मों के उदय के निमित्त से सुख-दुःखरूप संवेदन करती है, यह उसका भोक्तृत्त्व है और पूर्व कर्मों के उदय की स्थिति में शुभाशुभ भावरूप जो परिणमन करती है, वह उसका कर्तृत्व है।

## १०. जैनदृष्टि से अनित्य आत्मवाद की समीक्षा

चार्वाकदर्शन अनित्य आत्मवाद (क्षणिकवाद) को स्वीकार करता है। इस अनित्य आत्मवाद को भूतात्मवाद, देहात्मवाद और उच्छेदवाद भी कहा जाता है। अजितकेशम्बल के अनुसार आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है; किन्तु उसकी उत्पत्ति पृथ्वी आदि भूतों के योग से होती है। सूत्रकृतांग में भी इस विचारधारा का उल्लेख उपलब्ध होता है। वहाँ कहा गया है कि पृथ्वी आदि पंचभूतों के संयोग से आत्मा उत्पन्न होती है और इस संयोग का विनाश हो जाने पर वह नष्ट हो जाती है।[१४८] उत्तराध्ययनसूत्र में इस मान्यता का उल्लेख इन शब्दों में मिलता है कि शरीर में जीव स्वतः उत्पन्न होता है और शरीर नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है।[१४९] बौद्धदर्शन के अनुसार आत्मा चित्त सन्ततिरूप है;

---

[१४३] समयसार - कर्तृकर्माधिकार गाथा ८१, ८२ एवं ८४।
[१४४] नियमसार १३, १४ एवं १८।
[१४५] पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिका २७ ।
[१४६] बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. २, ८ एवं ९ और उसकी टीका।
[१४७] प्रमाणनयतत्त्वालोक ७ एवं ५६।
[१४८] सूत्रकृतांग १/१/७८।
[१४९] उत्तराध्ययनसूत्र १४/१८।

परिणामी है; परिवर्तनशील है - वह चित्त धारा है। वे उसे पंचस्कंधों का समन्वय कहते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक "ह्युम" ने भी सम्वेदनों के अतिरिक्त किसी नित्य आत्मा को स्वीकार नहीं किया है। ग्रीक दार्शनिक हेरेक्लिट्स भी आत्म क्षणिकवाद को मानता था।

बौद्धदर्शन का कहना है- "यत् सत् तत् क्षणिकम्।" अर्थात् जो सत् पदार्थ है वह क्षणिक है। सत् पदार्थरूप आत्मा भी क्षणिक है। फिर भी चार्वाकदर्शन और बौद्धदर्शन के अनित्य आत्मवाद में अन्तर है।[१५०] चार्वाक ने चैतन्य विशिष्ट देह को ही आत्मा कहा है, वह देहात्मवादी है। बौद्धदर्शन में आत्मा को उत्पाद-व्यय-धर्मी या सतत परिवर्तनशील माना गया है। बौद्धदर्शन का मानना है कि चेतना प्रवाह से भिन्न स्वतन्त्र आत्मा नहीं है। आत्मा के सम्बन्ध में बौद्धदर्शन की मान्यता अनुच्छेद अशाश्वतवाद की है अर्थात् आत्मा एकान्तरूप से न तो विनाशशील और न एकान्त रूप से नित्य है। बौद्धदर्शन आत्मा की स्थाई सत्ता को अस्वीकार करता है, किन्तु वह निर्वाण एवं पुर्नजन्म को स्वीकार करता है। जैनदर्शन ने आत्मा की एकान्त अनित्यता का खण्डन किया है। उनके अनुसार एकान्तरूप से आत्मा को क्षणिक या अनित्य मानना युक्त नहीं है। क्योंकि यदि आत्मा को क्षण-क्षण में बदलने वाली या अनित्य ही माना जाय तो उस पर कृतप्रकाश, अकृतभोग, स्मृतिभंग तथा संसार (पुनर्जन्म) और निर्वाण की असम्भावना के दोष आते हैं।[१५१]

## ११. नित्य आत्मवाद

भारतीय दर्शनों में चार्वाकदर्शन आत्मा की नित्यता एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानता है। बौद्धदर्शन भी नित्य-आत्मवाद को नहीं मानता है किन्तु वह पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। शेष सभी भारतीय दर्शन आत्मवादी ही हैं और पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। उपनिषद्, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, मीमांसक, वैशेषिक आदि

---

[१५०] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. २३६-३७।
-डॉ. सागरमल जैन।

[१५१] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. २३६-३७।
-डॉ. सागरमल जैन।

आत्मा की नित्यता को मानते हैं। आत्मा अनादि एवं शाश्वत है। नित्य आत्मवाद दैहिक मृत्यु के पश्चात् अगले जन्म में पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के विपाक को स्वीकार करता है। ईसाई और इस्लाम धर्म पुनर्जन्म नहीं मानते, फिर भी वे मृत्यु के उपरान्त शुभाशुभ कर्मों का फल मानते हैं। गीता शाश्वत एवं नित्य आत्मवाद को स्वीकार करती है। जैनदर्शन ने द्रव्यार्थिकनय से नित्य आत्मवाद को माना है। वेदान्त एवं सांख्यदर्शन आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानते हैं। किन्तु उनका एकान्तिक नित्यता का यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है।

जैनदर्शन मोक्ष की प्राप्ति के लिए न तो एकान्त नित्य-आत्मवाद और न एकान्त अनित्य-आत्मवाद को स्वीकार करता है। एकान्तरूप से आत्मा को नित्य या अनित्य मानने पर मोक्ष की व्याख्या सम्भव नहीं होती। आचार्य हेमचन्द्र ने वीतराग स्तोत्र[१५२] में कहा है कि आत्मा को एकान्त नित्य मानने पर सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप आदि भिन्न अवस्थाएँ घटित नहीं होंगी। जैनदर्शन सापेक्षरूप से आत्मा को नित्य और अनित्य - दोनों स्वीकार करता है। उत्तराध्ययनसूत्र[१५३] में आत्मा को नित्य कहा गया है। भगवतीसूत्र[१५४] में भी जीव को अनादि, अविनाशी, अक्षय, ध्रुवादि नित्य कहा है; किन्तु यहाँ आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन द्रव्यार्थिक नय से हुआ है। जैनदर्शन आत्मा को एकान्त रूप से नित्य या अपरिणामी नहीं मानता है। आत्मा की नित्यता एवं अनित्यता को लेकर भारतीय दार्शनिकों में मुख्य रूप से निम्न तीन मत परिलक्षित होते हैं -

१. उपनिषद्-वेदान्त तथा सांख्ययोग में आत्मा को नित्य माना गया है।
२. चार्वाक और बौद्धदर्शन में आत्मा को अनित्य माना गया है।
३. जैनदर्शन में आत्मा को नित्यानित्य स्वीकार किया गया है।

भारतीय दार्शनिकों में नित्य और अनित्य शब्दों के अर्थ को लेकर मतभेद है। मुख्य रूप से नित्य शब्द के दो अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं : १. शाश्वत; और २. अपरिवर्तनीय।

सांख्यदर्शन और वेदान्तदर्शन आत्मा की नित्यता को इन दोनों

---

[१५२] वीतरागस्तोत्र ८/२ एवं ३।
[१५३] उत्तराध्ययनसूत्र १४/१९।
[१५४] भगवतीसूत्र ९/६/३/८७।

ही अर्थों में स्वीकार करते हैं। न्यायवैशेषिक और मीमांसक आत्मा को प्रथम अर्थ में ही नित्य मानते हैं, क्योंकि वे आत्मा में परिवर्तन या परिणमन स्वीकार करते है। अनित्य शब्द के भी यहाँ दो अर्थ दृष्टिगोचर होते है : १. विनाशशील; और २. परिवर्तनशील।

चार्वाकदर्शन प्रथम अर्थ में आत्मा को अनित्य स्वीकार करता है। बौद्धदर्शन दूसरे अर्थ में आत्मा को अनित्य मानता है। किन्तु जैनदर्शन में समन्वय की दृष्टि से अनेकान्तवाद सिद्धान्त के आधार पर आत्मा को नित्यानित्य अथवा परिणामीनित्य माना गया है। शाश्वत या त्रैकालिक अस्तित्व की दृष्टि से आत्मा नित्य है, किन्तु परिवर्तनशीलता या पर्यायरूप परिणमन की दृष्टि से आत्मा नित्य नहीं है। अतः जैन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा नित्यानित्य या परिणामीनित्य है।

## १.३.४ आत्मा को निष्क्रिय मानने में कठिनाइयाँ

न्यायवैशेषिक दर्शन में आत्मा के साथ गुण और कर्म को भी निष्क्रिय माना गया है।[१५५] इसके प्रत्युत्तर में अकलंक का कहना है कि जैसे निष्क्रिय आकाश के साथ घट का संयोग होने पर घट में क्रिया नहीं होती; वैसे ही निष्क्रिय आत्मा के संयोग और प्रयत्न से शरीरादि में क्रिया नहीं हो सकती।[१५६]

जैन दार्शनिकों ने आत्मा को पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सक्रिय और निश्चयनय की दृष्टि से निष्क्रिय कहा है।[१५७] सांख्य दार्शनिक आत्मा या पुरुष को निष्क्रिय मानते हैं; किन्तु उनका पुरुष को सर्वथा निष्क्रिय मानना और प्रकृतिजन्य अंहकारादि को क्रियावान् मानना उचित नहीं है। इसी प्रकार नैयायिकों का आत्मा को निष्क्रिय मानना और परमाणु और मन को सक्रिय मानना उचित नहीं है। तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है कि आत्मा को यदि निष्क्रिय माना जाय तो बन्ध और मोक्ष भी नहीं हो सकेगा। अतः आत्मा क्रियावान् है। पुनः वह अव्यापक द्रव्य है। इसलिए सक्रिय

---

[१५५] वैशेषिकसूत्र ५/२/२१-२२ ।

[१५६] तत्त्वार्थवार्तिक ५/७/८ ।

[१५७] वही ५/७/४५-४६ ।

भी है।[१५८] जैन दार्शनिकों ने आत्मा को निष्क्रिय नहीं माना है; क्योंकि आत्मा को निष्क्रिय मानने पर शरीर में किसी प्रकार की क्रिया नहीं हो सकेगी।

## १. आत्मा की सक्रियता

जैन दार्शनिकों की अपनी विशेषता है कि वे आत्मा को सक्रिय एवं परिणामी मानते हैं। वे आत्मा और पुद्गल को सक्रिय मानकर शेष द्रव्यों को निष्क्रिय मानते हैं।[१५९] तत्त्वार्थसूत्र के पंचम अध्याय में कहा है कि "निष्क्रियाणी च" अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश – ये तीन द्रव्य निष्क्रिय हैं। इसके विपरीत जीव और पुद्गल सक्रिय हैं। पूज्यपाद, अकलंकदेव आदि जैन आचार्यों ने आत्मा को सक्रिय बताया है। आत्मप्रदेशों में जिसके द्वारा परिस्पन्दन या कम्पन हो तथा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन हो अथवा जो द्रव्य में अन्तरंग और बहिरंग कारण से उसे एक अवस्था से दूसरी अवस्था में ले जाती है; वह क्रिया कहलाती है।[१६०] गति, स्थिति, और अवगाहनरूप जो क्रियाएँ जीवद्रव्य में होती हैं, वे दो प्रकार की हैं – १. स्वभाविक क्रियाएँ; और २. वैभाविक क्रियाएँ।

इन्हीं के कारण अवस्थान्तर या पर्याय परिवर्तन होता है। अतः आत्मा सक्रिय एवं परिणामी है।[१६१]

न्यायवैशेषिक एवं मीमांसक आत्मा में शरीर के समवाय सम्बन्ध से क्रिया मानते हैं। वैदिक दार्शनिकों ने आत्मा को व्यापक तथा कूटस्थ-नित्य मानने के कारण उसे निष्क्रिय व अपरिणामी माना है। सांख्य दार्शनिकों का तर्क है कि सत्, रज और तम गुणों के कारण ही क्रिया सम्भव है। वे आत्मा को निष्क्रिय सिद्ध करते हैं; क्योंकि पुरुष में ये गुण नहीं होते हैं। उन्होंने प्रकृति को सक्रिय और पुरुष को निष्क्रिय स्वीकार किया है।

---

[१५८] तत्त्वार्थवार्तिक २/२६/२ ।

[१५९] धवला १/१/१/१ ।

[१६०] (क) सर्वार्थसिद्धि ५, ७;
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक ५, २२/१६ ।

[१६१] (क) नियमसार, तात्पर्यवृत्ति टीका १८४;
(ख) गोम्मटसार, जीवकाण्ड ५६६ ।

## २. आत्मा का देह से पृथक्त्व

जैनदर्शन के अनुसार संसार की सभी आत्माएँ सशरीरी हैं। वे स्वयं अपने शरीर की स्वामी हैं। फिर भी वे देह से भिन्न हैं।[१६२] डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने बारह भावना के पद्य में कहा है –

"देह देवल में रहे, पर देह से जो भिन्न है,
है राग जिसमें, किन्तु जो उस राग से भी अन्य है।
गुण भेद से भी भिन्न है, पर्याय से भी पार है,
जो साधकों की साधना का, एक ही आधार है।।"[१६३]

अर्थात् जब तक जीव कर्म संयुक्त रहता है तब तक वह देह से अभिन्न प्रतीत होता है। फिर भी देहदेवल में रहते हुए वह विभु, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यपुंज आत्मा इस देह से भिन्न कहा गया है। जो शरीरादि के प्रति रागभाव आत्मा में दिखायी देता है; वह पर के कारण है।[१६४]

## ३. आत्मा स्वयम्भू और सम्प्रभु है

आत्मा किसी अन्य द्वारा उत्पन्न नहीं है – अतः स्वयम्भू है। वह द्रव्यकर्म के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष प्राप्त करने में स्वयं समर्थ होने के कारण सम्प्रभु है।[१६५] पंचास्तिकाय[१६६] में आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव के सम्प्रभुत्व व्यक्तित्व के विषय में कहा

---

[१६२] पंचास्तिकाय गाथा २७ ।

[१६३] 'बारह भावनाएँ – एक अनुशीलन' पृ. ११३ (संवर भावना) । –डॉ हुकमचन्द भारिल्ल ।

[१६४] पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिका, गाथा २७ की टीका ।

[१६५] 'मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण, पर की मुझ में कुछ गन्ध नहीं,
मैं अरस अरूपी अस्पर्शी, पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ।।
मैं रंगराग से भिन्न, भेद से भी भिन्न मैं निराला हूँ ।
मैं हूँ अखण्ड चैतन्यपिण्ड, निज रस में रमने वाला हूँ ।।
मैं ही मेरा कर्ता-धर्ता, मुझ में पर का कुछ काम नहीं ।
मैं मुझ में रहने वाला हूँ, पर में मेरा विश्राम नहीं ।।
मैं शुद्ध-बुद्ध अविरुद्ध एक, पर परिणति में अप्रभावी हूँ ।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व, मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ।।'
–बारह भावनाएँ (अन्यत्वभावना) डॉ हुकमचन्द भारिल्ल ।

[१६६] पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिका गाथा ६९-७० की टीका ।

है कि अनादि काल से यह जीव स्वयं ही शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता होता हुआ, द्रव्यकर्म और भावकर्मों के उदय से मोह, राग, द्वेष, कषाय एवं आठ कर्म आवरणों से आच्छादित होकर ४ गति, २४ दण्डक और ८४ लाख जीव योनियों में भव भ्रमण करता है और जिनेन्द्र प्रभु द्वारा कथित मार्ग पर आरूढ़ होकर जिनागम, जिनवाणी का अनुसरण करते हुए समस्त कर्मों का उपशम और क्षय करके मिथ्या तथा अविद्या के तिमिर को हटाकर अनन्त शक्ति से युक्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूप व मोक्ष की उपलब्धि करता है।[१६७] इस प्रकार आत्मा के स्वयम्भू तत्त्व एवं सम्प्रभुत्व की सिद्धि होती है।[१६८]

## ४. आत्मा देहव्यापी और सर्वव्यापी दोनों ही है

जैन दार्शनिकों ने आत्मा को अपेक्षा भेद से देहव्यापी एवं सर्वव्यापी माना है। आत्मा नित्य ज्ञानमय है। आत्मा ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञान परिमाण है। ज्ञान को ज्ञेय परिमाण कहा गया है क्योंकि वह समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानता है तथा ज्ञेय समस्त लोकालोक है। इस कारण से ज्ञान सर्वव्यापी है - आत्मज्ञान स्वरूप है। इसलिए आत्मा भी सर्वगत सिद्ध होती है।[१६९] प्रवचनसार[१७०] में बताया है कि यदि आत्मा को ज्ञान परिमाण न माना जाय तो ज्ञान को आत्मा से छोटा-बड़ा माना जायेगा और ज्ञान का सम्बन्ध चैतन्य के साथ नहीं मानने से ज्ञान अचेतन हो जायेगा। अतः आत्मा लोकालोक के समस्त पदार्थों को जानने में असमर्थ हो जायेगी या नहीं जान सकेगी। यदि आत्मा ज्ञान से बड़ी है तो ज्ञान के बिना आत्मा पदार्थों को नहीं जान सकेगी।[१७१] अतः आत्मा सर्वव्यापी इसलिए कहलाती है क्योंकि वह ज्ञान परिमाण ही है। केवली भगवन्त कर्मावरणरहित होकर अपने अव्याबाध केवलज्ञान से

---

[१६७] पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति गाथा ७० की टीका ।

[१६८] अन्ययोग व्यच्छेदिका एवं श्लोक ६ ।

[१६९] स्याद्वादमंजरी पृ. ७० ।

[१७०] 'आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं । -प्रवचनसार १ ।
'णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ।। २३ ।।'

[१७१] कार्तिकेयानुप्रेक्षा २५४-५५ ।

लोक और अलोक को जानते हैं। इसलिए ज्ञानस्वरूपी आत्मा सर्वगत या सर्वव्यापी है। पुनः जैनदर्शन के अनुसार आत्मा केवली समुद्घात के समय सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होती है। इसलिए इस अवस्था में आत्मा लोकव्यापी होती है। किन्तु सामान्यतया जैनदर्शन आत्मा को देहपरिमाण या देहव्यापी मानता है। जहाँ तक संसारी आत्मा का प्रश्न है, वह शरीर परिमाण होती है। वह जिस देह में रहती है उसी को व्याप्त करके रहती है। इसी अपेक्षा से आत्मा को देहव्यापी कहा गया हैं।[१७२] संक्षेप में जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का ज्ञान, सामर्थ्य एवं केवली समुद्घात की अपेक्षा से लोकव्यापी तथा देहधारी की अपेक्षा से देहव्यापी है।[१७३] भगवतीआराधना में भी केवली समुद्घात में आत्मप्रदेशों को लोकव्यापी सिद्ध किया गया है।[१७४] इसलिए केवली समुद्घात की अपेक्षा से आत्मा व्यापक भी है।

## ५. आत्मा के भावात्मक स्वरूप का चित्रण

जैनदर्शन में आत्मा के स्वरूप का चित्रण विधानात्मक, निषेधात्मक एवं अनिर्वचनीय दृष्टि से किया गया है।[१७५] विधिमुख से कहें तो आत्मा अनन्तचतुष्टय से युक्त है। उसमें सत्ता की अपेक्षा से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रहा हुआ है। वह अमूर्त तत्त्व है। फिर भी संसार दशा में कर्मों से बंधी है। वह आत्मद्रव्य की अपेक्षा से एक है किन्तु प्रत्येक जीव या आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता भी है। संसारदशा में वह कर्मों से बद्ध है, किन्तु मोक्ष अवस्था में वह अपनी स्वभावरूप पर्यायों की कर्ता और शाश्वत आनन्द की भोक्ता है। संसार दशा में उसे कर्मों से बद्ध

---

[१७२] गोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा ६६८ ।

[१७३] (क) 'स सप्तविधः वेदनाकषायमारणान्तिकतेजोविक्रयाऽऽहारे केवलिविषदभेदात् ।।'
-तत्त्वार्थवार्तिक १/२०/१२ ।

(ख) सर्वार्थसिद्धि ५/८ ।

[१७४] भगवतीआराधना २११३-१६ ।

[१७५] (क) 'समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए ।' -आचारांगसूत्र १/८/३ ।

(ख) 'आयाए सामाइए, आया सामाइस्स अट्ठे ।' -भगवतीसूत्र १/६/२२८ ।

(ग) समयसार टीकाएँ २-३ ।

कहा जाता है; तो मुक्त अवस्था में कर्म पुद्गल उसे प्रभावित करने में असमर्थ होते हैं। अन्य द्रव्यों की तरह आत्मा भी अनन्त गुणों का पुंज है। उसमें, भावात्मक और अभावात्मक – अनेक गुण रहे हुए हैं। मात्र यही नहीं, सामान्य दृष्टि से उसमें परस्पर विशेष विरोधी गुण भी पाये जाते हैं। वह एक भी है, अनेक भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है, वह ज्ञाता द्रष्टा भी है और कर्ता-भोक्ता भी है। वह देह में रहते हुए भी देहातीत है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने भावात्मक दृष्टि से आत्मा का चित्रण किया है।[१७६]

## ६. निषेधात्मक रूप से आत्मा के स्वरूप का चित्रण

जैनदर्शन में सर्वप्रथम आचारांगसूत्र के पंचम अध्याय के छठे उद्देशक में आत्मा का निषेधात्मक वर्णन प्राप्त होता है। आचारांगसूत्र में आत्मा को अछेद्य, अभेद्य और अदाह्य कहा गया है।[१७७] आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है। वह न चतुष्कोण है, न परिमण्डल है। आत्मा में न वर्ण है, न गन्ध है, न शब्द है और न स्पर्श है आदि। आनन्दघन के अनुसार आत्मा का न वेष है, न भेष है, न वह कर्ता है और न कर्म है। इसे न देखा जा सकता है और न स्पर्श किया जा सकता है। आत्मा रूप, रस, गन्ध और वर्ण विहीन है।[१७८] उसकी न कोई जाति है और न लिंग है। न वह गुरु है और न शिष्य। वह न लघु है और न बृहद् है। न वह भोगी है, न योगी है और न रोगी है। न वह शीत है और न उष्ण है। वह न भाई है और न भगिनी है। वह न एकेन्द्रिय है और न द्वीन्द्रिय है। न वह स्त्री है और न पुरुष है। न वह ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य है और न शूद्र ही है।[१७९]

आचारांगसूत्र के अतिरिक्त समयसार,[१८०] परमात्मप्रकाश,[१८१]

---

[१७६] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. २२२ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

[१७७] आचारांगसूत्र १/५/६ ।

[१७८] 'स न छिज्जई, न भिज्जई न इज्झई न हम्मइ, कं च णं सव्वलोए ।'
-आचारांगसूत्र १/३/३ ।

[१७९] ठाणांगसूत्र ५/३/५३० ।

[१८०] समयसार ४९-५५ ।

[१८१] परमात्मप्रकाश ८६-९३ ।

नियमसार[१८२] आदि में आत्मा के स्वरूप का विवरण निषेध रूप से किया गया है। इसी तरह केनोपनिषद्,[१८३] कठोपनिषद्,[१८४] बृहदारण्यक[१८५], माण्डूक्योपनिषद्,[१८६] तैत्तिरीयोपनिषद्[१८७] और ब्रह्मविद्योपनिषद्[१८८] में आत्मा के निषेधात्मक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। सुबालोपनिषद्[१८९] और गीता में भी आत्मा को अछेद्य, अभेद्य और अदाह्य कहा गया है।

## १.४.१ ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग

जैनदर्शन में आत्मा का स्व-लक्षण उपयोग कहा गया है। यह उपयोग दो प्रकार का है :

(१) ज्ञानोपयोग; और (२) दर्शनोपयोग।

जैनदर्शन में उपयोग शब्द चेतना का ही पर्यायवाची है। वस्तु या ज्ञेय को जानने रूप प्रवृत्ति को ही उपयोग कहा गया है। इस प्रकार उपयोग शब्द चेतना का ही कार्य अभिव्यक्त करता है। भगवतीसूत्र में कहा गया है - "उवओग लक्खणे णं जीवे"[१९०]

अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। यह बात अनेक आगम ग्रन्थों में भी कही गई है। ठाणांगसूत्र में कहा गया है -

"गुणओ उवयोग गुणो"।[१९१]

उत्तराध्ययनसूत्र में भी उपयोग को ही जीव का लक्षण कहा गया है - "जीवो उवओग लक्खणो।"[१९२]

---

[१८२] नियमसार १७८-७९।
[१८३] केनोपनिषद् खण्ड १ श्लोक ३।
[१८४] कठोपनिषद् अ. १३ श्लोक १५।
[१८५] बृहदारण्यक ८ श्लोक ८।
[१८६] माण्डूक्योपनिषद् श्लोक ७।
[१८७] तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली २ अनुवाक ९।
[१८८] ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लोक ८१-९१।
[१८९] 'न जायते न म्रियते न मुह्यति न भिद्यते त दह्यते।
न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मा ॥६॥' -सुबालोपनिषद्।
[१९०] भगवती १३/४/४८०।
[१९१] ठाणांगसूत्र ५/३/५३०।
[१९२] उत्तराध्ययनसूत्र २८/११।

तत्त्वार्थसूत्र भी "उपयोगो लक्षणम्"[१६३] कहकर इसी बात को पुष्ट करता है। उपयोग के दो भेद हैं :

(१) साकार उपयोग (सविकल्प); और
(२) निराकार उपयोग (निर्विकल्प) ।

साकार उपयोग : जो वस्तु के विशेष स्वरूप को ग्रहण करता है, वह साकार उपयोग है।

निराकार उपयोग : जो वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करता है, वह निराकार उपयोग है।

साकार उपयोग ज्ञान है और निराकार उपयोग दर्शन अर्थात् अनुभूति है।[१६४] जिसके द्वारा आत्मा जानती है उसे ज्ञानोपयोग और जिसके द्वारा आत्मा देखती है अर्थात् अनुभव करती है उसे दर्शनोपयोग कहा गया है। ये दोनों उपयोग आत्मा से कथंचित् अभिन्न माने गये हैं, क्योंकि आत्मा को छोड़कर ये उपयोग अन्यत्र कहीं नहीं रहते। अतः आत्म-सापेक्ष होने से दोनों आत्मा से अभिन्न हैं। पुनः ये दोनों उपयोग आत्मा से कथंचित् भिन्न भी हैं; क्योंकि उपयोगरूप पर्याय उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। जो उपयोगरूप पर्याय समाप्त हो गई, वह आत्मा से भिन्न होती है। क्योंकि आत्मा तो रहती है, किन्तु ये पर्याय नष्ट हो जाती हैं।[१६५]

उत्तराध्ययनसूत्र में आत्मा के लक्षण ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग बताये गए हैं।[१६६] फिर भी आत्मा का असाधारण लक्षण तो उपयोग ही है। उपयोग का अर्थ बोधरूप व्यापार किया जाता है। उपयोग शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है –

"उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं बोध-रूप व्यापर्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः"

अर्थात् जीव जिसके द्वारा वस्तु का परिच्छेद अर्थात् बोधिरूप व्यापार करता है या उसमें प्रवृत्त होता है, उसे ही उपयोग कहा जाता है।

जीव का मूल लक्षण उपयोग ही है। यह निगोद से लेकर सिद्ध

---

[१६३] तत्त्वार्थसूत्र २/८ ।
[१६४] समयसार नाटक, मोक्षद्वार १० ।
[१६५] उत्तराध्ययनसूत्र १४/१९ ।
[१६६] 'नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवयोगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ।। ११ ।।' –उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २८ ।

तक के सभी जीवों में होता है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि निगोद जीव की अत्यल्प विकसित अवस्था मानी जाती है। क्या उस अवस्था में उपयोग हो सकता है? उत्तर में कहा गया है कि निगोद में भी जीव का अक्षर के अनन्तवें भाग जितना ज्ञान अवश्य होता है; क्योंकि इतना भी ज्ञान या उपयोग न हो तो निगोद के जीव और जड़ में क्या अन्तर रहेगा? इसका स्पष्टीकरण यह होगा कि संसार में प्रत्येक जीव में उपयोग अर्थात् ज्ञानात्मक गुण होता है; पर जीव के विकास की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है अर्थात् उसमें तारतम्य रहता है। सिद्धों में उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन गुण पूर्ण विकसित होते हैं; जबकि निगोद के जीव में वे सबसे कम विकसित होते हैं।

निगोद के जीवों का उपयोग अतिमन्द या अल्प विकसित होता है। अन्य जीवों का उपयोग उनके ऐन्द्रिक एवं मानसिक विकास के आधार पर क्रमशः विकसित होता जाता है। केवली की अवस्था में उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन गुण पूर्ण विकसित होता है। जीव के साथ कर्मों का आवरण होने के कारण कर्मों की तरतमता बनी रहती है।

## १. ज्ञानोपयोग के भेद :

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका[१६७] में भी सर्वप्रथम उपयोग के दो भेद (१) ज्ञानोपयोग; और (२) दर्शनोपयोग - प्रतिपादित किये गए हैं। विषय का सामान्य बोध होना दर्शनोपयोग और विशेष बोध होना ज्ञानोपयोग साकार उपयोग कहलाता है। अज्ञान और ज्ञान के आधार पर नियमसार[१६८] में ज्ञानोपयोग के आठ प्रकार बताये गये हैं - पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान :

(१) मतिज्ञान; (२) श्रुतज्ञान;
(३) अवधिज्ञान; (४) मनःपर्यवज्ञान;

---

[१६७] उत्तराध्ययनसूत्र टीका :
(क) पत्र २७६६ (भावविजयजी);
(ख) पत्र २७७१ (शान्त्याचार्य); और
(ग) पत्र २७८६ (कमलसंयमोध्याय)।

[१६८] नियमसार ११-१२।

(५) केवलज्ञान; (६) मतिअज्ञान;
(७) श्रुतअज्ञान; और (८) विभंगज्ञान।

अन्तिम तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं तथा प्रथम पाँच ज्ञानों में चार ज्ञान विकल अर्थात् आंशिक होते हैं। केवलज्ञान सकल या पूर्ण होता है।[१९९]

## २. ज्ञान की परिभाषा

जैन साहित्य में ज्ञान की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है। उसमें ज्ञान को कर्ता (जाननेवाला), कारण (साधन) और अधिकरण के रूप में परिभाषित किया गया है।

(१) "जानाति इति ज्ञानम्" अर्थात् जो जानता है या जानने की क्रिया करता है वह ज्ञान है। यहाँ क्रिया एवं कर्ता में अभेदोपचार करके ज्ञान को कर्ता अर्थात् आत्मा कहा गया है।

(२) "ज्ञायते अवबुध्यते वस्तुतत्त्वमिति ज्ञानम्" अर्थात् आत्मा वस्तुतत्त्व को जिसके द्वारा जानती है, वह ज्ञान है। ज्ञान की यह परिभाषा उत्तराध्ययनसूत्र में उपलब्ध होती है।[२००] यहाँ ज्ञान को साधन या करण माना गया है।

(३) "ज्ञायते अस्मिन्निति ज्ञानमात्मा" - जिसको जाना जाता है वह ज्ञान है; वही आत्मा है। ज्ञान की यह अधिकरणमूलक व्युत्पत्ति है। यहाँ परिणाम ज्ञान और परिणामी आत्मा में अभेदोपचार किया गया है।

आचारांगसूत्र में ज्ञान की यह परिभाषा इस रूप में उपलब्ध होती है - "जे आया से विण्णाया - जे विण्णाया से आया।"[२०१] उत्तराध्ययनसूत्र के २८वें अध्ययन एवं दशवैकालिकसूत्र में ज्ञान को साधना का प्रथम चरण माना गया है।

## ३. ज्ञान आत्मा से कथंचित् भिन्न-अभिन्न

जैनदर्शन ज्ञान को आत्मा का गुण स्वीकारता है। गुण अपने

---

[१९९] 'तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं ।
ओहिनाणं तइयं, मणनाणं च केवलं ।।४।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २८ (शान्त्याचार्य)।

[२००] उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ५५५ (शान्त्याचार्य)।

[२०१] आचारांगसूत्र १/५/५/१०४ (अंगसुत्ताणि, लाडनूं खण्ड १ पृ. ४५)।

गुणी से न सर्वथा भिन्न होता है और न सर्वथा अभिन्न होता है, परन्तु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होता है।[२०२] पंचास्तिकाय के अनुसार गुण से भिन्न गुणी और गुणी से भिन्न गुण की सत्ता असम्भव है।[२०३] इसी सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान-गुण गुणी-आत्मा से भिन्न नहीं है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव सत्ता से अभिन्न होता है। अतः ज्ञान आत्मा से अभिन्न है। आचारांगसूत्र[२०४] में भी कहा गया है - "जो ज्ञाता है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही ज्ञाता है।" किन्तु यह कथन निश्चयनय की अपेक्षा से है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप-लक्षण है। अतः इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। यदि आत्मा और ज्ञान अभिन्न न हों तो स्वरूप का अभाव न होने से आत्मा का ही अभाव सिद्ध हो जायेगा और निराश्रय होने से ज्ञानादि गुण की सत्ता भी नहीं रहेगी। आत्मा से भिन्न ज्ञान और ज्ञान से भिन्न आत्मा कहीं उपलब्ध नहीं होती है। इसीलिए पंचास्तिकाय,[२०५] षड्दर्शनसमुच्चय[२०६] आदि ग्रन्थों में आत्मा और ज्ञान को कथंचित् अभिन्न माना गया है। किन्तु वे दोनों सर्वथा अभिन्न नहीं हैं। आत्मा गुणी है और ज्ञान गुण है। आत्मा लक्ष्य और ज्ञान लक्षण है। इसलिए व्यवहारनय के अनुसार दोनों में भेद भी माना गया है। संज्ञा और संज्ञी, लक्ष्य और लक्षण दोनों में भिन्नता है। दूसरे आत्मा में मात्र ज्ञान गुण ही नहीं है - दर्शन (अनुभूति), इच्छा, भावना आदि भी आत्मा के गुण हैं। गुण को अभिन्न मानने पर इन विविध गुणों में भेद भी सम्भव नहीं होगा।

जीव और ज्ञान में गुण और गुणी के माध्यम से भेद न किया जाए तो जो देखना है वह दर्शन है और जो जानना है वह ज्ञान है - यह भेद कैसे होगा ?[२०७] प्रवचनसार में भी बताया है -

"णाणं अप्पाणं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तह्मा णाणं अप्पा - अप्पा णाणं व अण्णं वा।।"[२०८]

---

[२०२] षड्दर्शन समुच्चयटीकाकारीका ४६ ।
[२०३] पंचास्तिकाय ४४-४५ । ।
[२०४] आचारांगसूत्र १/५/५/१०४ ।
[२०५] पंचास्तिकाय ४३ ।
[२०६] षड्दर्शनसमुच्चयटीका कारिका ४६ ।
[२०७] कार्तिकेयानुप्रेक्षा १८० ।
[२०८] प्रवचनसार १/२७ ।

ज्ञान को यदि जीव से सर्वथा अभिन्न माना जायेगा तो सुख-दुःखादि गुण और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं रहेगा। अतः ज्ञान आत्मा से कथंचित् अभिन्न है। षड्दर्शनसमुच्चय की टीका[२०९] आदि में भी ऐसा ही माना गया है। वस्तुतः जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। अतः उसमें गुण-गुणी में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद माना गया है।

## ४. आत्मा अनन्त-चतुष्टय से युक्त है

जैन दार्शनिकों ने आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसौख्य (आनन्द) और अनन्तवीर्य (अनन्तशक्ति) रूप अनन्त-चतुष्टय को स्वीकार किया है।[२१०] उनके अनुसार विश्व की प्रत्येक आत्मा स्वरूपतः अनन्त-चतुष्टय से सम्पन्न है। आत्मा में ये गुण स्वभावतः निहित हैं। किन्तु कर्मों के द्वारा आच्छादित होने के कारण उसकी ज्ञानादि रूप ये अनन्त शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। उस आवरण को समाप्त कर उन क्षमताओं को योग्यता में परिणत करना ही साधना का एक मात्र लक्ष्य है। आत्मा का यह अनन्त-चतुष्टय ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय - इन चार घाती कर्मों के आवरण के कारण ही कुण्ठित है।

परमात्मदशा में प्रवेश करने के पूर्व इन चारों घातीकर्मों के आचरण को हटाना अत्यन्त आवश्यक होता है। तभी परमात्मदशा में ये अनन्त शक्तियाँ अनावरित होकर हमें पूर्ण रूप से उपलब्ध हो सकती हैं। अनन्त-चतुष्टय रूप जो शक्तियाँ आत्मा में तिरोहित हैं, उन्हीं शक्तियों को प्रकट करने के लिए अन्तरात्मा पुरुषार्थ करती है और उसका यह पुरुषार्थ ही साधना है।

इन अनन्त शक्तियों का आत्मा में प्रकटीकरण करने के लिए आत्मा के साथ रहे हुए कषायरूपी कल्मष को नष्ट करना आवश्यक है। कषाय के कारण ही कार्मण वर्गणाएँ आत्मा की इन शक्तियों को आच्छादित करती हैं। कषायों के नष्ट होने से ही

---

[२०९] षड्दर्शनसमुच्चय टीका कारिका ४९।

[२१०] प्रमाणनयतत्त्वलोक ७/५६।

कर्मावरण नष्ट होता है। तब आत्मा परमात्मपद की स्वामी बनती है। आत्मा में सम्यग्ज्ञान[२११], सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तपरूपी दीप के प्रज्वलित होने पर ज्ञानावरणीय आदि घातीकर्मों के आवरण हट जाते हैं तथा अनन्त-चतुष्टय का प्रकटन होता है और आत्मा अन्तरात्मा से परमात्मा बन जाती है अर्थात् सर्वज्ञता की उपलब्धि कर लेती है।

## (क) अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान

जैनाचार्यों ने अपने तीर्थंकरों की सर्वज्ञता को स्वीकार किया है। आत्मा पर से कर्मावरण हटने पर अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान गुण अर्थात् सर्वज्ञता स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाती है। सर्वज्ञता से युक्त परमात्मा संसार के समस्त जीवों तथा तीन लोकों के समस्त पदार्थों को एक साथ (युगपत्) जानते एवं देखते हैं। दूसरे शब्दों में यह विश्व ज्यों का त्यों उनके ज्ञान में वैसे ही झलकता है जैसे दर्पण में वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होती हैं।[२१२] आचारांगसूत्र[२१३] में सर्वज्ञता को इसी प्रकार बताया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य[२१४] शिवार्य[२१५] और निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी[२१६] ने भी सर्वज्ञ को समस्त पदार्थों का द्रष्टा माना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार के "शुद्धोपयोगाधिकार"[२१७] में सिद्धों की सर्वज्ञता के सम्बन्ध में कहा है कि "व्यवहारनय की अपेक्षा से वे समस्त लोकालोक के सभी पदार्थों को सहजभाव से देखते और जानते हैं; किन्तु पदार्थों के परिणमन से न तो केवली भगवान् प्रभावित होते हैं और न उनके देखने-जानने से पदार्थों का परिणमन ही प्रभावित होता है। निर्लिप्त भाव रूप सहज ही ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध रहता है; किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से तो वे अपने आत्म-स्वरूप को

---

[२११] उत्तराध्ययनसूत्र २०/३६ ।
[२१२] षड्खण्डागम १३/५/५/८२ ।
[२१३] आचारांगसूत्र श्रु. २, चू.३ (दर्शन और चिन्तन पृ. १२६) ।
[२१४] प्रवचनसार १४७ ।
[२१५] भगवतीआराधना २१४२ ।
[२१६] आवश्यकनिर्युक्ति १२७ ।
[२१७] नियमसार गा. १५६ ।

जानते-देखते हैं।" केवली की परपदार्थज्ञता व्यवहारिक है - नैश्चयिक नहीं है। यह बात डॉ. महेन्द्रकुमार ने सिद्धिविनिश्चय की प्रस्तावना में लिखी है।[२१८]

जैन तर्कशास्त्रियों ने तार्किकयुग में समन्तभद्राचार्य, सिद्धसेन, अकलंकदेव, हरिभद्रसूरि, वीरसेन, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्रसूरि आदि द्वारा भी सर्वज्ञ की अवधारणा स्वीकार की गई है। समन्तभद्र कहते हैं कि जिनको सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थ प्रत्यक्षरूप से केवलज्ञानरूपी दर्पण में समानरूप से प्रतिभाषित होते हैं; वे सर्वज्ञ हैं।[२१९] यह सर्वज्ञता अनुमान प्रमाण से स्वीकार की गई है। इसी तरह अकलंकदेव, हरिभद्र एवं विद्यानन्द आदि आचार्यों ने भी परमात्मा की सर्वज्ञता को स्वीकार किया है। परमात्मप्रकाश में कहा गया है कि जो आत्मा के निर्मलतम सर्वज्ञ स्वरूप का चिन्तन करता है, वह परमात्मा को प्राप्त करता है।[२२०]

## (ख) अनन्तसौख्य

अनन्त-चतुष्टय में सौख्य को भी आत्मा का स्वलक्षण माना गया है।[२२१] यदि आनन्द या सौख्य को आत्मा का स्वलक्षण नहीं मानें तो चेतना के भावनात्मक पक्ष की उपेक्षा होगी। आनन्द आत्मा का भावनात्मक पक्ष है। यदि आनन्द को आत्मा का स्वलक्षण न मानकर आत्मा से बाह्य तत्त्व माना जायेगा तो फिर जीवन का साध्य आन्तरिक न होकर बाह्य होगा। यदि आनन्द-क्षमता आत्मगत न होकर वस्तुगत होगी, तो सुखों की उपलब्धि बाह्य साधनों पर निर्भर होगी; किन्तु यह बात अध्यात्म शास्त्र के विरूद्ध जाती है। जीवन में हम अनुभव करते हैं कि आनन्द का प्रत्यय पूर्णतः बाह्य नहीं है। बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा वह हमारी चेतना या मनःस्थिति पर निर्भर करता है। असन्तुलित या तनावपूर्ण चैत्तसिक स्थिति में सुख के बाह्य साधनों के होते हुए भी व्यक्ति सुखी नहीं होता है।

---

[२१८] सिद्धिविनिचय टीका, प्रस्तावना पृ. १११।
[२१९] आत्ममीमांसा कारिका ५।
[२२०] परमात्मप्रकाश ७५।
[२२१] उत्तराध्ययनसूत्र १७/२०।

इसलिए आनन्द को आत्मा का ही स्वलक्षण मानना होगा।[२२२]

जैनदर्शन का उपर्युक्त दृष्टिकोण तर्कसंगत है। भारतीय दर्शनों में न्यायवैशेषिक एवं सांख्य विचारधाराएँ आनन्द या सौख्य को आत्मा का स्वलक्षण नहीं मानतीं। सांख्यदर्शन के अनुसार आनन्द सत्त्वगुण का परिणाम है। अतः वह प्रकृति का ही गुण है – आत्मा का नहीं। न्यायवैशेषिक दर्शन उसे चेतना पर निर्भर तो मानता है, किन्तु वहाँ उसे एक आगन्तुक गुण ही माना गया है।

इस सम्बन्ध में वेदान्त का दृष्टिकोण जैनदर्शन के समीप है। उसमें ब्रह्म को सत् और चित् के साथ-साथ आनन्दमय भी माना गया है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा अपनी अव्याबाध, अजर-अमर, अविनाशी मुक्तदशा में अनन्तसुख या अनन्तआनन्द की अनुभूति करती है।[२२३]

## (ग) अनन्तवीर्य

जैनदर्शन में आत्मा को अनन्तवीर्य से युक्त माना गया है। मनोवैज्ञानिक चेतना का एक पक्ष संकल्पात्मक शक्ति मानते हैं। इसे आत्म-निर्णय की शक्ति भी कह सकते हैं। इस संकल्प-शक्ति को ही जैनदर्शन में वीर्य कहा गया है। आत्म-निर्णय की शक्ति जीवन के लिए उपयोगी है। यदि आत्मा में आत्म-निर्णय की क्षमता (संकल्प-स्वातन्त्र्य) नहीं मानी जायगी तो उसका नैतिक उत्तरदायित्व समाप्त हो जायेगा। क्योंकि नैतिक उत्तरदायित्व संकल्प-स्वातन्त्र्य पर निर्भर होता है और संकल्प-स्वातन्त्र्य के लिए आत्मा में आत्म-निर्णय की शक्ति मानना आवश्यक है।

उत्तराध्ययनसूत्र[२२४] में जीव (आत्मा) के छः लक्षणों में वीर्य का भी उल्लेख होता है। इसकी टीकाओं में वीर्य का अर्थ सामर्थ्य

---

२२२ (क) इष्टोपदेश श्लोक २७;
(ख) नियमसार तात्पर्यवृत्ति १०२ ।

२२३ (क) तत्त्वानुशासन १२० ।
(ख) नियमसार ६३ एवं १८१ ।

२२४ उत्तराध्ययनसूत्र १८/११ ।

किया गया है।[२२५] किन्तु वह सामर्थ्य चैतसिक ही होगी। इससे यह भी प्रतिफलित होता है कि आत्मा की शक्ति या सामर्थ्य निर्णयात्मक है, जिसे प्रकट करने का प्रयत्न वीर्याचार के द्वारा होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के १७वें 'पापश्रमणीय' नामक अध्ययन में निम्न पाँच आचारों का उल्लेख है - ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार।[२२६]

यद्यपि जैनदर्शन के परवर्ती ग्रन्थों में चारित्र के अन्तर्गत तप एवं वीर्य का समावेश कर लिया गया है; लेकिन उत्तराध्ययनसूत्र में इनका अलग वर्णन मिलता है।[२२७] अतः इनमें रही हुई आंशिक भिन्नता को जानना यहाँ उचित प्रतीत होता है।

साधना के क्षेत्र में वीर्याचार पुरुषार्थ रूप है। वह स्वशक्ति का प्रकटीकरण है। अतः वह प्रवृत्ति का परिचायक और विधि रूप है।

उत्तराध्ययनसूत्र में साधक के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप के क्षेत्र में जिस पुरुषार्थ के लिए प्रेरणा दी गई है, वही वीर्याचार है। अनन्तवीर्य या अनन्तशक्ति आत्मा का स्वलक्षण है[२२८] और इस अनन्तशक्ति (अनन्तवीर्य) की क्षमता को योग्यता के रूप में परिणत करने हेतु पुरुषार्थ करना वीर्याचार कहलाता है। दूसरे, अनन्तवीर्य आत्म-निर्णय की शक्ति है और उस शक्ति को विषय-वासनादि बाह्य तत्त्वों से अप्रभावित रखने का प्रयत्न ही वीर्याचार है।[२२९] अन्तरात्मा इसी की साधना करती है।

यहाँ तक आत्मा के उपयोग, लक्षण और अनन्त-चतुष्टय की जो चर्चा की गई है, वह निश्चयनय के आधार पर आत्मा के स्वलक्षणों की चर्चा है। आगे आत्मा की स्वभाव एवं विभाव परिणति की चर्चा करेंगे।

---

[२२५] उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ५६१।
[२२६] उत्तराध्ययनसूत्र १७/२०।
[२२७] उत्तराध्ययनसूत्र, शान्त्याचार्य की टीका पत्र ५५६।
[२२८] योगसार २२।
[२२९] (क) अध्यात्मरहस्य २२; (ख) समयसार, आत्मख्याति टीका ७;
(ग) प्रवचनसार २/९९-१००; (घ) नियमसार ६६ एवं १८१; और (च) इष्टोपदेश २१।

## १.४.२ आत्मा की स्वभाव और विभाव परिणति

निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में स्थित है। किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा के स्वाभाविक व वैभाविक दोनों पर्याय है। जब तक आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को जानकर आत्मनिष्ठ नहीं हो जाती, तब तक वह मोहग्रस्त राग-द्वेष जन्य वैभाविक अवस्थाओं से मुक्त होकर पूर्ण ज्ञानादि रूप स्वभावपर्याय में परिणमित नहीं हो पाती है। विभावदशा का अभाव होने पर ही आत्मा में वीतराग भाव उत्पन्न होगा और एक समय ऐसा होगा कि मोहजन्य राग-द्वेष का अभाव होकर आत्मा की शुद्ध स्वभावरूप वीतरागदशा प्रकट होगी। व्यक्ति के अन्तर्मुख होते ही समस्त शुभाशुभ विकल्प-जाल का प्रलय हो जाता है और अन्तर में स्वभावरूप निर्विकल्प आनन्द का सागर लहराने लगता है। तब साधक आत्मानन्द में तल्लीन हो जाता है। जब शुद्धात्मानुभूति का अभ्युदय होता है; तब चैतन्यपुंज आत्मा सम्यक् प्रकार से अपने स्वभावात्मक परिणमन में स्थिर हो जाती है।[२३०]

### आत्मा की स्वाभाविक एवं वैभाविक अवस्था

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जैनदर्शन में आत्मा की मुख्यतया दो अवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं - स्वाभाविक और वैभाविक। विभाव अवस्था में स्थित आत्मा को बहिरात्मा कहा गया है। बहिरात्मा बाह्य जगत् में भटकने की रुचिवाली होती है। वह स्व-स्वरूप में स्थित होकर ज्ञाताद्रष्टा स्वभाव की अनुभूति नहीं कर पाती है। यह बहिर्मुखता या वैभाविक अवस्था उसके आत्माभिमुख बनने में बाधक होती है। विभावदशा के समाप्त होने पर ही स्वभावदशा प्रकट होती है।

आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जो इच्छाओं तथा आकांक्षाओं के पीछे भागेगा, उसका चित्त छलनी की तरह होगा। उसका व्यक्तित्व बिखर जायेगा तथा वह स्व-स्वरूप की अनुभूति नहीं कर पायेगा। जड़ पदार्थों से परे हटकर अन्तरजगत् में प्रवेश करना ही

---

[२३०] 'रात विभाव विलात ही, उदित सुभाव सुभानु ।
समता साच मतइ मिलै, आनन्दघन मानु ।। ३४ ।।' -आनन्दघन ग्रन्थावली ।

आत्माभिमुखता है। इसके द्वारा ही आत्मा स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त होती है। मुक्तात्मा या परमात्मा तो सदैव निज स्वभाव में स्थिर रहते हैं। स्वाभाविक अवस्था ही जीवन का परम साध्य है।

स्वाभाविक और वैभाविक अवस्थाओं को भगवद्गीता में स्वधर्म और परधर्म के रूप में परिभाषित किया है।[२३१] आनन्दघनजी ने स्वभावदशा को समता और विभावदशा को ममता कहा है। शुद्धात्मस्वरूप की अनवरत अनुभूति को स्व-स्वभावदशा एवं पौद्गलिक पर-भावों में भटकने वाली चेतना को विभावदशा कहा है।[२३२] उन्होंने आत्मा की विभावदशा का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है -

"बालुडी अबला जोर किसौ करे, पीउड़ो पर घर जाई,
पूरब दिसि तजि पच्छिम रातड़ौ, रवि अस्तगत थई।"

जिस प्रकार सूरज पूर्व दिशा को त्याग पश्चिम दिशा में अनुरक्त होकर अस्त हो जाता है; उसी प्रकार जब आत्मा समता रूपी स्वघर का त्यागकर ममतारूपी परघर में अनुरक्त हो जाती है; तब उसकी शुद्ध स्वभाविकदशा पर मिथ्यात्वरूपी तम छा जाता है।[२३३] समयसार टीका में भी आत्मा की स्वभावपर्याय और विभावपर्याय का उल्लेख हुआ है। वस्तुतः पर्याय जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यह अवस्था या दशा को सूचित करता है। स्वाश्रित या स्वभावदशा मुक्ति की द्योतक है। विभावदशा परपुद्गल के निमित्त से होने वाली पर्याय अर्थात् पराश्रितदशा है। यह बन्धन की परिचायक है। डॉ. सागरमल जैन ने अपने शोध प्रबन्ध ग्रन्थ में लिखा है कि "नैतिक जीवन का अर्थ विभावपर्याय से स्वभावपर्याय में आना है।" स्वभावदशा आत्मा की सात्त्विकवृत्ति और विभावदशा आत्मा की तामसिक (तमोगुणवाली) वृत्ति है।[२३४] स्वभाव और विभाव ये दोनों अवस्थाएँ एक दूसरे की विरोधी होते हुए भी

---

[२३१] 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३५।। -भागवद्गीता अध्याय ३ ।

[२३२] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. २२२ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

[२३३] आनन्दघन ग्रन्थावली पद ४१ ।

[२३४] समयसार टीका २, ३ ।

आत्माश्रित हैं। जैनागम आचारांगसूत्र,[२३५] सूत्रकृतांग,[२३६] भगवतीसूत्र[२३७] आदि में समत्व या समता को आत्मा का स्वभाव कहा गया है और इसके विपरीत राग-द्वेष जन्य कषायों को विभावदशा कहा गया है। विभावदशा ही बहिरात्मदशा है। विभावदशा से पराङ्मुख होकर आत्मा 'स्व' में स्थित होकर शुद्धात्मानुभूति करती हुआ परमात्म अवस्था को उपलब्ध कर लेती है।

## १. आत्मा परिणामी कैसे ?

जैनदर्शन में आत्मा को परिणामी नित्य माना गया है। वह उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य स्वभाव वाली है। आत्मा का अपने स्वभाव में अवस्थित रहना परिणाम कहलाता है।[२३८] आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि "स्वयमेव परिणमन्ते" अर्थात् संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने उपादान की योग्यता के अनुसार स्वयं ही परिणमित होता है। अन्य पदार्थ उसके परिणमन में निमित्त मात्र ही हो सकते हैं। तत्त्वार्थवार्तिक में आत्मद्रव्य को परिणामी कहा गया है। परिणमन का अर्थ परिवर्तन होता है। आत्मा अपने स्वद्रव्यत्व या स्व-स्वरूप को छोड़े बिना स्वाभाविक परिणमन करती है।[२३९] इस परिणाम या परिवर्तन को पर्याय भी कहा जा सकता है। यह पर्याय दो प्रकार का है: व्यंजनपर्याय[२४०] और अर्थपर्याय।[२४१] जीव और पुद्गल द्रव्य-परिणामी कहलाते हैं क्योंकि इन दोनों में व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय दोनों ही पाये जाते हैं। अर्थपर्याय की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों को भी परिणामी कहा गया

---

२३५ 'समियाए धम्मे आरियेहिं पवेदिते ।' -आचारांगसूत्र १/५/३ ।

२३६ सूत्रकृतांग १ अ. १, ३२१ ।

२३७ 'आयाए समाइए आया समाइस्स अट्ठे ।। २२८ ।।' -भगवतीसूत्र १/९ ।

२३८ (क) प्रवचनसार ६६ ।
(ख) 'तद्भावः परिणामः ।' -तत्त्वार्थसूत्र ५/४१ ।

२३९ 'परिणामो विवर्तः ।। १० ।।' -न्यायविनिश्चय टीका १ ।

२४० 'व्यंजन पर्याय स्थूल एवं शब्दगोचर होती है । शरीर के आकार रूप आत्मप्रदेशों का अवस्थान व्यंजन पर्याय होती है । नर, नरकादि व्यंजन पर्याय संसारीजीवों के ही होती हैं ।'

२४१ 'अगुरुलघुगुण की षड्गुणवृद्धि और हानि रूप प्रतिक्षण बदलने वाला पर्याय अर्थ-पर्याय कहलाता है । मुक्त जीव इसी पर्याय की अपेक्षा से परिणामी हैं ।'-द्रव्यसंग्रह टीका ७६-७७ ।

है। फिर भी इनमें अर्थपर्याय होती है। व्यंजनपर्याय का अभाव होता है। व्यंजनपर्याय की अपेक्षा से तो वे अपरिणामी कहलाते हैं। परिणमन की अपेक्षा से जीवद्रव्य अनित्य है, क्योंकि परिणमनरूप पर्याय या अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य नित्य होते हुए भी परिणमन स्वभाववाला होने से स्वयं ही कार्यरूप में परिणमन करता है अर्थात् उसकी वर्तमान पर्याय भविष्यकालीन पर्याय में बदल जाती हैं। इसलिए उसे अनित्य कहा जाता है। किन्तु पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों ही पर्यायों में रहनेवाला जीवात्मा तो वही होता है। स्व-स्वरूप की अपेक्षा से आत्मद्रव्य नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य अथवा परिणामी है।[२४२] हरिवंशपुराण में भी कहा गया है -

"द्रव्यपर्याय रूपत्वान्नित्यानित्योभयात्मका"[२४३]

अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य होती है। यह जीव शिशुपर्याय (अवस्था) से युवापर्याय और युवापर्याय से जरावस्था को प्राप्त करता है अथवा देवगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति या नरकगति में जाता है। यही उसका परिणमन कहलाता है। यदि हम बन्धन तथा मोक्ष को मानते हैं तो हमें आत्मा को परिणामी मानना होगा। जीव अस्तित्व की अपेक्षा अनादिनिधन है, तो भी नये-नये पर्यायों में परिणत होता रहता है। ऐसा स्वामी कार्तिकेय का मन्तव्य है।[२४४] वसुनन्दी ने भी स्वीकर किया है कि जीव परिणामी है क्योंकि वह चारों गतियों में गमन करता है।[२४५] आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यही स्वीकार किया है।[२४६]

## २. आत्मा अपरिणामी कैसे ?

जैनदर्शन के अनुसार आत्मद्रव्य को परिणामी नित्य माना गया है। जबकि अन्य भारतीय दर्शनों तथा सांख्ययोग, प्रभाकर एवं

---

[२४२] पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति टीका २७ ।
[२४३] हरिवंशपुराण ३/१०८ ।
[२४४] कार्तिकेयानुप्रेक्षा १६०/२३१-३२ ।
[२४५] श्रावकाचार (वसुनन्दी) २६ ।
[२४६] भावपाहुड ११६ ।

वेदान्त में आत्मा को कूटस्थ-नित्य तथा अपरिणामी माना है। किन्तु कुमारिलभट्ट जैन दार्शनिकों की तरह आत्मा को परिणामी ही मानते हैं। सांख्यदर्शन द्वारा आत्मा को अपरिणामी मानकर भी उसे औपचारिक रूप से भोक्ता तो मानना ही पड़ा है। जैन दार्शनिकों ने सर्वथा क्षणिक आत्मवाद एवं अपरिणामी कूटस्थ-नित्य आत्मवाद की तीव्र आलोचना की है।[२४७] आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार यदि आत्मा न स्वयं कर्मों से बंधी है और न स्वयं आत्मा रागादिभाव में परिणमन करती है - ऐसा मानेंगे तो फिर आत्मा अपरिणामी हो जायेगी। रागादिभाव बिना आत्मा के परिणमन नहीं होंगे। अतः संसार का अभाव हो जायेगा। आत्मा के अपरिणामी होने पर कर्म पुद्गल जीव को रागरूप से परिणमित नहीं कर सकेंगे।[२४८] पुनः यदि आत्मा को अपरिणामी मानेंगे तो पुण्य-पाप की व्यवस्था भी डगमगा जायेगी। अकलंकदेव का कहना है कि शुभाशुभ कर्मों को नहीं करने के कारण आत्मा को शुभाशुभ कर्मों का बन्ध भी नहीं होगा। आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानने पर मोक्षादि के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।[२४९] साथ ही अर्थ के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान आदि का अभाव हो जायेगा। तब तत्त्वों को न जानने के कारण मोक्ष का भी अभाव होगा।[२५०] कूटस्थ-नित्य आत्मवाद में समन्तभद्र ने भी उपर्युक्त दोष बताये हैं।[२५१] इस प्रकार आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानेंगे तो अर्थक्रिया नहीं होने पर आत्मा अवस्तु सिद्ध हो जायेगी।[२५२] 'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यं' सांख्य मतानुसार यदि उत्पत्ति एवं विनाश से रहित होने पर आत्मा नित्य कही जायेगी। जैनदर्शन के अनुसार फिर शुभ-अशुभ कर्म नहीं हो

---

२४७ 'कुशलाकुशलम् कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथस्वपरवैरिषु ।। ८ ।।' -देवागमकारिका १ ।

२४८ समयसार १२१-२३ ।

२४९ तत्त्वार्थवार्तिक १/१/५६; १/६/११ ।

२५० षड्दर्शनसमुच्चय टीका, कारिका ४६ ।

२५१ 'नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते ।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ।।
पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभावफलं कुतः ।
बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ।।' -देवागम ३/३७/४० ।

२५२ स्यादवादमंजरी, कारिका ५ ।

पायेंगे। उसके परिणामस्वरूप पुण्य-पापादि का अभाव होने पर बन्ध तथा मोक्ष भी किसी प्रकार से सम्भव नहीं है और संयम, नियम, दान, सम्यग्दर्शनादि भी नहीं हो सकते। क्योंकि इसके लिए उसे अन्य अवस्था धारण करनी पड़ेगी अथवा पदार्थ को उत्पाद-व्यय वाला मानना होगा;[२५३] जो कूटस्थ-नित्यवाद में सम्भव नहीं है। अतः आत्मा को अपरिणामी नहीं माना जा सकता है।[२५४]

## ३. आत्मा कथंचित् मूर्त और कथंचित् अमूर्त है

जैनदर्शन में आत्मा को अमूर्त (अरूपी) द्रव्य कहा गया है। पंचास्तिकाय में भी आत्मा को अमूर्त द्रव्य माना गया है।[२५५] द्रव्यसंग्रह में कहा गया है कि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से आत्मा पुद्गल के गुण रूपादि से रहित अमूर्त है।[२५६] आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने कहा है कि आत्मा का मूल स्वभाव तो अमूर्त (अरूपी) है, किन्तु शरीरधारी संसारी आत्मा कर्म-शरीर से युक्त होने से मूर्त भी है। आत्मा एकान्त रूप से न तो अमूर्त है और न मूर्त। संसारापेक्षा से वह कथंचित् मूर्त भी है और शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से आत्मा अमूर्त है।[२५७] इसी प्रकार डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने भी बारह भावना के पद्य में कंथचित् अमूर्तता का चित्रण किया है :

"जिस देह में आतम रहे वह देह भी जब भिन्न है,
तब क्या करे उनकी कथा जो क्षेत्र से भी भिन्न है।
स्वोन्मुख चिद्वृतियाँ भी आत्मा से अन्य हैं,
चैतन्यमय ध्रुव आत्मा, गुणभेद से भी भिन्न है।"[२५८]

अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्ध-स्वभावी आत्मा अमूर्त है एवं पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से देहधारी कर्मों से युक्त आत्मा मूर्त है।

---

[२५३] तत्त्वार्थसूत्र ५/३१ ।
[२५४] सिद्धान्तसार संग्रह ४/२३-४ ।
[२५५] पंचास्तिकाय ६७ ।
[२५६] 'वण्णरस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति वंधादो ।। ७ ।।' -द्रव्यसंग्रह ।
[२५७] (क) सर्वार्थसिद्धि २/७;
(ख) तत्त्वार्थसार ५/१६ ।
[२५८] 'बारह भावना : एक अनुशीलन' । -डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ।

अनादिकाल से कार्मण शरीर के साथ चैतन्य-स्वरूप आत्मा का संयोग होने के कारण वह देहधारी आत्मा मूर्त (रूपी) है एवं ज्ञानादि स्वभाव को नहीं छोड़ने के कारण आत्मा अमूर्त भी है।[२५९] अतः सिद्ध है कि निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा अमूर्तिक है किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से अनादि काल से क्षीर-नीर सम परस्पर आत्मा और कर्म का संयोग होने के कारण आत्मा मूर्तिक है।[२६०] इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा कथंचित् अमूर्त और कथंचित् मूर्त है।

## ४. आत्मा के अनिर्वचनीय स्वरूप का चित्रण

आत्मा के अनिर्वचनीय स्वरूप को जैनदर्शन के साथ-साथ प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में भी स्वीकार किया गया है। आत्मा वचनातीत है एवं वाणी के द्वारा उसका वर्णन असम्भव है। यदि उसे रूपी कहा जाय तो चक्षु से दृष्टिगोचर क्यों नहीं होती है? अगर उसे अरूपी कहा जाये तो अरूपी आत्मतत्त्व को रूपी शरीर में कैसे बाँधा जा सकता है? दूसरे शब्दों में यदि उसे अरूपी माना जावे; तो वह शरीरधारी कैसे हो सकती है? आनन्दघनजी कहते हैं कि यदि उसे उभयरूप अर्थात् रूपी-अरूपी दोनों आत्मा कहता हूँ, तो सिद्ध परमात्मा के लक्षण से उसकी समरूपता घटित नहीं होती है।[२६१]

यदि हम आत्मा को स्वरूपतः मुक्त कहेंगे तो सांसारिक अवस्था घटित नहीं होगी। क्योंकि शुभाशुभ कर्म, पुण्य-पाप, पुनर्जन्म आदि आत्मपर्याय हैं। फिर पुनर्जन्म आदि पर्याय भी निरस्त मानी जायेंगी। यदि उसे स्वरूपतः बद्ध कहा जाये तो मुक्ति सम्भव नहीं

---

[२५९] तत्त्वार्थवार्तिक २/७/२४ ।

[२६०] (क) 'व्यवहारेण कर्मभिः सहैकत्वपरिणामान्मूर्तो ऽपि निश्चयेन ।
निरूपस्वभावत्वान्नहि मूर्तः ।।२७ ।। -पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिका टीका ।
(ख) धवला १३/५/५/६३ ।

[२६१] 'सरवंगी सब नइ धणी रे, मानै सब परवान ।
नयवादी पल्लो गहै प्यारे, करइ लराइ ठान ।।
अनुभव गोचर वस्तु को रे, जाणि वो इह इलाज ।
कहण सुणण को कुं कछु नहीं प्यारे, आनन्दघन महाराज ।। ६१ ।।' -आनन्दघन ग्रन्थावली ।

होगी। पुनः यदि आत्मा सनातन तत्त्व है तो उत्पत्ति किसकी और मृत्यु किसकी?[२६२] अगर उसे उत्पन्न होने वाला और मरनेवाला स्वीकार करेंगे तो शाश्वत, अजर-अमर और नित्य कौन है? इस प्रकार किसी एक नय पक्ष के द्वारा आत्मा के स्वरूप को सिद्ध नहीं किया जा सकता। नयवादी यदि किसी एकान्त दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं तो वे विवाद में उलझ कर आत्मा के स्वरूप से अनभिज्ञ रह जाते हैं। उसे आत्मानुभूति के द्वारा ही जाना जा सकता है।[२६३] आत्मा कथन-श्रवण का विषय भी नहीं है, बल्कि अनुभूति का विषय है। तर्क का भी वहाँ कोई कार्य नहीं है; मति या बुद्धि उसे ग्रहण करने में असमर्थ है। 'कहन सुनन को कछु नहीं प्यारे' इस पंक्ति के द्वारा यही सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञानानन्दी या चैतन्य स्वरूप है। वह कहने या सुनने से परे है। वह इन्द्रियों, मन और बुद्धि से भी परे है। आनन्दघनजी द्वारा वर्णित अनिर्वचनीय आत्मा के इस स्वरूप की तुलना कबीर से की जा सकती है। कबीर ने उसे "गूंगे का गुड़ कहा है" अर्थात् उसका (आत्मा का) अनिवर्चनीय स्वरूप वर्णातीत है। उसे अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु कहा नहीं जा सकता।[२६४] आत्मा को अनुभूति के द्वारा ही जाना जा सकता है।

## ५. बौद्धदर्शन की अपेक्षा से आत्मा की अवधारणा

बौद्धदर्शन में आत्मा को क्षणिक एवं परिणामी स्वीकारा गया है। दूसरे शब्दों में बौद्धदर्शन उसे प्रतिक्षण परिवर्तनशील मानता है। जैनदर्शन अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण के अनुसार उसे परिणामी तो कहता है, परन्तु आत्मा को क्षणिक नहीं मानता है। क्योंकि वह

---

[२६२] 'बन्ध मोक्ष विचार'। -पंचास्तिकाय ९७।

[२६३] 'आत्मानमात्मना वेत्ति, मोहत्यागाद् य आत्मनि।
तदेव तस्य चारित्रं, तज्ज्ञानं तच्च दर्शनम् ।। २ ।।' -योगशास्त्र, चतुर्थ प्रकाश।

[२६४] 'बाबा अगम अगोचर कैसा, ताते कहि समुझावौं ऐसा।
जो दिसै सो तो है वो नाहीं, है सो कहा न जाई ।।
सैना बैना कहि समझावौं, गूंगे का गुड भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, बिनसै नाहि नियारा ।।
ऐसा ग्यान कथा गुरू मेरे, पण्डित करो विचारा ।। १२६ ।।' -कबीर ग्रन्थावली।

उत्पाद और व्यय (उत्पत्ति और विनाश) दोनों में द्रव्य की अन्वय रूप रहने वाली सत्ता को मानता है - जैसे कुशूल, घट, शिवक, दीपक आदि पर्यायों में मिट्टी द्रव्य अन्वयरूप से रहता है। आत्मा को एकान्त क्षणिक मानने में निम्न दोष आते हैं:[२६५]

१. जिसमें अर्थ क्रिया होती है, वह वस्तु कहलाती है।[२६६] आत्मा को क्षणिक मानने से वह अवस्तु सिद्ध होगी। क्योंकि क्षणिक आत्मा में क्रम, अक्रम या किसी अन्य प्रकार से अर्थ क्रिया असम्भव है। पुनः क्षणिक पदार्थ में देशकृत तथा कालकृत क्रम भी असम्भव सिद्ध होगा। अतः आत्मा को क्षणिक मानना भी उचित नहीं है।

२. अष्टसहस्री की कारिका में कहा गया है[२६७] कि यदि आत्मा को क्षणिक मानेंगे तो किये गए कार्यों का विनाश हो जावेगा। जिस क्षण में कार्य किया था वह क्षण नष्ट हो जावेगा। फिर फल की उपलब्धि भी नहीं होगी। आत्मा को क्षणिक मानने पर 'कृतप्रणाश' एवं 'अकृत' कर्मभोग नामक दोष लगता है; ऐसा स्याद्वादमंजरी में बताया गया है।[२६८]

३. अष्टसहस्री में बताया है कि क्षणिक आत्मवाद में हिंस्य, हिंसक और हिंसा का फल नहीं बनेगा तथा जिसने बन्ध किया वह मुक्त नहीं होगा अर्थात् बन्धेगा कोई और छुटेगा दूसरा - आत्मा को क्षणिक मानने पर मोक्ष तथा पुनर्जन्म नहीं हो सकेगा। भट्ट अकलंकदेव ने भी कहा है कि आत्मा को क्षणिक स्वीकार करने पर ज्ञान, वैराग्य आदि परिणमनों का आधारभूत पदार्थ नहीं होने के कारण मोक्ष नहीं हो सकेगा। क्षणिक आत्मवाद के अनुसार पुण्य-पाप, शुभाशुभ कर्म, बन्ध, मोक्ष आदि कुछ भी सम्भव नहीं हो सकता। फिर क्षणिक अनित्य आत्मा में भावनाओं का चिन्तन कोई करेगा और मोक्ष किसी दूसरे का होगा। पुनः परलोक, पुनर्जन्म आदि क्षणिकवाद के अनुसार असम्भव हैं। क्योंकि यदि कोई नित्य तत्त्व ही नहीं है

---

[२६५] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १/१५२।

[२६६] 'अर्थक्रिया सामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुतः'। -न्यायविनिश्चय (१/१५)।

[२६७] अष्टसहस्री कारिका ८।

[२६८] (क) स्याद्वामंजरी १८;
(ख) षड्दर्शनसमुच्च्य कारिका। -श्रावकाचार (अमितगति ४/८७)।

तो पुनर्जन्म किसका होगा? इस प्रकार एकान्त अपरिणामी या कूटस्थ आत्मवाद और एकान्त क्षणिक आत्मवाद समुचित नहीं हैं। अतः आत्मा को परिणामी नित्य मानना ही जैनदर्शन की दृष्टि से समुचित प्रतीत होता है।[२६९]

## १.५ भगवतीसूत्र के अनुसार आत्मा के आठ प्रकार

जैनदर्शन में आत्मा के विभिन्न भेदों की चर्चा मुख्यतया उनके ऐन्द्रिक विकास के आधार पर की गई है। इसी आधार पर षड्जीवनिकाय और चौदह जीव स्थानों की चर्चा हुई है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा के चौदह भेदों की चर्चा गुणस्थान सिद्धान्त में भी मिलती है, किन्तु इसे विद्वानों ने परवर्तीकालीन माना है। प्रस्तुत शोध के विवेच्य विषय त्रिविध आत्मा की अवधारणा का उल्लेख प्राचीन स्तर के अर्द्धमागधी आगम साहित्य में प्रायः अनुपलब्ध ही है। त्रिविध आत्मा की सर्वप्रथम स्पष्ट चर्चा आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में ही उपलब्ध होती है।[२७०] यद्यपि अर्धमागधी आगम साहित्य में यथा प्रसंग जीवों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति, संयमी जीवन तथा अरहन्तों और सिद्धों के स्वरूप के सम्बन्ध में यत्र-तत्र प्रकीर्ण सन्दर्भ उपलब्ध हो जाते हैं; फिर भी आध्यात्मिक क्षमता के आधार पर आत्मा के भेदों की कोई स्पष्ट चर्चा उपलब्ध नहीं होती।

आगमों में विवेकक्षमता के आधार पर आत्मा के समनस्क और अमनस्क - ऐसे दो भेद अवश्य उपलब्ध होते है। इन दोनों भेदों का सम्बन्ध भी विवेकशील मन की उपलब्धि और अनुपलब्धि पर आधारित है। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से इस अवधारणा को आधार रूप माना जा सकता है क्योंकि जैनदर्शन में आध्यात्मिक विकास का आधार समनस्क होना ही है। जब तक विवेकशील मन

---

२६९ 'हिनस्त्यनभिसंधातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत् ।
बध्यते तद्वयापेतं चितं बद्धं न मुच्यते ।। ५१ ।।' -देवागमकारिका ।

२७० (क) 'तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो हु देहीणं ।
तत्थपरो झाइज्जइ अन्तो अंतोवाएण चइवि बहिरप्पा ।।' -मोक्षपाहुड ४ ।
(ख) अष्टसहस्री पृ. १९७ ।

की प्राप्ति नहीं होती; तब तक व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की यात्रा पर अपने कदम आगे नहीं बढ़ा सकता है। विवेकशक्ति के विकास को ही आध्यात्मिक विकास का सहगामी माना जा सकता है और विवेक सामर्थ्य द्रव्यमन की संरचना पर निर्भर है।

जैन अर्द्धमागधी आगम साहित्य में भगवतीसूत्र में अष्टविध आत्माओं का एक विशिष्ट वर्गीकरण उपलब्ध होता है। यद्यपि यह वर्गीकरण आत्मा के आध्यात्मिक विकास की विविध स्थितियों को सूचित नहीं करता; किन्तु इससे इस बात का विचार अवश्य किया जा सकता है कि आत्मा की विविध शक्तियाँ क्या हैं और वे किस-किस रूप में अभिव्यक्त होती हैं? भगवतीसूत्र में आत्मा के निम्न आठ भेदों का उल्लेख मिलता है :[२७१]

१. द्रव्यआत्मा[२७२] – आत्मा के तात्त्विक स्वरूप को अथवा उसकी सत्ता को द्रव्यात्मा के रूप में जाना जाता है। आत्मद्रव्य को ही द्रव्यात्मा कहा गया है। द्रव्यात्मा सजीव – चेतन सत्ता की सूचक है। आत्मा की विविध शक्तियाँ जिसमें सन्निहित हैं, वही आत्मद्रव्य है और उसे ही यहाँ द्रव्यात्मा के रूप में सूचित किया गया है।

२. उपयोगात्मा – आत्मा की शक्तियाँ दो प्रकार की हैं – ज्ञानात्मक तथा अनुभूत्यात्मक। इन दोनों ही शक्तियों का समन्वितरूप उपयोग आत्मा है। जैनदार्शनिक ग्रन्थों में आत्मा का लक्षण उपयोग माना है। 'उपयोग' जैनदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। यह चेतना का पर्यायवाची है। उपयोग यद्यपि आत्मा का गुण है किन्तु गुण और गुणी में अभेद मानने के कारण जैन दार्शनिकों ने उसका तादात्म्य आत्मा से मानकर उपयोग को ही आत्मा का एक भेद माना है। वस्तुतः उपयोग और आत्मा एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। आत्मा का चेतनात्मक व्यापार ही उपयोग है। वस्तुतः उपयोग आत्मा की पर्याय दशा का ही सूचक है। किन्तु द्रव्य और पर्याय में कथंचित् अभेद होने के कारण यहाँ उपयोगात्मा ऐसा एक भेद किया गया है।

---

[२७१] भगवतीसूत्र १२/१०/४६७ ।

[२७२] 'अट्ठविहा आयापन्नता, तंजहा अवियाया कसायाया ।
जोगाया उवयोगाया णाणाया दंसणाया चरित्ताया वीरियाया ।। १० ।।

–भगवतीसूत्र १२ ।

३. ज्ञानात्मा – उपयोग आत्मा का सामान्य लक्षण है। जैनदार्शनिकों ने उपयोगात्मा के दो भेद किये हैं – ज्ञानात्मा तथा दर्शनात्मा। चेतना का विवेक और विश्लेषण की शक्ति ज्ञान कही जाती है। सिद्धान्ततः तो आत्मा उपयोग रूप है या उपयोग आत्मा की ही एक पर्याय है। किन्तु पर्याय भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः ज्ञानरूप पर्यायों की अभिव्यक्ति की अपेक्षा से ही आत्मा का एक भेद ज्ञानात्मा माना गया है।

४. दर्शनात्मा – चेतना या उपयोग का अनुभूत्यात्मक पक्ष दर्शन कहलाता है। सिद्धान्ततः तो ज्ञान और दर्शन – दोनों ही उपयोग के ही भेद हैं। सामान्य अनुभूतिरूप उपयोग (चेतना) दर्शन है और विशिष्ट अनुभूतिरूप उपयोग ज्ञान है। ज्ञान के समान दर्शन भी आत्मा की पर्याय या अवस्था विशेष है। आत्मा की अनुभूत्यात्मक पर्यायदशा को ही दर्शनात्मा कहा गया है।

५. चारित्रात्मा – आत्मा की संकल्पात्मक शक्ति को ही चारित्र कहा गया है। संकल्पशक्ति को शक्तिरूप में आत्मा का लक्षण माना जा सकता है। किन्तु संकल्प की अभिव्यक्ति संसार दशा में ही होती है; क्योंकि मुक्तात्मा तो निर्विकल्प होती है। लेकिन यह भी सत्य है कि आत्मा की सत्ता को स्वीकार किये बिना संकल्प सम्भव नहीं है। संकल्प भी आत्मा की पर्याय अवस्था का ही सूचक है; चाहे उसकी अभिव्यक्ति सांसारिक अवस्था में होती हो। इसी अपेक्षा से आत्मा का एक भेद चारित्रात्मा कहा गया है। चारित्र शब्द का एक अर्थ संयम भी है। अतः संयम की शक्ति को चारित्रात्मा कहा जा सकता है। आत्मा में संयम की शक्ति है और जब वह संसार दशा में भोगों से विरक्त रहकर संयम की साधना करती है, तो उस अवस्था में उसे चारित्रात्मा कहा जा सकता है।

६. वीर्यात्मा – चेतना की क्रियात्मक शक्ति को ही वीर्य कहा जा सकता है। यद्यपि मुक्तात्मा किसी प्रकार का पुरुषार्थ नहीं करती; फिर भी उसमें स्वभावतः शक्ति तो निहित रहती ही है। जैन दार्शनिकों ने आत्मा के स्वाभाविक गुणों को अनन्त-चतुष्टय के नाम से अभिव्यक्त किया है। इस अनन्त-चतुष्टय का एक भेद अनन्तवीर्य है। सांसारिक और संयम जीवन के समस्त पुरुषार्थ आत्मा की इस वीर्य शक्ति से

ही घटित होते हैं। इसी अपेक्षा से आत्मा का एक भेद वीर्यात्मा भी कहा गया है।

७. योगात्मा – जैनदर्शन में सशरीरी जीव की मन, वचन और काया की चंचल प्रवृत्तियों को योग कहा है। उमास्वाति के अनुसार जिनके कारण कर्मास्रव होता है वे योग हैं। यह योग का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है।[२७३] पूज्यपाद ने मन, वचन और काया के कारण होनेवाले आत्मप्रदेशों के स्पन्दन को योग कहा है।[२७४] उमास्वाति ने कर्मास्रव में मन, वचन और काया की अपेक्षा से योग के तीन प्रकार बताये हैं। आचार्य नेमिचन्द्र ने जीवकाण्ड में योग के पन्द्रह भेद किये हैं।[२७५] योग-व्यापार से युक्त आत्मा योगात्मा है। योग जब कषायों से अनुरंजित होता है तब वह बन्धन का कारण बनता है। किन्तु कषायों के अभाव में जो योग प्रवृत्ति है, उसे बन्धन का कारण नहीं माना गया है। त्रिविध आत्मा की अपेक्षा से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और अरहन्त परमात्मा तीनों ही योग से युक्त हैं; किन्तु बहिरात्मा की योग प्रवृत्ति तीव्रतम कषायों से अनुरंजित होती है। अन्तरात्मा कषायों से अनुरंजित योग प्रवृत्ति पर संयम या नियंत्रण करती है। अर्हन्त परमात्मा की योग प्रवृत्ति राग-द्वेष और कषायों से रहित होती है। इस प्रकार अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा तीनों योगात्मा हैं। अयोगीकेवली और सिद्धावस्था में योग का अभाव होता है। अतः उनकी आत्मा योगात्मा नहीं है।

८. कषायात्मा – भगवतीसूत्र में आत्मा के आठ भेदों में एक भेद कषायात्मा है।[२७६] कष्+आय+आत्मा=कषायात्मा। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों से युक्त जीव की अवस्था विशेष को ही कषायात्मा कहा जा सकता है। आचारांगसूत्र की वृत्ति में शीलांकाचार्य ने 'कषाय' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है : कष् अर्थात् संसार, आय अर्थात् लाभ – संसार का लाभ

---

[२७३] (क) 'काय वाङ् मनः कर्म योगः'। –तत्त्वार्थसूत्र ६/१।
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) योगमार्गणा ४ गाथा २१६।

[२७४] 'योग वाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः –सर्वार्थसद्धि २/२६, पृ. १८३।

[२७५] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) योगमार्गणा ४ गाथा २१८-२१।

[२७६] भगवतीसूत्र १२/१०/४६७।

करानेवाली चित्तवृत्ति कषाय है।[२७७] जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण के अनुसार जिससे दुःखों की प्राप्ति होती है उसे कषाय कहते हैं और कषाय से युक्त आत्मा को कषायात्मा कहा जाता है।[२७८] आचार्य नेमिचन्द्र ने कषाय शब्द की व्युत्पत्ति हिंसार्थक 'कष्' धातु से बताई है। हिंसार्थक कष् धातु की अपेक्षा से जो आत्मा के स्वभाव या शुद्ध स्वरूप का हनन करे वह कषाय है।[२७९] राजवार्तिककार ने भी इसी बात का समर्थन किया है कि जो आत्म-स्वभाव का हनन करे या उसे कुगति में ले जाए वह कषाय है। कषाय आत्मा की वैभाविक अवस्था है और कषाय के कारण विभावदशा में रही हुई आत्मा कषायात्मा है। सामान्यतः संसारी आत्मा कषायसहित होती है।[२८०] एक समय में एक कषाय मुख्य रहती है। अन्य तीन कषायें उस समय गौण रूप में रहती हैं। क्योंकि वे अन्योन्याश्रित हैं। प्रत्येक कषाय अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त काल तक उदय में रह सकती है। वेग की तीव्रता या मन्दता के आधार पर प्रत्येक कषाय के चार भेद किए गए हैं :[२८१]

अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन। इनमें:

(१) अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी यथार्थ दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक होती है;

(२) अप्रत्याख्यानी चौकड़ी आत्म-नियंत्रण की शक्ति के प्रकटन में बाधक होती है;

(३) प्रत्याख्यानी की चौकड़ी श्रमण जीवन की साधना में घातक होती है; और

---

[२७७] (क) जे कोहदंसी से माणदंसी, .....आयाणं निसिद्धा सगडब्भि ।
-आचारांगसूत्र १/३/४ सू. १३० ।
(ख) 'जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. २३०-३१ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।
(ग) 'अप्पेगे पलियंतेसि ..... बाला कसायवयणेहिं ।' -सूत्रकृतांग अ. ३/३/१ गा. १५ ।

[२७८] विशेषावश्यकभाष्य भाग २ गाथा १२२८-२९ ।

[२७९] गोम्मटसार - जीवकाण्ड ६/८२-८३ ।

[२८०] तत्त्वार्थवार्तिक २/६ ।

[२८१] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ५०१ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

(४) संज्वलन चौकड़ी वीतराग अवस्था की उपलब्धि में बाधक है। प्रशमरतिग्रन्थ में राग एवं द्वेष को ही कषाय माना गया है।[२८२]

राग-द्वेष के आधार पर ही कषायों का जन्म होता है। जो आत्मा राग-द्वेष की प्रवृत्तियों से युक्त होती है वह कषायात्मा है। प्रशमरति में आगे उमास्वाति लिखते हैं कि क्रोध कषाय से प्रीति का नाश होता है; मान से विनय की हानि होती है; माया से विश्वास को ठेस पहुँचती है और लोभ से सभी गुणों का नाश हो जाता है। इस प्रकार कषाय को आत्म-गुणों का विघातक माना गया है। जब तक आत्मा में कषाय की सत्ता बनी रहती है; तब तक उसके शुद्ध स्वरूप का प्रकटन सम्भव नहीं होता है। कषाय से आवृत्त आत्माएँ कषायात्माएँ हैं। जब तक जीव वीतरागदशा को प्राप्त नहीं कर लेता है, तब तक कषायों की सत्ता बनी रहती है। जब तक जीव इन कषायों से युक्त रहता है वह कषायात्मा कहलाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में क्रोध कषाय का स्वरूप वर्णित किया है। क्रोध शरीर और मन को सन्ताप देता है। वे लिखते हैं कि क्रोध-वैर का कारण है, क्रोध दुर्गति की पगडंडी है, क्रोध मोक्ष सुख में अर्गला के समान है।[२८३] क्रोध-कषायरूपी अग्नि स्वयं आत्मा को तो जलाती ही है साथ ही दूसरों को भी जलाती है। क्रोधी व्यक्ति का विवेकरूपी दीपक भी बुझ जाता है। वस्तुतः कषायात्मा बहिरात्मा की वाचक है।

## १.६ आत्मा (जीवों) के प्रकार

जैनदर्शन में नवतत्त्व की व्यवस्था अध्यात्मपरक है, जो आत्मा (जीव) के बन्धन और मुक्ति की कहानी कहती है। इन नवतत्त्वों में जीव और अजीव सत्ता रूप हैं, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन आध्यात्मिक विकास अर्थात् स्वरूपोपलब्धि के साधक तत्त्व हैं तथा आस्रव, पुण्य, पाप और बन्ध ये चार तत्त्व स्वरूपोपलब्धि में बाधक हैं। बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मपद की

---

[२८२] प्रशमरतिप्रकरण ३२ ।

[२८३] 'तत्रोपतापकः क्रोधः, क्रोधो वैरस्य कारणम् ।
दुर्गतिर्वर्तनी क्रोधः, क्रोधः शम सुखार्गला ।।६।।' -योगशास्त्र ४ ।

प्राप्ति के लिए चारों बाधक तत्त्वों से मुक्त होकर साधक मोक्ष-तत्त्व की प्राप्ति करता है। मोक्ष की साधना करने वाला साधक पुण्य, पाप, बन्ध और आस्रव इन चारों से बचकर संवर और निर्जरा की साधना से मोक्ष तत्त्व तक पहुँचता है। उत्तराध्ययनसूत्र में नवतत्त्वों का विवरण निम्न प्रकार से उपलब्ध है -

"जीवजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावासवो तह।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव।।"[२८४]

अर्थात् जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष - ये नवतत्त्व हैं। दिगम्बर ग्रन्थों में सात तत्त्व मिलते हैं। कर्मास्रव[२८५] में भी सात तत्त्व स्वीकार किये गए हैं। उसमें पुण्य और पाप का आस्रव में समावेश किया गया है। इन नवतत्त्वों में जीव और अजीव मुख्य तत्त्व हैं। इनका वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र[२८६] के ३६वें एवं स्थानांगसूत्र[२८७] के द्वितीय अध्याय में है। इन दोनो में भी जीव ही मुख्य है, अजीव तो जीव के बन्धन का निमित्त है।

इस प्रकार इन नवतत्त्वों के विवेचन में जीवतत्त्व अर्थात् आत्मा का प्रथम स्थान है। उत्तराध्ययनसूत्र में जीव का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि : "जीवो उवओगलक्खणं"

अर्थात् उपयोग (चेतना) जीव का लक्षण है।[२८८]

प्रवचनसार में जीव को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास - इन चार प्राणों के द्वारा जो जीया था, जो जीता है और जो जीयेगा वही जीव है।[२८९] प्रवचनसार की जीव की यह व्याख्या संसारीजीवों पर ही घटित होती है; क्योंकि मुक्त जीव तो इन चार प्राणों से युक्त नहीं हैं। बृहद्द्रव्यसंग्रह की दूसरी गाथा में जीव के निम्न लक्षण बताये गये हैं -

---

[२८४] उत्तराध्ययनसूत्र २८/१४ ।
[२८५] तत्त्वार्थसूत्र १/४ ।
[२८६] उत्तराध्ययनसूत्र अध्याय ३६/१-२४८ ।
[२८७] स्थानांगसूत्र २/१ ।
[२८८] उत्तराध्ययनसूत्र २८/१४ ।
[२८९] 'पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ।। १४७ ।।' -प्रवचनसार ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन ।

"जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेहरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो, सो विस्ससो ऽगई।।"[२६०]

अर्थात् जीव उपयोगयुक्त, अमूर्तिक, कर्त्ता, भोक्ता, स्वदेह परिणामवाला और स्वभावतः ऊर्ध्वगामी है। उसके संसारी और सिद्ध ऐसे दो भेद हैं।

जैनदर्शन में जीव को ज्ञानमय एवं चैतन्य स्वीकार किया गया है। इन्हीं विशिष्ट लक्षणों के कारण जीव जड़-पदार्थों से भिन्न माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र[२६१] एवं कर्मास्रव[२६२] में जीव के दो भेद किये गये हैं : "संसारिणो मुक्ताश्च"

अर्थात् १. सिद्ध और २. संसारी।

## सिद्धजीव

जो जीवात्माएँ आठ कर्मों से मुक्त होकर सम्यक्त्वादि गुणों से युक्त होकर लोक के अग्रभाग में स्थित हो जाती हैं - जिनका पुनः संसार में आगमन नहीं है, वे सिद्धात्माएँ हैं। वे सिद्ध परमात्मा अक्षय, अव्याबाध, सुखानुभूति में लीन रहते हैं।

## संसारीजीव

जो जीवात्माएँ अपने कृत कर्मानुसार संसार में परिभ्रमण करती हुई कर्मों का फल भोगने के लिए विभिन्न योनियों में जन्म-मरण करती हैं अर्थात् ४ गति एवं २४ दण्डक और ८४ लाख योनियों में परिभ्रमण करती हैं - वे संसारी हैं। ये संसारीजीव ६ प्रकार के हैं। जैनदर्शन में षट्जीवनिकाय का विशिष्ट स्थान रहा है। इसकी चर्चा हमें प्राचीनतम जैन आगमिक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। प्राचीन आगमिक परम्परा में जैसे आचारांगसूत्र[२६३],

---

[२६०] बृहद्द्रव्यसंग्रह २।
[२६१] 'संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया'। -उत्तराध्ययनसूत्र अ. ३६/४८।
[२६२] 'संसारिणो मुक्ताश्च'। -तत्त्वार्थसूत्र २/१०।
[२६३] (क) आचारांगसूत्र प्रथम अध्ययन;
(ख) ऋषिभाषित २५/२।

उत्तराध्ययनसूत्र[२९४], दशवैकालिकसूत्र[२९५], जीवाभिगम[२९६], कर्मास्रव[२९७] (भाष्यमान्य पाठ), पंचास्तिकाय[२९८] आदि में षड्जीवनिकाय को त्रस और स्थावर ऐसे दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों में स्थावर के अन्तर्गत पृथ्वी, अप् और वनस्पति तथा त्रस के अन्तर्गत अग्नि, वायु और त्रस निकाय के जीवों को माना गया है। किन्तु परवर्ती आचार्यों ने स्थावर के निम्न पाँच भेदों का उल्लेख किया है :

१. पृथ्वी; २. अप्; ३. तेजस् ४. वायु; और ५. वनस्पति।

इसी क्रम में त्रस के निम्न चार भेदों का उल्लेख किया है –

१. द्वीन्द्रिय; २. त्रीन्द्रिय;
३. चतुरिन्द्रिय और ४. पंचेन्द्रिय।

डॉ. सागरमल जैन की मान्यता है कि षड्जीवनिकाय का यह परवर्ती वर्गीकरण स्थावर एवं त्रसजीवों की अपेक्षा से न होकर एकेन्द्रिय आदि के वर्गीकरण के आधार पर किया गया है। इसमें सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मान लिया गया है। यहाँ हम इस विवाद में नहीं उलझना चाहेंगे। जो विद्वज्जन इस विषय की अधिक गहराई में प्रवेश करना चाहते हैं, उन्हें डॉ. सागरमल जैन के लेख 'षड्जीवनिकाय' में त्रस एवं स्थावर का वर्गीकरण देखना चाहिए।[२९९]

## १. संसारीजीव के भेद :

उत्तराध्ययनसूत्र के ३६वें अध्याय में संसारीजीव के सर्वप्रथम निम्न दो भेद उपलब्ध होते हैं : (१) त्रस और (२) स्थावर।[३००]

---

[२९४] उत्तराध्ययनसूत्र ३६/३०-३१।

[२९५] दशवैकालिकसूत्र ४/३१।

[२९६] 'गतित्रसेष्वन्तर्भाव विवक्षणात, तेजोवायुनां लब्ध्या सीवराणामपि सतां।'
–जीवाभिगम टीका १/१२ एवं ७५ (उद्धृत्- डॉ.सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ पृ. १३०)

[२९७] (क) तत्त्वार्थसूत्र (सर्वार्थसिद्धि टीका) २/१२;
(ख) वही (राजवार्तिक टीका) २/१२।

[२९८] पंचास्तिकाय ११०-१११।

[२९९] 'डॉ.सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ' पृ. १२६-१२८।

[३००] उत्तराध्ययनसूत्र ३६/६८ एवं १०७।

**त्रसजीव :** आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में बताया है कि जिन जीवों में त्रस नामकर्म के उदय से स्वयं के हलन-चलन की सामर्थ्य देखी जाती है; वे त्रसजीव कहलाते हैं।[३०१] जीवविचार में बताया है कि जो स्वेच्छा से गमन करते हैं अर्थात् जो धूप से छाया में और छाया से धूप में आते-जाते हैं अथवा सुख-दुःख के अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों में जो जीव स्वयं की इच्छानुसार गति कर सकते हैं वे त्रसजीव हैं।

**स्थावर के भेद :** स्थावर नामकर्म के उदय से जो जीव एक स्थान पर स्थिर रहते हैं; वे स्थावर जीव कहलाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र[३०२] तथा कर्मास्रव[३०३] में उमास्वाति ने स्थावर जीव के निम्न तीन भेद किये हैं :

(१) पृथ्वीकाय; (२) अप्काय और (३) वनस्पतिकाय।

किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में तेजस्काय एवं वायुकाय को मिलाकर पाँच भेद किये गये हैं। शान्तिसूरिरचित जीवविचार में इनके पाँच भेद ही किये गये हैं।[३०४]

## २. इन्द्रियों की अपेक्षा से संसारीजीव के भेद

इन्द्रियों की अपेक्षा से संसारीजीवों के निम्न पाँच भेद किये गये हैं :

(१) एकेन्द्रिय; (२) द्वीन्द्रिय; (३) त्रीन्द्रिय;
(४) चतुरिन्द्रिय; और (५) पंचेन्द्रिय।

## एकेन्द्रिय जीव

इनमें पुनः एकेन्द्रिय जीवों के निम्न पाँच भेद हैं :-

(१) पृथ्वीकाय - जो जीव पृथ्वीकाय स्थावर नामकर्म के उदय से पृथ्वीकाय में उत्पन्न होते हैं, वे पृथ्वीकायिक स्थावर एकेन्द्रिय

---

[३०१] 'त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसा' -सर्वार्थसिद्धि २/१२।
[३०२] उत्तराध्ययनसूत्र ३६/६८।
[३०३] 'पृथिव्यऽम्बुवनस्पतयःस्थावराः' -तत्त्वार्थसूत्र २/१३।
[३०४] जीवविचार (यशोविजयजी जैन पाठशाला) पृ. ५।

जीव कहलाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र[३०५] में पृथ्वीकाय के मुख्य दो भेद उपलब्ध होते हैं:

(१) सूक्ष्म और (२) बादर।

इनमें प्रत्येक के दो-दो भेद हैं – सूक्ष्म पर्याप्तक और सूक्ष्म अपर्याप्तक; बादर पर्याप्तक और बादर अपर्याप्तक – ऐसे कुल चार भेद होते हैं। इनमें सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है। बादर पृथ्वीकाय के जीव लोक के एक भाग में व्याप्त होकर रहे हुए हैं।[३०६]

(२) अप्कायिक – जो जीव अप्कायिक स्थावर नामकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं, उनका शरीर जलरूप होता हैं। सूँई की नोक की तरह इनका शरीर होता है। इनके भी चार भेद निम्न हैं – सूक्ष्म पर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक, बादर पर्याप्तक और बादर अपर्याप्तक।

(३) वनस्पतिकायः– जो जीव वनस्पति स्थावर नामकर्म के उदय से वनस्पतिकाय में जन्म लेते हैं वे वनस्पतिकायिक स्थावर एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। वनस्पतिकायिक के सूक्ष्म पर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक, बादर पर्याप्तक और बादर अपर्याप्तक – ऐसे चार भेद होते हैं। बादर वनस्पतिकाय के जीव मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं – प्रत्येक वनस्पतिकाय और साधारण वनस्पतिकाय।[३०७] उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार भावविजयजी के अनुसार एक शरीर में एक ही जीव हो, वह प्रत्येक वनस्पतिकाय कहलाता है। एक शरीर में अनेक जीव समान रूप से रहे हुए हों, वे साधारण वनस्पतिकाय कहलाते हैं।[३०८]

(४) अग्निकायिकजीवः– अग्निकायिक जीवों के शरीर तेजस् (अग्नि) से युक्त होते हैं। इनके चार भेद हैं –

१. सूक्ष्म पर्याप्तक २. सूक्ष्म अपर्याप्तक
३. बादर पर्याप्तक; और ४. बादर अपर्याप्तक।

बादर जीव अनेक प्रकार के होते हैं। जीवविचार में भी अग्निकायिक जीवों को स्थावर स्वीकार किया है। इनके निम्न

---

[३०५] उत्तराध्ययनसूत्र ३६/७० ।
[३०६] वही ३६/७१-७७ ।
[३०७] उत्तराध्ययनसूत्र ३६/९२-९३ ।
[३०८] उत्तराध्ययनसूत्र, गणिवर्य श्री भावविजय जी की टीका, पत्र ३३८९ ।

भेद हैं[३०९] :

१. अंगार की अग्नि; २. मुर्मुर; ३. ज्वाला;
४. उल्कापात की अग्नि; और ५. चिन्गारी, विद्युत आदि।

(५) वायुकायिकजीव – जिनका शरीर वायु नामकर्म के उदय से वायुकाय युक्त हो; वे वायुकायिकजीव कहलाते हैं। इनके मुख्य रूप से चार भेद हैं – सूक्ष्म पर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक, बादर पर्याप्तक और बादर अपर्याप्तक। बादर पर्याप्तक वायुकाय के जीव पाँच प्रकार के हैं; जैसे –

(१) उत्कलिकवायु; (२) मण्डलिकवायु;
(३) घनवायु; (४) गुंजवायु; और
(५) संवर्तकवायु।

उत्तराध्ययनसूत्र में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इन सब के अनेक भेद बताये गये हैं।

## द्वीन्द्रियजीव :

जिन जीवों के स्पर्शन और रसन दो इन्द्रियाँ होती हैं; वे द्वीन्द्रिय कहे जाते हैं। इनके पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे दो भेद होते हैं। वे जीव निम्न हैं – शंख, सीप, कोड़ी, गंडुल, अलसिया, चन्दनिया आदि।[३१०]

## त्रीन्द्रियजीव :

जिन जीवों के स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय – ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं, वे त्रीन्द्रियजीव कहलाते हैं। त्रीन्द्रियजीवों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक – ऐसे दो भेद होते हैं। वे निम्न हैं – चींटी, खटमल, मकड़ी, कानखजूरा, आदि।[३११]

---

[३०९] 'इंगाल, जाल, मुम्मुर उक्कासणि कणग विज्जुमाइआ।
अग्नि जियाण भेया, नायव्वा निउणबुद्धिए ।। ६ ।।' –जीवविचार गा. ६।

[३१०] उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१२७-३०।

[३११] वही ३६/१३६ एवं १३७-१३९।

## चतुरिन्द्रिय जीव :

जो जीव स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षु इन्द्रिय ऐसी चार इन्द्रियों से सम्पन्न होते हैं, वे चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं। इनके दो भेद हैं – बादर पर्याप्तक और बादर अपर्याप्तक। उत्तराध्ययनसूत्र एवं जीवविचार में[२६६] चतुरिन्द्रिय जीवों के निम्न भेद मिलते हैं – बिच्छू, मच्छर, भ्रमर, पतंग, कीट, झींगुर आदि।[३१२]

## पंचेन्द्रिय जीव :

जो जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र – इन पांचों इन्द्रियों से युक्त होते हैं, वे पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। इनके भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे दो भेद हैं। कर्मास्रव में मन की अपेक्षा से पंचेन्द्रिय जीव के निम्न दो भेद किये गये हैं – संज्ञी और असंज्ञी। वैसे संज्ञी पंचेन्द्रिय को छोड़कर शेष सभी जीव असंज्ञी माने जाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र[३१३] एवं प्रज्ञापनासूत्र[३१४१] में पंचेन्द्रिय जीव के ४ भेद प्राप्त होते हैं :

(१) नारक; (२) तिर्यंच;
(३) मनुष्य; (४) देव।[३१५]

संज्ञीजीव : जिन जीवों के मन होता है, वे संज्ञी जीव होते हैं।[३१६] संज्ञी जीव शिक्षा, क्रिया, उपदेश आदि को आत्मसात् करते हैं। उनमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक होता है।[३१७] नारक और देवगति के जीव संज्ञी होते हैं। लेकिन पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्यों में संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के जीव होते हैं।[३१८] इनमें जो गर्भज हैं, वे संज्ञी हैं।

---

३१२ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१४५-४८।
३१३ वही ३६/१५५।
३१४ प्रज्ञापनासूत्र १/५२। –उवंगसुत्ताणि, लाडनूं खण्ड २।
३१५ 'पंचेदिया य चउहा, नारय तिरिया मणुस्स देवाय।
नेरइया सत्तविहा, नायव्वा पुढवी भेएणं ।। १६ ।।' –जीवविचार।
३१६ 'सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः तदस्यातीति संज्ञी।' –धवला १,१,१,३५।
३१७ (क) सर्वार्थसिद्धि २/२४;
(ख) शिक्षाक्रियाकलापग्राहीसंज्ञी। –तत्त्वार्थवार्तिक ६/७/११।
३१८ द्रव्यसंग्रह टीका, गा. १२/३०।

असंज्ञीजीव : जिन जीवों के मन नहीं होता है, वे असंज्ञी जीव होते हैं। असंज्ञी जीव संज्ञी जीवों की तरह विवेकशक्ति से युक्त नहीं होते हैं। उन्हें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक नहीं होता है। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त तिर्यंचगति वाले जीव असंज्ञी ही होते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों एवं मनुष्यों में भी कुछ जीव असंज्ञी भी होते हैं। जैसे- संमूर्च्छिम मनुष्य।

## ३. भव्यात्मा की अपेक्षा से संसारीजीवों के भेद

### भव्यात्मा

जिस जीवात्मा में मुक्त होने की शक्ति निहित है, उसे भव्यात्मा कहा है। जैसे अनूकूल साधन मिलने पर भी कुछ मूँग में सीझने की योग्यता होती है और कुछ में नहीं होती है; वैसे ही कुछ जीवात्माओं में सम्यग्दर्शनादि निमित्त मिलने पर समस्त कर्मों को क्षय करके शुद्धात्मस्वरूप अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करने की योग्यता होती है और कुछ में नहीं होती। जिनमें मुक्ति की योग्यता होती है, उन्हें गोम्मटसार[३१९] एवं ज्ञानार्णव[३२०] आदि ग्रन्थों में भव्यात्मा कहा गया है।

### अभव्यात्मा

अभव्यात्मा में मुक्त होने की शक्ति नहीं होती है। जैसे कुछ मूँग में अनुकूल साधन मिलने पर भी सीझने की शक्ति नहीं होती है; वैसे ही अभव्यात्मा में मुक्ति की योग्यता नहीं होती और वह संसार में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करती रहती है।[३२१]

## ४. गति की अपेक्षा से संसारीजीव के भेद :

गति - जिस कर्म के उदय से जीव एक पर्याय का त्याग कर दूसरे पर्याय को उपलब्ध करता है उसे गति कहते है।[३२२] गतियों

---

[३१९] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ५५६ ।
[३२०] ज्ञानार्णव ६/२०, ६/२२ ।
[३२१] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ५५६-५५७ ।
[३२२] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. १४६ ।

की अपेक्षा से संसारी आत्मा के मुख्यरूप से चार भेद होते हैं –
(१) नरक; (२) तिर्यंच; (३) मनुष्य; और (४) देव।

(१) नरकगति : तत्त्वार्थभाष्य में पंडित सुखलालजी[३२३] लिखते हैं कि नारकों का निवासस्थान अधोलोक में है। उनके निवासस्थान को नरकभूमि कहते हैं। नारकी के जीव पापकर्मों के कारण भयंकर दुःखों को सहन करते हैं। गति, जाति, शरीर और अंगोपांग नामकर्म की अशुभ द्रव्य लेश्याओं के उदय से नरकगति में जीव जीवनपर्यन्त दुःखी रहता है। नरक में क्षेत्र स्वभाव से सर्दी–गर्मी के भयंकर दुःखों को सहना पड़ता है। भूख–प्यास का दुःख तो और भी भयंकर होता है। भूख इतनी सताती है कि अग्नि की भाँति सर्वभक्षण से भी शान्त नहीं होती और अधिक बढ़ जाती है। प्यास भी इतनी लगती है कि जितना जल पिया जाय उतना कम होता है। वे कभी तृप्त नहीं होते। नारकी के जीव जन्मजात एक दूसरे के शत्रु होते हैं। नारकी के जीव कर्मवश असहाय होकर सम्पूर्ण जीवन तीव्र वेदनाओं के अनुभव में ही बिताते हैं। वेदना कितनी ही अधिक हो पर नारकों के लिए न तो कोई शरण है और अनपवर्तनीय आयु के कारण जीवन भी जल्दी समाप्त नहीं होता। नरक के जीव नपुंसक एवं उपपाद जन्मयुक्त होते हैं।[३२४] नरक का वर्णन करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया है कि अधोलोक में नीचे क्रमशः सात पृथ्वियाँ निम्न हैं –

(१) रत्नप्रभा; (२) शर्कराप्रभा; (३) बालुकाप्रभा;
(४) पंकप्रभा; (५) धूमप्रभा; (६) तमःप्रभा; और
(७) तमःतमप्रभा।

इन सात नरक क्षेत्रों में उत्पन्न होने से नरक जीव भी सात प्रकार के होते हैं। तिर्यंच और मनुष्य ही नरकगति में उत्पन्न होते हैं। देव सीधे नारकी में उत्पन्न नहीं होते हैं। नारक जीव भी मृत्यु के पश्चात् पुनः नरक या देवगति में पैदा नहीं होते हैं। मध्य में तिर्यंच या मनुष्य का भव करते हैं। नारक जीवों का वैक्रिय शरीर होता है।[३२५]

---

[३२३] 'न देवाः औपपातिक चरमदेहोत्तमपुरुषाऽसङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।'
–तत्त्वार्थसूत्र भाष्यमानपाठ अ. २/५०–५२ ।

[३२४] तत्त्वार्थसूत्र २/३५ एवं ५०१ (पं. सुखलालजी, तत्त्वार्थभाष्य पृ. ८६) ।

[३२५] उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१५६–१५९ और १६९ ।

(२) तिर्यंचगति : उत्तराध्ययनसूत्र३२६ में तिर्यंच के दो भेद उपलब्ध हैं : (१) सम्मुर्च्छिम तिर्यंच; और (२) गर्भज तिर्यंच।

सम्मुर्च्छिम तिर्यंच – जो सम्मुर्च्छिम जीव माता-पिता के संयोग के बिना चौदह अशुचि स्थानों में उत्पन्न होते हैं; वे सम्मुर्च्छिम तिर्यंच जीव कहलाते हैं। सम्मुर्च्छिम तिर्यंच असंज्ञी होते हैं। इनके मन नहीं होता है। इस कारण वे नपुंसक होते हैं।

गर्भज तिर्यंच – जो जीव गर्भ से उत्पन्न होते हैं; वे गर्भज कहलाते हैं। गर्भज-तिर्यंच जल, थल एवं आकाश में गति करनेवाले होने से इनके तीन भेद मिलते हैं –

(१) जलचर; (२) थलचर; और (३) खेचर।[३२७]

जलचर :

जो जीव जल में गति करते हैं और उसी में रहते हैं; वे जलचर तिर्यंच जीव कहलाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र[३२८] की अपेक्षा से ये जीव पाँच प्रकार के होते हैं :

(१) मत्स्य; (२) कच्छप; (३) ग्राह;
(४) मकर; और (५) सुंषुमार।

थलचर :

पृथ्वी पर गति करनेवाले जीव थलचर कहे जाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र[३२९] में इनके मुख्यतः दो भेद बताये गये हैं :

(१) चतुष्पद; और (२) परिसर्प।

चतुष्पद थलचर के भेद :

(१) एकखुर अश्व; (२) द्विखुर अश्व;
(३) गण्डोद – हाथी; और (४) सनखपद – सिंह।

परिसर्पजीव के भेद :

(१) भुजपरिसर्प जैसे छिपकली, चूहा आदि;
(२) उरपरिसर्प साँप आदि।

खेचर :

उत्तराध्ययनसूत्र[३३०] में इनके चार भेद उपलब्ध होते हैं :

---

[३२६] वही ३६/१७० ।
[३२७] उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१७१ ।
[३२८] वही ३६/१७२ एवं १७८ ।
[३२९] वही ३६/१७९-८१ ।

(१) चर्मपक्षी; (२) रोमपक्षी;
(३) समुद्गपक्षी; और (४) विततपक्षी।

समुद्गपक्षी और विततपक्षी मनुष्य क्षेत्र के बाहर के द्वीपों में ही होते हैं।

## मनुष्यगति :

जो जीव मनुष्य योनि में उत्पन्न होते हैं वे मनुष्य कहलाते हैं। इनके उत्पत्ति की अपेक्षा से दो भेद प्राप्त हैं :

(१) सम्मुर्च्छिम; एवं (२) गर्भज।

क्षेत्र के अनुसार इनके निम्न तीन भेद हैं –
(१) १५ कर्मभूमिज; (२) ३० अकर्मभूमिज; एवं (३) ५६ अन्तर्द्वीपज।

इस प्रकार मनुष्यों के १०१ भेद होते हैं।

कर्मभूमिज – इस क्षेत्र में मनुष्य स्वपुरुषार्थ के आधार पर जीवनयापन करते हैं। जहाँ असि, मसि और कृषिरूप वृत्ति होती है; जहाँ राज्य-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था एवं धर्म-व्यवस्था होती है; वह क्षेत्र कर्मभूमि कहा जाता है। इस क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य कर्मभूमिज कहलाते हैं।

अकर्मभूमिज – जहाँ मनुष्य प्रकृति पर आधारित होता है, वह अकर्मभूमि क्षेत्र कहा जाता है। इस क्षेत्र में समाज-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था एवं असि, मसि और कृषि सम्बन्धी वृत्तियाँ नहीं होती हैं।

अन्तर्द्वीपज – हिमवन्त और शिखरी पर्वत के दोनों तरफ दो-दो दाढ़ाएँ लवण समुद्र में गई हुई हैं। इन आठ दाढ़ाओं के ऊपर सात-सात क्षेत्र रहे हुए हैं। वे ५६ अन्तर्दीप कहलाते हैं। समुद्र के अन्दर रहे हुए द्वीपों में रहने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज कहलाते हैं।[३३१]

## देवगति :

देवगति नामकर्म के उदय से देवगति में उत्पन्न होनेवाली आत्मा

---

[३३०] वही ३६/१९५-९७।
[३३१] जीवविचार अर्थसहित पृ. ९७। –श्री यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला।

को देव कहा जाता है। जीव अशुभ कर्मों का त्याग करके एवं शुभकर्मों के आचरण से देवगति को उपलब्ध करता है। देवता उपपाद जन्मवाले एवं वैक्रिय शरीरी होते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र[३३२] और कर्मास्रव[३३३] में देवता के चार भेद मिलते हैं :

(१) १० भवनपति; (२) ८ व्यन्तर;
(३) ५ ज्योतिषी; और (४) २ वैमानिक।

इन चार भेदों के अवान्तर भेद पच्चीस होते हैं।[३३४]

## १.७ आत्मा के पंचभाव :

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र[३३५] में आत्मा के पंच-भावों का वर्णन किया है; वे भाव इस प्रकार हैं :

(१) औपशमिक; (२) क्षायिक; (३) क्षायोपशमिक;
(४) औदयिक; और (५) पारिणामिक।

सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद के अनुसार ये पंचभाव आत्मा के स्वतत्त्व कहलाते हैं;[३३६] क्योंकि ये पंचभाव आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं होते हैं। कर्मास्रव में पण्डित सुखलालजी[३३७] कहते हैं कि औपशमिक आदि पंच-भाव आत्मा के स्वभावरूप हैं। किन्तु सांख्य और वेदान्त दर्शन जो आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानते हैं, वे आत्मा में परिणमन स्वीकार नहीं करते हैं। वे ज्ञान, सुख-दुःखादि परिणामों को प्रकृति या अविद्या का ही परिणाम मानते हैं। वैशेषिक और नैयायिक ज्ञान आदि को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं; उसका स्वरूप लक्षण नहीं मानते हैं। बौद्धदर्शन ने आत्मा को एकान्त क्षणिक या परिणामी तथा प्रवाहरूप माना है। जैनदर्शन का कथन है कि जैसे प्राकृतिक जड़-पदार्थों में न कूटस्थ-नित्यता है न एकान्त-क्षणिकता, किन्तु परिणामी नित्यता

---

[३३२] 'चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उव्वज्जई ।' -उत्तराध्ययनसूत्र ७/२९ ।
[३३३] तत्त्वार्थसूत्र ४/१ ।
[३३४] 'दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो ।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ।। २०५ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३६ ।
[३३५] तत्त्वार्थसूत्र २/१ ।
[३३६] सर्वार्थसिद्धि २/१ ।
[३३७] तत्त्वार्थसूत्र विवेचन - पंडित सुखलालजी भाष्यमान्य पाठ पृ. ४६-५० ।

है; वैसे ही आत्मा भी परिणामी-नित्य है। देशकालादि निमित्त से तीनों कालों में मूल वस्तु के कायम रहने पर भी परिवर्तन होता रहता है; क्योंकि आत्मा परिणामी-नित्य है। इसी कारण सुख, दुःख आदि आत्मा के ही पर्याय हैं। पर्याय बदलती रहती हैं। पर्यायों की कालक्रम में जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं, वही द्रव्य का परिणामी पक्ष है। कुछ पर्याय एक अवस्था में तो कुछ किसी दूसरी अवस्था में होती हैं। सभी पर्याय एक साथ एक अवस्था में नहीं होते। आत्मा की पर्याय अधिक से अधिक पाँच भावोंवाली हो सकती है। वे इस प्रकार हैं :

(१) औपशमिकभाव[३३८] : औपशमिकभाव उपशम से उत्पन्न होता है। उपशम एक प्रकार की आत्मविशुद्धि है। कर्मों का उदय कुछ समय तक रोक देना या उनका प्रभाव शान्त हो जाना उपशम कहलाता है।[३३९] आचार्य पूज्यपाद[३४०] इसे एक उदाहरण के द्वारा समझाते हैं कि जैसे मलिन पानी में कतक को घुमाने से कुछ समय बाद कचरा नीचे बैठ जाता है, लेकिन वह पूर्णतः नष्ट नहीं होता - नीचे दबा हुआ रहता है; उसी प्रकार कर्म के उदय को रोकनेवाले कारणों के संयोग से कर्मों का प्रभाव कुछ समय तक रुक जाता है। वह उपशम कहलाता है। उपशम से होनेवाला भाव औपशमिक कहलाता है। जीव के कर्मों का उदय जब तक रुकता है; तब तक यह भाव रहता है। इसमें स्थायित्व का अभाव होता है। उपशमित कर्म प्रकृतियाँ कभी भी पुनः जागृत होकर उदय में आ सकती हैं। यह भाव जीव को उस समय तक रहता है, जब तक उसके कर्मों का पुनः उदय नहीं हो जाता। उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र में औपशमिक भाव के दो भेदों का उल्लेख मिलता है :

(१) औपशमिक सम्यक्त्व; और (२) औपशमिक चारित्र।[३४१]

किन्तु षड्खण्डागम की धवला टीका में औपशमिक भाव के

---

[३३८] 'प्रतिपक्षकर्मणामुदयाभाव उपशमः, उपशमे भव औपशमिकः।'
-गोम्मटसार जी. गा. ८ जी.प्र. टीका।

[३३९] अध्यात्मकमल मार्तण्ड ३/८।

[३४०] सर्वार्थसिद्धि २/१।

[३४१] तत्त्वार्थसूत्र २/३ (विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य सर्वार्थसिद्धि)।

अनेक भेदों की चर्चा उपलब्ध होती है।[३४२]

(२) क्षायिकभाव : क्षायिकभाव कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है। यह आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था है। ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों का सदा के लिए आत्मा से अलग हो जाना ही क्षय कहलाता है।[३४३] जैसे फिटकरी को पानी में घुमाने से कचरा उपशान्त हो जाता है, किन्तु मैल के सर्वथा निकल जाने पर जल नितान्त स्वच्छ हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा से इन अष्टकर्मों की सम्पूर्णतः निवृत्ति हो जाना या कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाना क्षायिकभाव कहलाता है।[३४४] कर्मास्रव में क्षायिक भाव के नौ भेद मिलते हैं; वे इस प्रकार हैं –

(१) क्षायिकज्ञान; (२) क्षायिकदर्शन;
(३) क्षायिकदान; (४) क्षायिकलाभ;
(५) क्षायिकभोग; (६) क्षायिकउपभोग;
(७) क्षायिकवीर्य; (८) क्षायिकसम्यक्त्व; और
(९) क्षायिकचारित्र।

ये क्षायिकभाव ही मोक्ष के कारण हैं। ये सभी भाव अरिहन्तों एवं सिद्धों में पाये जाते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म का नाश होने पर क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान) उत्पन्न होता है।[३४५] दर्शनावरणीयकर्म के क्षीण होने पर क्षायिकदर्शन (अनन्तदर्शन) उद्भूत होता है। अन्तरायकर्म के पूर्णतः नष्ट होने पर दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य – ये पंच क्षायिकभाव आविर्भूत होते हैं। इसी तरह सम्यग्दर्शन का घात करनेवाली सातों कर्म प्रकृतियों के सर्वथा क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्रमोहनीय का सर्वथा क्षय होने पर क्षायिकचारित्र प्रकट होता है। ये अनन्तज्ञानादिक नौ भाव तेरहवें गुणस्थान में ही प्रकाशित हुआ करते हैं।[३४६] यह यथार्थ बोध स्थाई होता है। शास्त्रीय भाषा में सादि एवं अनन्त होता है।

---

[३४२] षड्खण्डागम (धवलाटीका) १४/५/६/१७।
[३४३] (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) प्र. टीका, गा. ८ पृ. २९;
(ख) धवला १/१/१/२७।
(ग) 'खीणम्मि खयियभावो दु।' -गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. ८१४।
[३४४] सर्वार्थसिद्धि २/१।
[३४५] तत्त्वार्थसूत्र १०/४। -विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य सर्वार्थसिद्धि आदि टिकाएँ।
[३४६] तत्त्वार्थसूत्र १०/४। -विस्तृत वर्णन के लिए दृष्टव्य सर्वार्थसिद्धि आदि टिकाएँ।

(३) क्षायोपशमिकभाव : कर्मास्रव विवेचन में पण्डित सुखलालजी कहते हैं कि मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्यवज्ञानावरण के क्षयोपशम से क्रमशः मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यायज्ञान का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार तीनों प्रकार के अज्ञान अर्थात् मति अज्ञानावरण, श्रुत अज्ञानावरण और विभंग अज्ञानावरण भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं। फलतः चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन का आविर्भाव होता है। ये अज्ञान भी मिथ्या-ज्ञानरूप होने से ज्ञानावरण के क्षयोपशम के कारण ही माने गये हैं। पंचविध अन्तराय के क्षयोपशम से दान, लाभ आदि पाँच लब्धियों का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क तथा दर्शनामोहनीय के क्षयोपशम से सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के कषायों के क्षयोपशम से चारित्र (सर्वविरति) का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि अष्टविध कषाय के क्षयोपशम से संयमासंयम (देशविरति) का आविर्भाव होता है। इस प्रकार मतिज्ञान आदि अट्ठारह पर्यायें क्षायोपशमिक हैं। ये क्षायोपशमिकभाव औपशमिक भावों की अपेक्षाकृत अधिक समय तक अवस्थित रह सकते हैं।[३४७] क्षायोपशमिक भाव को मिश्रभाव भी कहते हैं। यह भाव कर्मों के अंशरूप क्षय और अंशरूप उपशम से उत्पन्न होता है। इसमें सम्पूर्णतः न तो कर्मों का क्षय होता है और न ही उपशम होता है।[३४८] तत्त्वार्थवार्तिक[३४९] में आचार्य अकलंकदेव क्षायोपशमिक भाव को निम्न उदाहरण से समझाते हैं : जैसे कोदों को धोने से कोदों की मादकता आंशिक रूप से नष्ट हो जाती है और आंशिक रूप से बनी रहती है; ठीक वैसे ही कर्मों के आंशिक क्षय और आंशिक उपशम से क्षायोपशमिक भाव होता है।

(४) औदयिकभाव[३५०] : आगमों में औदयिकभाव के इक्कीस भेद बताये गये हैं। गति नामकर्म के उदय का फल नरक, तिर्यंच,

---

[३४७] वही – भाष्य मान्यपाठ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् अ. २, सू. ४ ।

[३४८] 'तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः ।' –धवला १/१/१/८ ।

[३४९] 'स्वस्थिति क्षयावशादुदयनिषेके गलतां कार्मणस्कन्धानां फलादानपरिणतिरुदयः उदये भवः औदयिकः ।' –गोम्मटसार जीव गा. ८ ।

[३५०] वही ।

मनुष्य और देव ये चार गतियाँ हैं। कषायमोहनीय के उदय से क्रोध, मान, माया और लोभ – ये चार कषाय पैदा होते हैं। वेदमोहनीय के उदय से स्त्री, पुरुष और नपुसंकवेद अर्थात् तत्सम्बन्धी वासना का उदय होता है। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से मिथ्यादर्शन का उदय होता है। अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के उदय का फल है। असंयत्त्व अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के चारित्र मोहनीय के उदय का परिणाम है। असिद्धत्व, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र आदि के उदय का परिणाम है। कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल – ये छः लेश्याएँ कषाय के उदय अथवा योगजनक शरीर नामकर्म के उदय का परिणाम है। इस तरह से गति आदि इक्कीस पर्याय औदायिक हैं। आत्मप्रदेशों में मन, वचन और काया के योग से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय होता रहता है। सत्वकर्म अर्थात् सत्ता में रहे हुए संचित कर्म विपाकोदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से फल प्रदान करते हैं।[३५१] जब कर्मों का उदय होता है तब आत्मा की स्वाभाविक शक्ति आवृत्त होती है एवं उसके परिणाम भी कर्मप्रकृति की भाँति हो जाते हैं। कर्मों के उदय से होने वाला आत्मा का भाव औदयिक भाव कहा जाता है।[३५२]

(५) पारिणामिकभाव[३५३] : जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व – ये तीन भाव स्वाभाविक हैं। ये आत्मा के असाधारण पारिणामिक भाव हैं। ये न तो कर्मों के उदय से, न उपशम से, न क्षय से और न क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं। ये जीव के अस्तित्व से ही सिद्ध हैं। अतः ये पारिणामिकभाव हैं। ये पारिणामिक भाव तीन ही नहीं अपितु अनेक प्रकार के हैं – अस्तित्व, अनन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणत्वं, प्रदेशत्व, असर्वगत्व, असंख्यात, प्रदेशत्व, अरूपत्व आदि।[३५४] इनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव अशुद्ध पारिणामिक भाव हैं, क्योंकि ये संसार दशा में हैं।

---

[३५१] (क) सर्वार्थसिद्धि २/१;
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवत्व प्रदीपिका ८ ।

[३५२] (क) तत्त्वार्थवार्तिक २/१/६;
(ख) 'कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः ।' –धवला १/१/१/८ ।

[३५३] 'उदयादिनिरपेक्षः परिणामः तस्मिन् भवः पारिणामिकः ।' –गोम्मटसार जीवप्रकरण गा. ८ ।

[३५४] तत्त्वार्थसूत्र (पं.सुखलालजी विवेचन) २/७ पृ.४६ ।

ज्ञाता-द्रष्टापन शुद्ध पारिणामिक भाव है, क्योंकि ये सिद्धों में भी होते हैं। आत्मा का पारिणामिक भाव ही आत्मा को जड़-द्रव्यों से अलग करता है। यह पारिणामिक भाव कर्मजन्य नहीं है।[३५५] पंचाध्यायी में कर्मों के उदय, उपशमादि इन चारों ही अपेक्षाओं से रहित मात्र द्रव्य स्वरूपवाले पारिणामिक भाव का उल्लेख मिलता है।[३५६] पूज्यपाद[३५७] और अकलंकदेव[३५८] ने भी पारिणामिक भावों की समीक्षा की है। उनके अनुसार ये पारिणामिक भाव अनादि, अनन्त निरुपाधिक और स्वाभाविक होते हैं।[३५९] जीव के ज्ञान-दर्शन गुण पारिणामिक भाव हैं।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - इन तीनों भावों को दो भागों में विभक्त किया गया है -

(क) शुद्ध पारिणामिक भाव; और (ख) अशुद्ध पारिणामिक भाव।

(१) शुद्ध पारिणामिक भाव : शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा का शुद्ध पारिणामिक भाव एक जीवत्व ही है, क्योंकि यह आत्मद्रव्य का चैतन्य रूप परिणमन है।[३६०] पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में जीवत्व का अर्थ चैतन्य बताया है कि यह जीवत्व भाव शुद्ध आत्मा का परिणाम है।[३६१]

(२) अशुद्ध पारिणामिक भाव : अशुद्ध पारिणामिक भाव पर्यायाश्रित होते हैं और ये विनाशशील भी होते हैं। पर्यायार्थिकनय के अनुसार ये तीन प्रकार के हैं :

(१) जीवत्व; (२) भव्यत्व; और (३) अभव्यत्व।

कर्मजनित दस प्रकार की प्राण रूप पर्याय अशुद्ध पारिणामिक भाव है। तीनों अशुद्ध पारिणामिक भाव व्यवहारनय की अपेक्षा से होते हैं, किन्तु शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से नहीं होते। मुक्त जीवों में अशुद्ध पारिणामिक भावों का अभाव होता है।[३६२]

---

[३५५] तत्त्वार्थवार्तिक २/१/६ ।
[३५६] पंचाध्यायी ६७१ ।
[३५७] सर्वार्थसिद्धि २/७ ।
[३५८] तत्त्वार्थवार्तिक २/७/६ ।
[३५९] पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिका ५८ ।
[३६०] तत्त्वार्थवार्तिक २/७/६ ।
[३६१] सर्वार्थसिद्धि २/७ ।
[३६२] द्रव्यसंग्रह टीका १३ ।

वीरसेन ने धवला में कहा है कि अशुद्ध पारिणामिक भाव प्राणों को धारण करने के कारण अयोगी के अन्तिम समय से आगे नहीं होते। सिद्धों में इनका अभाव होता है।[३६३]

उपर्युक्त इन पंच भावों में से औदयिक भाव आत्मा के बन्धन का कारण है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव आत्मा के मोक्ष के हेतु हैं, किन्तु पारिणामिक भाव[३६४] बन्ध और मुक्ति दोनों का हेतु नहीं है।

## १.८ बन्धन और उसके कारण

जैनदर्शन में नवतत्त्वों में बन्ध और मोक्ष को भी तत्त्व रूप में स्वीकार किया गया है। संसार में कर्मबन्ध की यह प्रक्रिया निरन्तर चल रही है। पूर्व-कर्म संस्कार समय-समय पर उदित होकर हमारी चेतना को विकारी बनाते हैं। उसके परिणामस्वरूप मन, वचन और शरीर - इन तीनों का क्रियारूप व्यापार होता है। फलतः नवीन कर्मास्रव होकर कर्मबन्ध होता है। सूत्रकृतांग के प्रथम अध्याय के प्रथम उद्देशक की टीका में बताया गया है :

"बध्यते परतन्त्री क्रियते आत्माऽनेनेति बन्धम्।"

जिसके द्वारा आत्मा को परतन्त्र बना दिया जाता है; वह बन्धन है। सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा से लेकर छठी गाथा तक बन्धन और बन्धन से मुक्ति का विवेचन किया गया है। प्रथम गाथा में बन्धन को जानकर उसे तोड़ने की बात कही गई है। दूसरी से चौथी गाथा तक बन्धन के कारणों की चर्चा की गई है तथा पाँचवी और छठी गाथा में बन्धन से छूटने के उपाय बताये गये हैं। कर्म सिद्धान्त जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। डॉ. लालचंद जैन "जैनदर्शन में आत्मविचार" नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि "संसारी आत्मा कर्मों से जकड़ी हुई होने के कारण परतन्त्र है। इसी परतन्त्रता का नाम बन्ध है।"[३६५] भारतीयदर्शन की प्रसिद्ध उक्ति है *'कर्मणा बध्यते जन्तुः'* अर्थात् प्राणी कर्म के

---

[३६३] धवला १४/५/६/१६ ।

[३६४] वही ७/२/१/७ ।

[३६५] 'बध्यतेऽनेन बन्धमात्रं वा बन्धः ।' -तत्त्वार्थवार्तिक १/४/१० ।

कारण बन्धन को प्राप्त होते हैं। समस्त भारतीय दार्शनिकों ने कर्मों के कारण संसारी आत्मा के बन्धन की परिकल्पना की है। दो या दो से अधिक पदार्थों का एक-दूसरे से मिल कर संश्लिष्ट अवस्था को प्राप्त होना ही बन्ध कहलाता है। कर्मास्रव के ८वें अध्याय में आचार्य उमास्वाति ने बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है: "कषाययुक्त जीव के द्वारा कर्म-पुद्गलों का जो ग्रहण होता है वही बन्ध है।"[३६६] बन्ध के स्वरूप को परिभाषित करते हुए पूज्यपाद देवनन्दी कहते हैं कि जिस प्रकार सोने और चाँदी को एक साथ पिघलाने पर उन दोनों के प्रदेश मिलकर संश्लिष्ट हो जाते हैं; उसी प्रकार कर्मप्रदेश और आत्मप्रदेश का परस्पर क्षीर और नीर की तरह मिल जाना बन्ध है।[३६७] जब पुद्गल द्रव्य के कर्मयोग्य परमाणु आत्मप्रदेशों के साथ मिल जाते हैं तो आत्मा का स्वरूप विकृत हो जाता है। उसका शुद्ध स्वरूप आवरित हो जाता है, यही बन्धन है।

## १. बन्ध के प्रकार

बन्ध के मुख्यतया चार प्रकार हैं -

(१) प्रकृति बन्ध; (२) स्थितिबन्ध;
(३) अनुभागबन्ध; और (४) प्रदेशबन्ध।

(१) प्रकृतिबन्ध : आत्मा से बद्ध होनेवाले कर्मों में किस कर्म का क्या स्वभाव है? वह आत्मा के किस गुण को प्रभावित करेगा? इस आधार पर कर्मों के वर्गीकरण का नाम ही प्रकृतिबन्ध है। सामान्य रूप से ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलों का जो स्वभाव होता है, उसे प्रकृति कहते हैं;[३६८] जैसे ज्ञान को रोकना ज्ञानवरणीय कर्म का स्वभाव है और दर्शन को रोकना दर्शनावरणीय कर्म का स्वभाव है। कर्मों की ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र, आयुष्य एवं

---

[३६६] 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते । स बन्धः ।' -तत्त्वार्थसूत्र ८/२ ।

[३६७] (क) सर्वार्थसिद्धि १/४ पृ. १४ ।
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक १/४/१७ ।

[३६८] 'प्रकृतिः स्वभावः ।' -सर्वार्थसिद्धि ८/३ पृ. ३७८ ।

अन्तराय – ये आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। जैसे कोई लड्डू बहुत प्रकार के द्रव्यों के संयोग से बनता है – उन द्रव्यों के कारण वह वात, पित्त और कफ को दूर करता है; वैसे ही आठों कर्म पुद्गलों का जो स्वभाव होता है, वह प्रकृतिबन्ध है।[३६९]

(२) स्थितिबन्ध : *"कालावधारणा स्थितिः"* अर्थात् कौनसा कर्म कितने समय तक आत्मा से सम्बद्ध रहेगा? किस अवधि तक वह अपना फल देता रहेगा? ऐसी अवस्था का नाम स्थितिबन्ध है। शास्त्रों में कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति एवं जघन्य स्थिति की चर्चा उपलब्ध होती है। कषायपाहुड[३७०] में भी कहा गया है– "जितने समय तक कर्मरूप पुद्गल–परमाणु आत्मा के प्रदेशों में स्थित रहते हैं उस काल की मर्यादा को स्थितिबन्ध कहते हैं।" आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि काल विशेष तक अपने स्वभाव से च्युत न होना ही स्थिति है। जिस प्रकार गाय, भैंस आदि का दूध काल विशेष तक ही माधुर्य स्वभाव से च्युत नहीं होता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों के कारण वस्तु तत्त्व का ज्ञान जब तक नहीं होता है; उस काल मर्यादा को स्थितिबन्ध कहा जाता है।[३७१] वीरसेन[३७२] ने भी कहा है कि योग के कारण कर्मरूप से परिवर्तित पुद्गल–स्कन्धों का कषाय के कारण जीव में एक रूप होकर रहने का कारण स्थितिबन्ध है।

(३) अनुभागबन्धः– *"विपाकोऽनुभागः"* अर्थात् कर्मों के विपाक (फल) को अनुभाग कहते हैं। अनुभाग, अनुभाव और फल ये सब पर्यायार्थी शब्द हैं। विपाक दो प्रकार का होता है :

(क) कषाय के तीव्र परिणामों से कर्मबन्ध होगा तो उसका विपाक भी तीव्र होगा; और

(ख) मन्द परिणामों से कर्मबन्ध होगा तो उसका विपाक मन्द होगा।

यथार्थ में कर्म जड़ है तो भी पथ्य एवं अपथ्य आहार की तरह उनसे जीव को क्रियाओं के अनुसार फल की प्राप्ति हो जाती

---

[३६९] ज्ञानावरणाधाष्टविधकर्मणां तत्तद्योग्यपुद्गलद्रव्यस्वीकारः प्रकृतिबन्धः।-नियमसार तात्पर्यवृत्ति ४० ।

[३७०] कषायपाहुड ३/३५८ ।

[३७१] सर्वार्थसिद्धि ८/३ ।

[३७२] धवला पु. ६, सं. १ भाग ६/६, सूत्र २ ।

है। कर्मफल के लिए किसी ईश्वर आदि की आवश्यकता नहीं है।[३७३]

(४) प्रदेशबन्धः- *"दलसंचयः प्रदेशः"* अर्थात् कर्मों के दल संचय को प्रदेशबन्ध कहते हैं। दूसरे शब्दों में योग के निमित्त से कर्मवर्गणाओं का आत्म-प्रदेशों के साथ सम्बन्ध होना ही प्रदेशबन्ध है। सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि कर्म पुद्गलों की संख्या का निर्धारण प्रदेशबन्ध है - अर्थात् कर्म रूप में परिणत पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या का निश्चय होना प्रदेशबन्ध कहलाता है।[३७४]

## २. बन्ध के भेद

तत्त्वार्थवार्तिक में आचार्य अकलंक ने बन्ध का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है।[३७५] सामान्य की अपेक्षा से बन्ध एक ही प्रकार का है। किन्तु विशेष की अपेक्षा से बन्ध के दो भेद होते हैं :

(१) द्रव्यबन्ध; और (२) भावबन्ध।[३७६]

(१) द्रव्यबन्ध - ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गलों का आत्म प्रदेशों से नीर-क्षीरवत् मिल जाना द्रव्यबन्ध कहलाता है।[३७७]

(२) भावबन्ध - आत्मा के जो अशुद्ध चेतन परिणाम राग-द्वेष मोह और क्रोधादि कषायरूप हैं और जिनसे ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गल आते हैं; वे भावबन्ध हैं।[३७८]

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार[३७९] में कहा है कि उपयोगस्वरूप जीव के जो राग-द्वेष, मोह आदि हैं, वे बन्ध के भाव

---

[३७३] तत्त्वार्थसूत्र ८/२४ ।

[३७४] (क) सर्वार्थसिद्धि ८/१३ पृ. ३७९;
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक ८/१३/३ ।

[३७५] तत्त्वार्थवार्तिक १/७/१४; ८/४/१५ ।

[३७६] वही २/१०/२ पृ. १२४ ।

[३७७] 'आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः ।' -सर्वार्थसिद्धि १/४ पृ. १४ ।

[३७८] (क) 'क्रोधादि परिणामवशीकृतो भावबन्धः ।' -तत्त्वार्थवार्तिक २/१०० पृ. १२४ ।
(ख) 'बन्ध्यते अस्वतन्त्रीक्रियन्ते कार्मणंद्रव्यायेन परिणमेन आत्मनः स बन्धः ।'
-भगवतीआराधना विजयोदया टीका ३८/१३४ ।

[३७९] प्रवचनसार २/८३ ।

कारण हैं। आचार्य नेमिचन्द्र द्रव्यसंग्रह[३८०] में कहते हैं कि चेतन के जिन परिणामों से कर्मबन्ध होता है, वे ही भावबन्ध कहलाते हैं। द्रव्यसंग्रह की टीका में ब्रह्मदेव लिखते हैं कि मिथ्यात्ववादि परिणामों के कारण जो ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं; उन्हें ही भावबन्ध कहा गया है।[३८१] कर्मास्रव[३८२] में बन्ध के यही ४ भेद बतलाए गये हैं।

## ३. जैनेतर (अन्य) दर्शनों में बन्ध के कारण

आत्मा कर्मों से क्यों बँधता है? बन्ध के कारण क्या हैं? ये प्रश्न दार्शनिकक्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। वैदिक दार्शनिकों ने अज्ञान या मिथ्याज्ञान को ही बन्ध का कारण माना है। न्यायसूत्र[३८३] में गौतमऋषि ने मिथ्याज्ञान को समस्त दुःखों का कारण माना है। मिथ्याज्ञान ही मोह है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वेदनादि के अनात्म होने पर भी उनके प्रति इनमें "मैं ही हूँ" या "ये मेरे हैं" – ऐसी बुद्धि रखना भी मिथ्याज्ञान या मोह है। ये कर्मबन्धन के कारण हैं। न्यायवैशेषिक[३८४] दार्शनिकों का भी यही मन्तव्य है कि मिथ्याज्ञान ही बन्धन का मूल कारण है। सांख्यकारिका में भी प्रकृति और पुरुष विषयक विपर्ययज्ञान ही बन्ध का कारण माना गया है।[३८५] योगदार्शनिकों ने क्लेश को बन्ध का कारण माना है।[३८६] अद्वैत वेदान्तदर्शन में अविद्या को बन्ध का कारण माना गया है।[३८७]

---

[३८०] 'वज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो। -द्रव्यसंग्रह गा. ३२।
[३८१] द्रव्यसंग्रह टीका गा. ३२ पृ. ९१।
[३८२] तत्त्वार्थसूत्र ८/३।
[३८३] (क) न्यायसूत्र १/१/२/ ४/१ १३-६;
(ख) न्यायभाष्य ४/२/१।
[३८४] प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ५३८।
[३८५] सांख्यकारिका, ४४, ४७ एवं ४८।
[३८६] योगदर्शन २/३१४।
[३८७] 'भारतीय दर्शन', अद्वैतवेदान्त प्रकरण। -सम्पा. डॉ. न.कि. देवराज।

## ४. जैनदर्शन में कर्मबन्ध के कारण

जैन दार्शनिकों ने कर्मबन्ध के कारणों की संख्या एक से लेकर पाँच तक बताई है।[३८८] प्रज्ञापनासूत्र में भगवान् महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा है कि ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीयकर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीयकर्म के तीव्रोदय से दर्शन-मोहनीय कर्म का तीव्र उदय होता है और दर्शनमोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का तीव्र उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्म बाँधता है।[३८९]

वैदिकदर्शनों की तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अज्ञान को बन्ध का प्रमुख कारण माना है। किन्तु समयसार में एक अन्य स्थल पर उन्होंने राग, द्वेष और मोह को बन्ध का वास्तविक कारण बताया है। पुनः इसी ग्रन्थ में एक स्थल पर उन्होंने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग - इन चार को कर्मबन्ध का कारण माना है।[३९०]

आचार्य नेमिचन्द ने गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में भी मिथ्यात्ववादि इन्हीं चारों को कर्मबन्ध का कारण माना है।[३९१] मूलाचार में वट्टकेर ने इन्हीं मिथ्यात्वादि चार कारणों को बन्ध का हेतु माना है।[३९२] रामसेन ने तत्त्वानुशासन में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र को बन्ध का कारण माना है।[३९३] स्थानांगसूत्र, समवायांग एवं कर्मास्रव में कर्मबन्ध के पाँच कारण माने गये हैं :

(१) मिथ्यात्व; (२) अविरति; (३) प्रमाद;

---

[३८८] (क) समयसार गा. २५९ और १५३;
(ख) वही आत्मख्याति टीका गा. १५३ ।

[३८९] उद्धृत 'जैनदर्शन, मनन और मीमांसा' पृ. २८३ ।

[३९०] (क) समयसार गा. २३७ एवं २४१;
(ख) वही गा. १०९ एवं १७७ ।

[३९१] गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. ७८६ ।

[३९२] 'मिच्छादसणं अविरदि कसाय जोगा हवंति बंधस्स ।
आउसज्झवसाणं हेदवो ते दु णायव्वा ।। ९ ।।' -मूलाचार २ ।

[३९३] 'स्युर्मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि समासतः ।
बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्र्याणामेव विस्तरः ।। ८ ।।' -तत्त्वानुशासन ।

(४) कषाय; और (५) योग।[३९४]

समवायांग में ही अन्यत्र कषाय और योग को कर्मबन्ध का कारण कहा गया है।[३९५] योग से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है तथा कषाय से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है।[३९६] गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)[३९७], द्रव्यसंग्रह[३९८] आदि में भी यही कहा गया है।

(१) मिथ्यात्व : वीतराग द्वारा बताये गये तत्त्वों पर श्रद्धा न होना अथवा विपरीत तत्त्वश्रद्धा का होना ही मिथ्यात्व है।[३९९] भगवतीआराधना[४००] एवं सर्वार्थसिद्धि[४०१] में कहा गया है कि जीवादि पदार्थों का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है। कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यास की दृष्टि से यह तीन प्रकार का होता है।[४०२]

(२) अविरति : विरति का अभाव अविरति है।[४०३] सर्वार्थसिद्धिकार ने विरति का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरत होना विरति है और इनसे विरत नहीं होना अविरति है। चारित्र-मोह के कारण अविरति का उदय होता है, तब व्रतों के विपरीत आचरण होता है। व्रतों का पालन नहीं करना ही अव्रत है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हिंसादिक पाँच पापों का त्याग नहीं होना ही अविरति (अव्रत) है।[४०४] ब्रह्मदेव ने भी कहा है कि

---

[३९४] (क) उद्धृत 'जैनदर्शनः स्वरूप और विश्लेषण' पृ. ४३२ ।
(ख) तत्त्वार्थसूत्र ९/१ ।

[३९५] समवायांग २ ।

[३९६] 'जोगा पयडि-पएसा ठिदिअनुभागा कसायदो कुणदि ।' -सर्वार्थसिद्धि ८/३ ।

[३९७] गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गाथा २५७ ।

[३९८] 'पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधे वंधो
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ।' -द्रव्यसंग्रह गा. ३३ ।

[३९९] वही, गा. ४२, पृ. ७९ ।

[४००] भगवतीआराधना, गा. ५६ ।

[४०१] (क) सवार्थसिद्धि २/६;
(ख) नयचक्र, गा. ३०३ ।

[४०२] सर्वार्थसिद्धि १/३२ ।

[४०३] वही ८/१ ।

[४०४] सर्वार्थसिद्धि ७/१ ।

अन्तरंग में अपने परमात्मवरूप की भावना एवं परमसुखामृत में उत्पन्न प्रीति के विपरीत बाह्य विषयों में रुचि एवं व्रत आदि का पालन न करना अविरति है।[४०५] बारसअणुवेक्खा में भी अविरति के उपरोक्त पाँच भेदों का उल्लेख मिलता है।

(३) प्रमाद : आलस्य अथवा कार्य के प्रति सजगता का अभाव ही प्रमाद है। दूसरे शब्दों में अध्यात्म के प्रति अनुत्साह होना ही प्रमाद है। मोहनीयकर्म के कारण प्रमाद होता है और प्रमाद के कारण जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में आलस्य करता है। आचार्य पूज्यपाद[४०६], अकलंकदेव[४०७] आदि ने कषाययुक्त अवस्था में शुभ कार्यों में आलस्य रखने को ही प्रमाद कहा है। वीरसेन[४०८] ने चारों संज्वलन कषायों और हास्य आदि उप-नोकषायों के तीव्र उदय को भी प्रमाद कहा है।

(४) कषाय : आत्मा के वे कलुषित मनोभाव हैं, जो कर्मों के संश्लेष के कारण होते हैं। वे कषाय कहे जाते हैं।[४०९] ये भाव आत्मा के शुद्ध स्वरूप को कलुषित करते हैं। इसी कारण से क्रोधादि कलुषित भावों को कषाय कहा जाता है। कषाय सम्यक्चारित्र की उपलब्धि में बाधक हैं। संक्षेप में मोहकर्म के उदय से होने वाले जीव के क्रोध, मान, माया और लोभरूप परिणाम ही कषाय कहलाते हैं।

(५) योग : जैनदर्शन में मन, वचन और काय के द्वारा होने वाले आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहा गया है। इन्हीं कारणों के कारण कर्मों का आत्मा के साथ संयोग होता है।[४१०]

योग का एक अर्थ प्रवृत्ति भी है। इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि

"कायवाङ्मनो व्यापारो योगः"[४११]

अर्थात् शरीर वाणी एवं मन के व्यापार को योग कहा गया है।

---

[४०५] द्रव्यसंग्रह टीका, गा. ३० पृ. ७८।

[४०६] बारस अणुपेक्खा, गा. ४८।

[४०७] (क) 'प्रमादः सकषायत्वं,' -सर्वार्थसिद्धि ७/१३;
(ख) 'स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः।' -वही ८/१।

[४०८] धवला, पु. ७ खं. २, भाग १, सूत्र ७।

[४०९] (क) सर्वार्थसिद्धि ६/४ पृ. ३२०;
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ६/४/२।

[४१०] सर्वार्थसिद्धि २/२६।

[४११] तत्त्वार्थसूत्र ६/१।

जब तक इनके व्यापार चलते रहते हैं, तब तक बन्धन बना रहता है। इनके व्यापार दो प्रकार के होते हैं – शुभ और अशुभ। इसी कारण से योग के शुभयोग और अशुभयोग – ऐसे दो भेद होते हैं।

इस प्रकार इन पाँच कारणों से जीव बन्धन को प्राप्त होता है।

## ५. बन्धन का कारण आस्रव

जैन दार्शनिकों ने यूँ तो कर्मबन्ध के अनेक कारण माने हैं; किन्तु उसका मूल कारण तो आस्रव ही है। आस्रव के अभाव में बन्ध सम्भव नहीं है। आस्रव शब्द का अर्थ है आना। शुभ एवं अशुभ कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के सम्पर्क में आना ही आस्रव है। अतः जैन तत्त्वज्ञान में आस्रव का रूढ़ अर्थ कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मा की ओर आगमन है। ये कर्मवर्गणा के पुद्गल ही आत्मा के बन्धन के कारण होते हैं। आस्रव के दो भेद हैं :

(१) भावास्रव; और (२) द्रव्यास्रव।

आत्मा की विकारी मनोदशा भावास्रव है और कर्मवर्गणा के पुद्गलों के आत्मा में आने की प्रक्रिया द्रव्यास्रव है। भावास्रव कारण है और द्रव्यास्रव कार्य है। द्रव्यास्रव भावास्रव के कारण ही होता है। किन्तु आत्मा का यह भावात्मक परिवर्तन भी अकारण नहीं, बल्कि पूर्वबद्ध कर्मों के कारण ही होता है। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्मों के कारण भावास्रव, भावास्रव के कारण द्रव्यास्रव और द्रव्यास्रव से कर्मबन्धन होता है। शुभ प्रवृत्तियाँ पुण्य कर्म का आस्रव है और अशुभ प्रवृत्तियाँ पाप का आस्रव है।[४१२] सामान्य रूप से मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ ही आस्रव की हेतु हैं। जैनागमों में इनका वर्गीकरण अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है। कर्मास्रव में आस्रव के दो भेद कहे गये हैं – "सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः"[४१३] :

(१) ईर्यापथिक; और (२) साम्परायिक।

---

[४१२] तत्त्वार्थसूत्र ६/३-४ ।

[४१३] वही ६/५ । –पं. सुखलालजी का विवेचन तत्त्वार्थभाष्यमानपाठ ।

जैनदर्शन यह स्वीकार करता है कि जब तक जीवन है, तब तक निष्क्रिय नहीं रहा जा सकता। जब तक मानसिक वृत्ति चलती रहेगी, तब तक सहज रूप से कायिक एवं वाचिक क्रियाएँ भी चलती रहेंगी और उस क्रिया के फलस्वरूप कर्मास्रव भी होता रहेगा। किन्तु जो व्यक्ति कषाय से ऊपर उठ जाता है; उस व्यक्ति की क्रियाओं के द्वारा जो आस्रव होता है, उसे जैन परिभाषा में ईर्यापथिक आस्रव कहा गया है। जिस प्रकार धूल का कण रास्ते में चलते हुए सूखे कपड़े पर गिरता है; पर सूखे वस्त्र पर चिपकता नहीं है, पुनः खिर जाता है; उसी प्रकार कषायरहित क्रियाएँ आत्मा में विभाव उत्पन्न नहीं करतीं। उनसे स्थितिबन्ध नहीं होता। किन्तु जो क्रियाएँ कषाय सहित होती हैं, उनसे साम्परायिक आस्रव होता है।

## १.६ बन्धन से मुक्ति की ओर

जैनदर्शन ने आत्मा के बन्धन और मुक्ति - इन दोनों पक्षों को स्वीकार किया है। आत्मा के पूर्व संचित कर्मसंस्कार समय-समय पर अपना फल या विपाक प्रदान करते रहते हैं और उसके परिणामस्वरूप मनसा, वाचा, कर्मणा - इन तीनों योगों (प्रवृत्तियों) के द्वारा क्रियारूप व्यापार होता है। इस कारण आत्मा को नवीन कर्मास्रव एवं कर्मबन्ध होता है। प्रश्न उठता है कि आत्मा की बन्धन से मुक्ति कैसे होती है? जैनदर्शन में आत्मा द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का उपाय संवर एवं निर्जरा को माना गया है। कर्मास्रव में आस्रव के निरोध को संवर कहा गया है।[४१४] संवर ही मोक्ष का हेतु है। संवर शब्द सम् उपसर्गपूर्वक 'वृ' धातु से बना है। 'वृ' धातु का अर्थ है रोकना या निरोध करना। संवर शब्द का अर्थ है - आत्मा की ओर आते हुए कार्मणवर्गणा के पुद्गलों को रोकना। यह शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं के निरोध के द्वारा सम्भव है; अतः इन क्रियाओं का निरोध भी संवर है। संवर को जैन परम्परा में कर्म परमाणुओं के आस्रव को रोकने के अर्थ में और बौद्ध परम्परा में क्रिया के निरोध के अर्थ में स्वीकार किया गया है। संवर का अर्थ संयम भी है। ठाणांगसूत्र में संवर के पाँच

---

[४१४] 'आश्रवनिरोधः संवरः' तत्त्वार्थसूत्र ९/१ । -पं. सुखलालजी का विवेचन तत्त्वार्थभाष्यमानपाठ ।

भेदों को पाँच इन्द्रियों के संयम के रूप में स्वीकार किया गया है।[४१५] उत्तराध्ययनसूत्र में संवर के स्थान पर संयम को भी आस्रव-निरोध का हेतु कहा गया है।[४१६] प्रकारान्तर से शुभ अध्यवसाय भी संवर के अर्थ में स्वीकार किये गये हैं।

धम्मपद में भी संवर शब्द का अर्थ संयम ही किया गया है।[४१७] कहीं-कहीं शुभ-अध्यवसायों को भी संवर के अर्थ में स्वीकृत किया गया है। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि "अशुभ से निवृत्ति के लिए शुभ का अंगीकार प्राथमिक स्थिति में आवश्यक है। वृत्तिशून्यता के अभ्यासी के लिए भी प्रथम शुभ-वृत्तियों को अंगीकार करना होता है। क्योंकि चित्त जब शुभवृत्ति से परिपूर्ण होता है तब अशुभ के लिए कोई स्थान नहीं रहता है। अशुभ को हटाने के लिए प्रथम शुभ आवश्यक है।"[४१८] अतः संवर का अर्थ शुभवृत्तियों का अभ्यास भी है। द्रव्यसंग्रह में संवर के द्रव्यसंवर और भावसंवर - ऐसे दो भेद स्वीकार किये गये हैं।[४१९] द्रव्यास्रव अर्थात् कर्मवर्गणा के पुद्गलों के आत्मा की ओर आगमन को रोकनेवाले क्रियारूप व्यापार का निरोध द्रव्यसंवर है और कर्मास्रवों को रोकने में सक्षम आत्मा की चैतसिक स्थिति को भावसंवर कहा गया है।

समवायांग में संवर के निम्न पाँच अंग अर्थात् द्वार बताये गये हैं -

(१) सम्यक्त्व;
(२) विरति (मर्यादित संयमित जीवन);
(३) अप्रमत्तता (आत्मचेतनता);
(४) अकषायवृत्ति (क्रोधादि आवेगों का अभाव); और
(५) अयोग (अक्रिया)।[४२०]

---

[४१५] ठाणांगसूत्र ५/२/४२७ ।
[४१६] उत्तराध्ययनसूत्र २९/२६ ।
[४१७] धम्मपद ३६०/३६३ ।
[४१८] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ३८७-८८ । -डॉ.सागरमल जैन ।
[४१९] द्रव्यसंग्रह ३४ ।
[४२०] समवायांग ५/५ ।

स्थानांगसूत्र के अनुसार संवर के आठ भेद इस प्रकार हैं -

(१) श्रोत्रेन्द्रिय का संयम; (२) चक्षुरिन्द्रिय का संयम;
(३) घ्राणेन्द्रिय का संयम; (४) रसनेन्द्रिय का संयम;
(५) स्पर्शनेन्द्रिय का संयम (६) मन का संयम;
(७) वचन का संयम; और (८) शरीर का संयम।[४२१]

जैन ग्रन्थों में प्रकारान्तर से संवर के ५७ भेद भी स्वीकार किये गये है। ५ समितियाँ, ३ गुप्तियाँ, १० यतिधर्म, १२ अनुप्रेक्षाएँ, २२ परिषह और सामायिक आदि ५ चारित्र।[४२२] इन सभी का सम्बन्ध श्रमण जीवन से है।

## १. संवर : नवीन कर्मबन्ध को रोकने की प्रक्रिया :

संवर का कार्य : नवीन कर्मबन्ध को रोकना है और निर्जरा का कार्य पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करना है। जैनदर्शन में कर्मबन्ध विमुक्ति की ये दो विधियाँ प्रतिपादित की गई हैं।[४२३] पहली विधि है संवर जिसके द्वारा नवीन कर्मबन्ध को रोका जाता है[४२४] और दूसरी विधि है निर्जरा जिसके द्वारा आत्मा से पूर्वबद्ध कर्मों को अपने विपाक के पूर्व ही तपादि के द्वारा अलग किया जाता है। यहाँ पर कर्म से विमुक्ति की इस प्रक्रिया को एक उदाहरण के द्वारा बताते हैं - "यदि तालाब को खाली करना हो तो पहले उन नालों को बन्द करना पड़ता है, जिनके द्वारा पानी तालाब में आता है। उन द्वारों को रोकना ही संवर है। इसके बाद तालाब में रहे हुए पानी को खाली करना या सुखा देना यही निर्जरा है।" इसी प्रकार नवीन कर्मास्रवों के निरोध और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करने से आत्मा कर्मों से रहित हो जाती है और साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। संवररहित निर्जरा का कोई अर्थ नहीं है। यह स्पष्ट है कि कर्मबन्ध-विच्छेद में संवर और निर्जरा दोनों का

---

[४२१] स्थानांगसूत्र ८/३/५९८ ।

[४२२] 'चउदस-चउदस बायालीसा, बासी य हुंति बायाला,
सत्तावन्नं बारस, चउ नव भेया कमणेसि ।।२।।' -नवतत्त्व प्रकरण ।

[४२३] भगवतीआराधनाः शिवकोटी गा. १८५४ ।

[४२४] 'आस्रवनिरोधः संवरः' -तत्त्वार्थसूत्र ९/१ ।

महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख स्थान है। संवर कर्मों के आस्रव के निरोध की प्रक्रिया है। अकलंकदेव कहते हैं – "जिस प्रकार नगर की अच्छी तरह से घेराबन्दी कर देने से शत्रु नगर में प्रवेश नहीं कर पाते हैं; वैसे ही गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र के द्वारा इन्द्रिय, कषाय और योग को संवृत कर देने पर आत्मा में आनेवाले नवीन कर्मों का रुक जाना संवर है।"[४२५] जैनाचार्यों ने एक दूसरे उदाहरण के द्वारा भी संवर के स्वरूप को समझाया है – "जिस प्रकार छिद्रयुक्त नौका के छेद को बन्द कर देने से उसमें जल प्रविष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व आदि आस्रव द्वारों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने से संवृत आत्मा के आत्मप्रदेशों में कर्मद्रव्य प्रविष्ट नहीं होता।[४२६]

संवर के हेतु : उमास्वाति ने कर्मास्रव में (१) गुप्ति; (२) समिति; (३) धर्म; (४) अनुप्रेक्षा; (५) परीषहजय; और (६) चारित्र, तपादि को संवर का कारण माना है।[४२७]

(१) गुप्ति : गुप्ति का अर्थ है आत्मा की रक्षा करना। गुप्ति के बिना कर्मों का संवर नहीं हो सकता है। भगवतीआराधना, मूलाचार आदि में कहा गया है – जिस प्रकार नगर सुरक्षा के लिए कोट अनिवार्य है और खेत की सुरक्षा के लिए काँटों की बाड़ आवश्यक है; वैसे ही पापों को रोकने के लिए गुप्ति आवश्यक है।[४२८] पूज्यपाद देवनन्दी ने कहा है कि संक्लेशरहित होकर योगों का निरोध करने से उनसे आनेवाले कर्मों का आगमन रुक

---

[४२५] तत्त्वार्थवार्तिक १, ४, ११ तथा ६/११ ।

[४२६] 'रूंधिय छिद्दसहस्से जलजाणे जह जलं तु णासवदि ।
मिच्छताइअभावे तह जीवे संवरो होई ।। १५६ ।।' -नयचक्र ।

[४२७] 'स गुप्तिसमिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः' -तत्त्वार्थसूत्र ६/२ ।

[४२८] (क) भगवतीआराधना गा. ११८६
(ख) मूलाचार गा. ३३४ ।

जाता है। इस प्रकार गुप्ति से संवर होता है।[४२९] गुप्ति के मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति – ऐसे तीन भेद किये गए हैं। संवर की साधना गुप्ति पर निर्भर है। महाव्रतों का निर्दोष पालन भी गुप्ति पर निर्भर है। कर्मास्रव में मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों को योग कहा गया है। उन योगों को सम्यक्रूप से रोकने को गुप्ति कहा जाता है।[४३०]

(२) समिति : समितियों का पालन करने से साधु को हिंसादि का पाप नहीं लगता है। समिति का पालन करना संवर है। गुप्ति का पालन प्रति समय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि साधक को जीवन निर्वाह के लिए बोलना, खाना-पीना, रखना-उठाना, बैठना-उठना, मल-मूत्र का विसर्जन आदि तो करना ही पड़ता है। इन प्रवृत्तियों में सजगता या सावधानी रखना समिति है। इस प्रकार संयम की शुद्धि के लिए और जीवों की रक्षा के लिए समिति का पालन करना आवश्यक है। पूज्यपाद देवनन्दी के अनुसार सम्यक् प्रवृत्ति ही समिति है।[४३१] समिति के पाँच भेद हैं –

(१) ईर्यासमिति; (२) भाषासमिति; (३) एषणासमिति;
(४) आदान निक्षेप समिति; और
(५) उच्चार प्रस्रवण उत्सर्ग समिति।[४३२]

---

[४२९] (क) 'तस्मात् सम्यग्विशेषणविशिष्टात्, संक्लेशाप्रार्दुभावपरात्कायादियोग निरोधे सति तन्निमित्तं कर्म नास्रवतीति संवरप्रसिद्धिरवगन्तव्या'

-सर्वार्थसिद्धि ९/४ ।

(ख) तुलना के लिए तत्त्वार्थवार्तिका ९/४/४ ।
(ग) तत्त्वार्थसार ६/५ ।

[४३०] तत्त्वार्थसूत्र ९/४ और भी दृष्टव्य मूलाचार गा. ३३१ ।

[४३१] (क) 'प्राणिपीडापरिहारार्थं, सम्यगयनं समितिः' -सर्वार्थसिद्धि ९/२ ।
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक ९/२/२ ।
(ग) भगवतीआराधना विजयोदया टीका गा. १६/५ ।
(घ) सर्वार्थसिद्धि ९/२ ।

[४३२] (क) मूलाचार गा. १० एवं ३०१ ।
(ख) चारित्रपाहुड गा. ३७ ।
(ग) तत्त्वार्थसूत्र ९/५ और उसकी टीकाएँ ।

(३) धर्म : जैनदर्शन में धर्म की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणों से की गई है। समता, मध्यस्थता, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र और स्वभाव की आराधना – ये धर्मवाचक शब्द है।[४३३] आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार और भावपाहुड आदि ग्रन्थों में चारित्र एवं राग-द्वेष से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म बतलाया है।[४३४]

दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्याय में कहा गया है कि अहिंसा, संयम और तप ही धर्म है।[४३५] कर्मास्रव के ९वें अध्याय में कर्मनिर्जरा के हेतुओं की चर्चा करते हुए क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि को धर्म बताया है।[४३६] धर्म एक व्यापक शब्द है। आचारांगसूत्र[४३७] में समभाव की साधना और अहिंसा को धर्म कहा गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में धर्म की चार परिभाषाएँ दी गईं हैं :

(१) वस्तु का स्वभाव ही धर्म है;
(२) क्षमादि दस सद्गुणों का पालन ही धर्म है;
(३) रत्नत्रय की अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और म्यक्चारित्र की आराधना करना ही धर्म है; और
(४) जीवों की रक्षा करना धर्म है।[४३८]

(४) अनुप्रेक्षा : अनुप्रेक्षाओं से न केवल नवीन कर्मों का आना ही रुकता है बल्कि पुराने संचित कर्मों की निर्जरा भी होती है। वैराग्य भावों की वृद्धि एवं सम्पुष्टि अनुप्रेक्षाओं

---

[४३३] नयचक्र गाथा ३५६-५७ ।
[४३४] प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति १/७ ।
[४३५] दशवैकालिकसूत्र १/१ ।
[४३६] तत्त्वार्थसूत्र ९/६ ।
[४३७] आचारांगसूत्र १/६/५ ।
[४३८] (क) 'धम्मो वत्थुसहावो खमादि भावो य दस विहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणा रक्खणं धम्मो ।। ४७६ ।।' –कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।
(ख) स्थानांग १०/१४ ।
(ग) समवायांग १०/१ ।
(घ) मूलाचार ११/१५ ।
(च) तत्त्वार्थसूत्र ६/१२ ।
(छ) बारसानुपेक्खा ६८-७० ।

के द्वारा ही होती है। अध्यात्म मार्ग के पथिक (साधक) को कषायाग्नि का शमन करने के लिए अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना आवश्यक है।[४३९] अनुप्रेक्षा, भावना एवं चिन्तन समानार्थक शब्द हैं। उमास्वाति ने जगत् के स्वरूप एवं शरीरादि के स्वभाव का चिन्तन करने को ही अनुप्रेक्षा कहा है। एक अन्य अपेक्षा से अन्तरंग भावों का निरीक्षण करना ही अनुप्रेक्षा है। वीरसेन ने षट्खण्डागम की धवला टीका में कहा है कि कर्मों की निर्जरा के लिए पूर्णरूप से हृदयंगम हुए श्रुतज्ञान का परिशीलन करना अनुप्रेक्षा है।[४४०] एक अन्य अपेक्षा से आत्मशुद्धि करने हेतु पदार्थों के सांयोगिक एवं अनित्य स्वरूप का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा के निम्न बारह भेद हैं :

| | | |
|---|---|---|
| (१) अनित्य; | (२) अशरण; | (३) संसार; |
| (४) एकत्व; | (५) अन्यत्व; | (६) अशुचित्व; |
| (७) आस्रव; | (८) संवर; | (९) निर्जरा; |
| (१०) लोक; | (११) बोधिदुर्लभ; और | (१२) धर्म; |

ये बारह अनुप्रेक्षाएँ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थसार आदि में विवेचित हैं।

(५) परीषह :- मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ साधक द्वारा नवीन कर्मों का संवर करते हुए संचित कर्मों की निर्जरा के लिए भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि की वेदना को समभावपूर्वक सहना परीषह है। कर्मास्रव में कहा भी है कि मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट न होने तथा कर्मनिर्जरा के लिए जो कुछ सहने योग्य है वह परीषह है।[४४१] पूज्यपाद देवनन्दी के अनुसार क्षुधादि की वेदना को सहन करना परीषह है अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों में अविचलित

---

[४३९] 'विद्ययाति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम् ।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ।।' -ज्ञानार्णव, सर्ग २, उपसंहार का २ ।

[४४०] 'कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठिमज्जायुगमस्स सुदणाणस्सपरिमलणमणु पेक्खणणाम् ।'
-धवला पु. ९, खं. ४, भा. १, सूत्र ५५ ।

[४४१] (क) बारस अणुपेक्खा;
(ख) तत्त्वार्थसूत्र ९/७ ।
(ग) प्रशमरतिप्रकरण का. १४२-५० ।

रहना परीषहजय है।[४४२]

परिषह के २२ भेद हैं :

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. क्षुधा; | २. तृषा; | ३. शीत; | ४. उष्ण; |
| ५. दंशमशक; | ६. अचेल; | ७. अरति; | ८. स्त्री |
| ९. चर्या; | १०. निषद्या; | ११. शय्या; | १२. आक्रोश; |
| १३. वध; | १४. याचना; | १५. अलाभ; | १६. रोग |
| १७. तृणस्पर्श; | १८. मल, | १९. सत्कार-पुरस्कार; | |
| २०. प्रज्ञा; | २१. अज्ञान और | २२. अदर्शन।[४४३] | |

(६) चारित्र : चारित्र कर्मास्रव के निरोध (संवर) का मार्ग है। समता, मध्यस्थ्य, शुद्धोपयोग, वीतरागता, धर्म और स्वभाव के अर्थ में 'चारित्र' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है।[४४४] सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद ने चारित्र की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरण करना ही चारित्र है।[४४५] मोक्षपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप के त्याग को चारित्र कहा है।

अन्य कुछ आचार्यों ने मन, वचन और काया की संसार परिभ्रमण में कारणभूत क्रियाओं के त्याग को ही चारित्र माना है।[४४६] कर्मास्रव[४४७] में चारित्र के ५ भेद किये गये हैं -

(१) सामायिक; (२) छेदोपस्थापना; (३) परिहारविशुद्धि; (४) सूक्ष्मसम्पराय; और (५) यथाख्यात।

---

४४२ 'क्षुधादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहनं परिषहः।
परिषहस्य जयः परिषह जयः ।' -सर्वार्थसिद्धि, ९/२ ।

४४३ तत्त्वार्थसूत्र ९/९ ।

४४४ 'चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनार्थम् ।' -सर्वार्थसिद्धि ९/१८ ।

४४५ नयचक्र गा. ३५६ ।

४४६ 'तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ।' -मोक्षपाहुड गा. ३७ ।

४४७ (क) सर्वार्थसिद्धि १/१;
(ख) वही १,१,३;
(ग) 'बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणपणासट्ठं ।
णणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तम् ।। ४६ ।। -द्रव्यसंग्रह ।
(घ) तत्त्वानुशासन, का. २७ ।

(७) तप : *"इच्छा निरोधो तपः"* – इच्छाओं का निरोध तप ही है।[४४८] तप से पुराने कर्मों की निर्जरा होती है।[४४९] आचार्य कुन्दकुन्द ने तप का स्वभाव बताते हुए कहा है कि विषय और कषायों से ऊपर उठने का चिन्तन करना तथा ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा अन्तरंग भावों का निरीक्षण करना अर्थात् शुद्ध स्वरूप में रमण करना ही तप है।[४५०] सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल कायक्लेश आदि कष्टों को सहना तप है। तप के मुख्यतः २ भेद है :[४५१]

(१) बाह्य; और (२) आभ्यन्तर।[४५२]

(१) जो तप बाह्य पदार्थों के आलम्बन से किये जाते हैं और जो बाह्यतः कायक्लेश के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हें बाह्य तप कहते हैं।[४५३]

इसके ६ प्रकार हैं :[४५४]

(१) अनशन; (२) अवमौदर्य (उणोदरी);
(३) वृत्तिपरिसंख्यान; (४) रसपरित्याग;
(५) विविक्तशय्यासन; और (६) कायक्लेश।

(२) आभ्यन्तरः जो बाहर से कायक्लेश रूप प्रतीत नहीं होता है; किन्तु आत्म विशुद्धि का कारण है; उसे आभ्यन्तर अर्थात् आन्तरिक तप कहा जाता है। आचार्य पूज्यपाद

---

[४४८] 'इच्छानिरोधस्तपः' –धवला, पु. १३ खं. ५ .भाग ४ सूत्र २६ ।
[४४९] 'तपसा निर्जरा च' –तत्त्वार्थसूत्र ९/३ ।
[४५०] तत्त्वार्थसूत्र ९/१८ और भी द्रष्टव्य चारित्रभक्ति, गा. ३.४ ।
[४५१] बारस अणुवेक्खा गा. ७७ ।
[४५२] 'अनिगूहितवीर्यस्य मार्ग विरोधिकायक्लेशस्तपः ।'
(क) सर्वार्थसिद्धि ६/२४;
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक ६/२४/७ ।
[४५३] 'बाह्यद्रव्यापेक्षात्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम् ।' –तत्त्वार्थसार ६/७ ।
(क) सर्वार्थसिद्धि ९/१९ पृ. ३३६;
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक ९/१९/१७ ।
[४५४] तत्त्वार्थसूत्र ९/१९ ।

देवनन्दी, अकलंकदेव आदि के ग्रन्थों में आभ्यन्तर तप की अनेक विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। आभ्यंतर तप विशुद्धि की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके छः भेद इस प्रकार हैं –

(१) प्रायश्चित; (२) विनय; (३) वैयावृत्य;
(४) स्वाध्याय; (५) व्युत्सर्ग; और (६) ध्यान।

## २. निर्जरा ही मोक्ष का कारण

तप साधना का मुख्य प्रयोजन पूर्व संचित कर्मों का क्षय करना है। वे निर्जरा के हेतु हैं और निर्जरा ही मोक्ष का साक्षात् कारण है।

निर्जरा शब्द का अर्थ है जर्जरित कर देना। खर जाना या आत्मतत्त्व से कर्म पुद्गलों का पृथक् हो जाना निर्जरा है। आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध होना बन्ध है; नवीन पुद्गलों का आत्मा की ओर आगमन रोकना संवर है और आत्मा से पूर्वबद्ध कर्मवर्गणाओं का अलग होना निर्जरा है। मात्र संवर से निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं है। आत्मा के साथ पुराने कर्मों का क्षय होना भी उसी प्रकार जरूरी है जिस प्रकार छिद्रयुक्त नौका के छेद बन्द कर देने के बाद उसमें भरे हुए जल को उलीचकर बाहर फेंक देना अनिवार्य होता है। पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय को ही जैनागमों में निर्जरा कहा गया है।[४५५] उत्तराध्ययनसूत्र[४५६] में लिखा है कि किसी बड़े तालाब के जल स्त्रोतों (पानी के आगमन द्वारों) को बन्द कर देने के पश्चात् उसके अन्दर रहे हुए जल को उलीचने या ताप से सुखाने पर वह विस्तीर्ण तालाब भी सूख जाता है। यहाँ आत्मा ही सरोवर है, कर्म पानी है और कर्मों का आस्रव ही पानी का आगमन है। उस पानी के आगमन के द्वारों को बन्द कर देना संवर है और उस पानी को उलीचकर बाहर फेंकना या सुखाना निर्जरा है। संवर से नये कर्मरूपी जल का आस्रव या आगमन रुक

---

[४५५] 'पुव्वकदम्मसडणं तु निज्जरा' –भगवतीआराधना गा. १८४७।
[४५६] उत्तराध्ययनसूत्र ३०/५ एवं ६।

जाता है लेकिन पूर्व में बन्धे हुए सत्तारूप कर्मों के जल को जो आत्मरूपी तालाब का शेष जल है, उसे सुखाना ही निर्जरा है।

### ३. निर्जरा के भेद :

कर्मों की निर्जरा दो प्रकार से होती है[४५७] :

(१) सविपाक निर्जरा; और (२) अविपाक निर्जरा।

जिस प्रकार कच्चे आम आदि को कृत्रिम ताप से पका लिया जाता है; उसी प्रकार समय से पहले तप के द्वारा कर्मों को आत्मा से अलग कर देना अविपाक निर्जरा कहलाती है और यह मोक्ष का कारण है।

कर्मों का यथासमय उदय में आकर और अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाना या निर्जरित हो जाना सविपाक निर्जरा है।

निर्जरा के द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा ऐसे दो भेद किये जाते हैं। कर्मपुद्गलों का आत्मा से अलग होना द्रव्यनिर्जरा है और जिनसे कर्मनिर्जरा होती है, वैसे आत्मपरिणाम भावनिर्जरा है। भावनिर्जरा के माध्यम से द्रव्यनिर्जरा होकर कर्मों का पूर्णतः क्षय होता है और उसके द्वारा आत्मा मुक्ति को प्राप्त करती है।

## १.१० आध्यामिक विकास की विभिन्न अवधारणाएँ

बन्धन से मुक्ति तक की आध्यात्मिक विकास की इस यात्रा के विभिन्न चरण माने गये हैं। त्रिविध आत्मा की अवधारणा भी मूलतः व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की सूचक है। बहिरात्मा से परमात्मा तक की यात्रा आध्यात्मिक विकास के माध्यम से ही सम्भव होती है। आध्यात्मिक विकास की इस यात्रा को सूचित करने के लिए जैनधर्म में षड्लेश्या, कर्मविशुद्धि की दस अवस्थाओं (गुणश्रेणियों) और चौदह गुणस्थानों की अवधारणाएँ उत्तराध्ययनसूत्र,[४५८]

---

[४५७] सर्वार्थसिद्धि ८/२३ पृ. ३९९।

[४५८] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/४, १०, १६, १८।

प्रज्ञापना,[४५९] भगवतीसूत्र,[४६०] आचारांगनिर्युक्ति, तत्त्वार्थराजवार्तिक,[४६१] गोम्मटसार[४६२] आदि में मिलती है।

## (क) लेश्या की अवधारणा :

षड्लेश्याओं की अवधारणाओं में प्रारम्भिक तीन लेश्याएँ कृष्ण, नील और कपोत अशुद्ध लेश्याएँ कही गईं हैं। ये व्यक्ति के आध्यात्मिक अविकास या पतन को सूचित करती हैं। दूसरे शब्दों में ये वासनामय और स्वार्थमय जीवनशैली की सूचक हैं। इसके विपरीत तेजो, पद्म और शुक्ल – ये तीन लेश्याएँ शुभ लेश्याएँ कही गई हैं। ये आध्यात्मिक विकास की सूचक हैं। इनमें भी तेजोलेश्या की अपेक्षा पद्मलेश्या और पद्मलेश्या की अपेक्षा शुक्ललेश्या उत्तरोतर आध्यात्मिक विकास की सूचक है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जहाँ अशुभलेश्याएँ बहिरात्मा की सूचक हैं; वहाँ शुभलेश्याएँ अन्तरात्मा की सूचक हैं। षड्लेश्याओं में अन्तिम शुक्ललेश्या अपने अन्तिम चरण में परमात्म अवस्था की सूचक है। अर्हन्त परमात्मा शुक्ल लेश्या से युक्त माने जाते हैं। सिद्ध परमात्मा लेश्याओं से परे होते हैं अर्थात् अलेश्य होते हैं। इन लेश्याओं के स्वरूप आदि पर विस्तृत चर्चा इस शोध प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय में करेंगे।

## (ख) गुणश्रेणियाँ :

प्राचीन स्तर के जैन ग्रन्थों में आध्यात्मिक विकास की यात्रा को गुणश्रेणियों के आधार पर भी विवेचित किया गया हैं। गुणश्रेणियों का विवेचन आत्मा की कर्मों से विशुद्धि के आधार पर किया गया है। गुणश्रेणियों की यह चर्चा हमें आचारांगनिर्युक्ति[४६३], तत्त्वार्थसूत्र[४६४] और उसकी टीका, षड्खण्डागम[४६५] के चतुर्थ खण्ड

---

[४५९] प्रज्ञापना उवंगसुत्ताणि, लाडनू खण्ड २ पृ. २२९, १७/४/१ ।

[४६०] भगवई अंगसुताणि लाडनू खण्ड २ पृ. १८५, ४/१०/८ ।

[४६१] तत्त्वार्थवार्तिक, पृ. २३८ ।

[४६२] गोम्मटसार, जीवकाण्ड ४९१-९२ ।

[४६३] आचारांगनिर्युक्ति २२२-२३ ।

[४६४] 'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्त वियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशान्त ।
मोह क्षपकक्षीण मोहजिनाः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः ।। ४७ ।।'
-तत्त्वार्थसूत्र ९ (सम्पा. पं. सुखलालजी) ।

की कृति, अनुयोगद्वार की परिशिष्ट गाथाओं तथा परवर्ती कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में मिलती है। डॉ. सागरमल जैन का मानना है कि गुणस्थान सिद्धान्त की अवधारणा का विकास इसी गुणश्रेणी के सिद्धान्त से हुआ है। गुण श्रेणियाँ दस हैं :

(१) सम्यग्दृष्टि; (२) श्रावक; (३) विरति; (४) अनन्त वियोजक; (५) दर्शनमोहक्षपक; (६) उपशमक; (७) उपशान्तमोह; (८) क्षपक; (९) क्षीणमोह; और (१०) जिन।

ये दस गुणश्रेणियाँ व्यक्ति के क्रमिक आध्यात्मिक विकास की सूचक हैं। इनमें भी प्रथम नौ गुणश्रेणियाँ अन्तरात्मा की और दसवीं गुणश्रेणी परमात्मा की सूचक है। गुणश्रेणियों की इस चर्चा में बहिरात्मा का कोई उल्लेख नहीं है। इन पर विस्तृत विवेचना अग्रिम षष्ट अध्याय में की गई है।

## (ग) गुणस्थान :

जैनदर्शन में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण गुणस्थान सिद्धान्त के आधार पर ही किया जाता है। व्यक्ति के बन्धन या आध्यात्मिक पतन के मुख्य कारण कर्म माने गये हैं। व्यक्ति कर्म के आवरण से जितना-जितना मुक्त होता है, उतना ही उसका आध्यात्मिक विकास होता है। गुणस्थान का सिद्धान्त भी कर्मविशुद्धि के आधार पर व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की चर्चा करता है। इनकी निम्न चौदह अवस्थाएँ मानी गई हैं :

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान; (२) सास्वादन गुणस्थान;
(३) मिश्र गुणस्थान; (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान;
(५) देशविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान; (६) प्रमत्त संयत गुणस्थान;
(७) अप्रमत्त संयत गुणस्थान; (८) अपूर्वकरण गुणस्थान;
(९) अनिवृत्तिबादर गुणस्थान (१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान;
(११) उपशान्तमोह गुणस्थान; (१२) क्षीणमोह गुणस्थान;
(१३) सयोगीकेवली गुणस्थान; और (१४) अयोगीकेवली गुणस्थान।

---

४६४ षट्खण्डागम ४, १, ६६ (अनुयोगद्वार परिशिष्ट)।

जैनाचार्यों ने त्रिविध आत्मा की अवधारणा को गुणस्थान की अवधारणा में भी अन्तर्भूत किया है। उसमें बताया गया है कि प्रथम तीन गुणस्थान बहिरात्मा के सूचक हैं। चतुर्थ से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की अवस्थाएँ अन्तरात्मा की सूचक हैं तथा तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान परमात्मा के सूचक हैं। पुनः, अन्तरात्मा के भी गुणस्थान स्थानों की अपेक्षा से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट - ऐसे ३ भेद किये गए हैं। इन सबकी चर्चा हम षष्ठ अध्याय 'त्रिविध आत्मा और आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन' में करेंगे। अतः यहाँ केवल हम इतना ही इंगित करना चाहेंगे कि जिस प्रकार त्रिविध आत्मा की अवधारणा हमारे व्यक्तित्व की आध्यात्मिक विशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की सूचक है उसी प्रकार से षड्लेश्याएँ, कर्म विशुद्धि की दस गुणश्रेणियाँ और चौदह गुणस्थानों की अवधारणाएँ भी व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की सूचक हैं। यहाँ हम इन सब की गम्भीर चर्चा में न उतरकर अब अपने प्रतिपाद्य विषय त्रिविध आत्मा की अवधारणा पर विचार करेंगे।

## १.११.१ आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से त्रिविध आत्मा की अवधारणा

जैनदर्शन में जहाँ एक ओर आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण है; वहीं दूसरी ओर आत्मपूर्णता को आत्मा का स्वलक्षण कहा गया है। पारमार्थिक दृष्टि से तो परमतत्त्व या आत्मा सदैव अविकारी है। वह बन्धन और मुक्ति अथवा विकास और पतन से निरपेक्ष है। किन्तु जैन विचारणा में परमार्थ या निश्चयदृष्टि को जितना महत्त्व दिया गया है उतना ही महत्त्व व्यवहारदृष्टि को भी दिया गया है। विकास की प्रक्रियाएँ चाहे व्यवहारनय का विषय हो; परन्तु इससे उनकी यथार्थता में कोई कमी नहीं आती।[४६६]

---

[४६६] (क) नियमसार ७७ ।
(ख) 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ४४६-४८ । -डॉ. सागरमल जैन ।

जैनदर्शन में आध्यात्मिक पूर्णता या मुक्ति की उपलब्धि को ही साधना का साध्य माना गया है। आध्यात्मिक साधना का अर्थ आत्मा के शुद्धस्वरूप या विकारीस्वरूप को मात्र शब्दों से जान लेने तक सीमित नहीं है; अपितु वह आत्मानुभूति सम्पन्न होने या वैभाविक अवस्था से हटकर आत्मा के शुद्ध निर्विकार स्वरूप में रमण करने से है। इस साध्य की प्राप्ति के लिए साधक को साधना की विभिन्न श्रेणियों से गुजरना हो सकता है। ये श्रेणियाँ साधक की साधना की ऊँचाइयों की मापक हैं। जैनदर्शन में आत्मा के आध्यात्मिक विकास को अनेक दृष्टियों से विवेचित किया गया है। पूर्व वर्णित लेश्या और गुणस्थान सिद्धान्त के साथ-साथ त्रिविध आत्मा की अवधारणा[४६७] भी इसी विकास क्रम की सूचक है।

## त्रिविध आत्मा की अवधारणा :

जैनदर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। अध्यात्म का सम्बन्ध आत्मा के विकास से है। इस दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणाएँ भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ही प्रतिपादित की गई हैं। आत्मा के विकास की दृष्टि से तीन अवस्थाएँ हैं :

(१) बहिरात्मा;
(२) अन्तरात्मा; और
(३) परमात्मा।[४६८]

आत्मा की ये तीन अवस्थाएँ देहधारी जीवों की दृष्टि से प्रतिपादित की गई हैं। सामान्यतः आगमों में जीव के दो भेद हैं –

(१) सिद्ध; और (२) संसारी।

संसारी जीवों में आत्मगुणों के विकास की दृष्टि से आत्मा की इन तीन अवस्थाओं की कल्पना की गई है। इन तीनों अवस्थाओं के लक्षणों के द्वारा साधक भी यह जान सकता है कि उसने कौन सी अवस्था में प्रवेश किया है या वह किस अवस्था में है? ये तीनों

---

[४६७] (क) अध्यात्म परीक्षा गा. १२५ ।
(ख) योगावतार, द्वात्रिंशिका १७-१८ ।
(ग) मोक्खपाहुड ४ ।

[४६८] देखिये आचारांगसूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध अध्ययन ३-५ ।

प्रकार की आत्माएँ आध्यात्मिक गुणों के विकास की दृष्टि से उत्तरोत्तर एक-दूसरे से निर्मलतर हैं। इसमें बहिरात्मा प्रथम अवस्था है। यह आत्मा की संसार में अनुरक्त विभावदशा है।[४६९] द्वितीय अवस्था अन्तरात्मा की है, यह साधक आत्मा है। यह शुभ से शुद्ध की ओर गतिशील होती है। तृतीय परमात्मअवस्था श्रेष्ठतम, निर्मलतम या विशुद्धतम है।

सर्वप्रथम बहिरात्मा के लक्षण व स्वरूप को समझकर उन्हें त्यागना आवश्यक है। क्योंकि जब तक व्यक्ति अन्तर्मुखी नहीं बनता; तब तक वह परमात्मा नहीं बन सकता। अन्य भारतीय दार्शनिकों ने भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं को स्वीकार किया है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा की निम्न पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं :[४७०]

(१) अन्नमयकोष; (२) प्राणमयकोष; (३) मनोमयकोष;
(४) विज्ञानमयकोष और (५) आनन्दमयकोष।

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार आत्मा के तीन भेद इस प्रकार हैं :[४७१]
(१) शरीरात्मा; (२) जीवात्मा; और (३) परमात्मा।

माण्डुक्योपनिषद् में चार भेद इस प्रकार है :[४७२]
(१) अन्तःप्रज्ञ; (२) बहिःप्रज्ञ; (३) उभयप्रज्ञ; और (४) अवाच्य।

कठोपनिषद् में भी आत्मा के निम्न तीन भेद किये गए हैं :[४७३]
(१) ज्ञानात्मा; (२) महदात्मा; और (३) शान्तात्मा।

---

[४६९] मोक्षपाहुड ५, ८, ९, १० एवं ११।

[४७०] 'एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य रातं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य विज्ञानममात्मानमुपसंक्रम्य एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य ।।'
-तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्लीत्त;३-१०-६।

[४७१] छान्दोग्य उपनिषद, ३०८, ७-१२।

[४७२] 'नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञंनोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानधनं न प्रज्ञानाप्रज्ञम।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्य-मलक्षण चिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्यय सारं।
प्रपंचोपशमं शान्तं शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यंते स आत्मा स विज्ञेयः ।।७।।' -माण्डुक्योपनिषद्।

[४७३] 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्र-ज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।। ३/१३ ।। -कठोपनिषद्।

तुलनात्मक दृष्टि से ज्ञानात्मा को बहिरात्मा, महदात्मा को अन्तरात्मा और शान्तात्मा को परमात्मा कहा जा सकता है।

जैनदर्शन में मोक्षप्राभृत[४७४], नियमसार[४७५], रयणसार[४७६], योगसार[४७७], कार्तिकेयानुप्रेक्षा[४७८] आदि जैन ग्रन्थों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के रूप में आत्मा के तीन प्रकार स्वीकार किये गए हैं। ज्ञान के विकास की दृष्टि से आत्मा की ये तीनों अवस्थाएँ क्रमशः (१) मिथ्यादर्शी आत्मा; (२) सम्यग्दर्शी आत्मा; और (३) सर्वदर्शी आत्मा के रूप में मानी जा सकती हैं। साधना की दृष्टि से इन्हें क्रमशः इस प्रकार भी कह सकते हैं[४७९] :

(१) पतित अवस्था; (२) साधक अवस्था; और (३) सिद्धावस्था।

डॉ. सागरमल जैन ने नैतिकता के आधार पर अपेक्षा भेद से आत्मा की तीन अवस्थाओं को निम्न प्रकार से उल्लिखित किया है :

(१) अनैतिकता की अवस्था;
(२) नैतिकता की अवस्था; और
(३) अतिनैतिकता की अवस्था।

प्रथम अवस्थावाला व्यक्ति दुरात्मा या दुराचारी है; वह बहिर्मुख है। सदाचारी या महात्मा दूसरी अवस्था है। इसे अन्तरात्मा भी कहा जाता है। आदर्शात्मा या परमात्मा–यह तीसरी अवस्था है।[४८०]

जैनदर्शन में आध्यात्मिक विकास के गुणस्थान सिद्धान्त की दृष्टि से पहले से तीसरे गुणस्थान तक बहिरात्मा की अवस्था है। चतुर्थ से बारहवें गुणस्थान तक की अवस्था अन्तरात्मा है और तेरहवां एवं चौदहवां गुणस्थान परमात्मदशा का सूचक है।

---

[४७४] मोक्षप्राभृत ४ ।

[४७५] नियमसार १४९-५० ।

[४७६] रयणसार १४१ ।

[४७७] 'ति पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु ।
पर जायहि अंतर सहिउ बाहिरु चयहि णिमंतु ।।६।।' -योगसार ।

[४७८] 'जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
परमप्पा विहंय दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ।। १९२ ।।' -स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

[४७९] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृष्ठ ४४७-४८ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

[४८०] वही

पं. सुखलालजी के अनुसार आत्मा की ये तीन अवस्थाएँ निम्न प्रकार से हैं :

(१) आध्यात्मिक अविकास की अवस्था;
(२) आध्यात्मिक विकास की अवस्था; और
(३) आध्यात्मिक पूर्णता अर्थात् मोक्ष की अवस्था।[४८१]

आचारांगसूत्र में भी त्रिविध आत्मा के लक्षणों की विवेचना की गई है।[४८२]

जैनदर्शन में इन त्रिविध अवस्थाओं के स्वरूप लक्षण आदि की विस्तृत चर्चा की गई है। विशेषावश्यकभाष्य में इन त्रिविध अवस्थाओं का सोदाहरण विवेचन उपलब्ध होता है।[४८३] साथ ही यह भी बताया गया है कि बहिरात्मा से अन्तरात्मा तक कैसे पहुंचा जा सकता है? दोनों में क्या अन्तर है? परमात्मा बनने का उपाय क्या है आदि प्रश्नों का विस्तृत विवेचन मिलता है। आत्मा की वह कौनसी स्थितियाँ हैं, जो साधक को परमात्मदशा तक पहुँचने में बाधक या साधक हैं? आत्मा को परमात्मा बनने में सबसे बड़ा अवरोधक तत्त्व उसकी विषयोन्मुखता या बहिर्मुखता है। विषय-विकार तथा राग-द्वेषजन्य विभावदशा में निमग्न आत्मा बहिर्मुखी होती है। उसकी विषयासक्ति उसे परमात्मा तो क्या अन्तरात्मा भी नहीं बनने देती है। बहिर्मुखी आत्मा परमात्मदशा से विमुख रहती है। अतः जैनदर्शन का सन्देश है कि साधक बहिर्मुखता को त्यागकर अन्तरात्मा अर्थात् आत्माभिमुख बने। आत्माभिमुख साधक ही अन्त में परमात्मा बन सकता है। बहिरात्मा से अन्तरात्मदशा की ओर अभिमुख होने का सर्वप्रथम लक्षण है - आत्मा और शरीर का भेदज्ञान अर्थात् यह शरीर अन्य है, आत्मा अन्य है। आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है कि साधक अपनी तत्त्वबुद्धि के द्वारा दुःख एवं क्लेशजनक शरीर की ममता का त्याग

---

[४८१] (क) 'जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ४४७-४८
- 'दर्शन और चिन्तन' पृ. २७६-२७७;
- 'जैनधर्म' पृ. १४७ -डॉ. सागरमल जैन।
(ख) मोक्षपाहुड ५/६/१२।

[४८२] आचारांगसूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध अध्ययन ३-५।

[४८३] विशेषावश्यकभाष्य गा. १२११-१४।

करे।[४८४] साधक को बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये। इस सम्बन्ध में अग्रिम अध्यायों में हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

## १.११.२ आगम साहित्य और त्रिविध आत्मा की अवधारणाएँ

### (क) आचारांग और त्रिविध आत्मा

परवर्ती जैनाचार्यों ने आत्मविकास की दृष्टि से आत्मा की तीन अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है और आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा के निम्न तीन भेद स्वीकार किये हैं :

(१) बहिरात्मा;
(२) अन्तरात्मा; और
(३) परमात्मा।

किन्तु अर्द्धमागधी और शौरसेनी आगमों में हमें इस प्रकार का कोई वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता है।

जैन साहित्य में आत्मा के इन तीन प्रकारों का उल्लेख सर्वप्रथम मोक्षप्राभृत (मोक्खपाहुड) में आचार्य कुन्दकुन्द[४८५] ने किया है। आचारांगसूत्र जैसे प्राचीन आगम में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा जैसे शब्दों का प्रयोग स्पष्ट रूप से नहीं हुआ है। फिर भी इन तीन प्रकार की आत्माओं के लक्षणों का विवेचन उसमें भी उपलब्ध हो जाता है। आचारांगसूत्र में बहिर्मुखी आत्मा को बाल, मन्द और मूढ़ के नाम से अभिहित किया गया है। ये आत्माएँ ममत्व से युक्त होती हैं एवं बाह्य विषय-विकारों में अनुरक्त होती

---

[४८४] 'अत्रं इमं सरीरं, अन्नो जीवुत्ति एवं कय बुद्धि।
दुःख-परिकिलेस करं, छिदं ममता सरीराओ ।। १५४७ ।।' –आवश्यकनिर्युक्ति।
[४८५] मोक्खपाहुड ४।

हैं।[४८६] अन्तर्मुखी आत्मा को पण्डित, मेधावी, धीर, समत्वदर्शी और अनन्यदर्शी के नाम से चित्रित किया गया है। अनन्यदर्शी शब्द उसकी अन्तर्मुखता को स्पष्ट कर देता है। आचारांगसूत्र में अन्तरात्मा के लिए मुनि शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

आचारांगसूत्र के अनुसार जिन लोगों ने संसार के स्वरूप को जानकर बाह्यप्रवृत्ति (लोकेषणा) का त्याग कर दिया है, जो सम्यग्दर्शी (पापविरत) हैं, वे अन्तरात्मा हैं।[४८७] इसी प्रकार आचारांगसूत्र में परमात्मा या मुक्तात्मा का विवेचन भी उपलब्ध है। इसे विमुक्त पारगामी एवं तर्क और वाणी से अगम्य बताया गया है।[४८८]

## (ख) भगवतीसूत्र की अष्टविध आत्मा की अवधारणा से त्रिविध आत्मा की अवधारणा की तुलना

भगवतीसूत्र[४८९] में वर्णित अष्टविध आत्माओं का त्रिविध आत्मा की अवधारणा से सम्बन्ध देखने पर यह ज्ञात होता है कि द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा – इन छः प्रकार की आत्माओं की सत्ता सिद्धपरमात्मा में मानी जा सकती है; क्योंकि आत्मद्रव्य और उसका उपयोग लक्षण तो परमात्मा में भी है ही। इसके अतिरिक्त सिद्धपरमात्मा में अनन्तचतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की सत्ता भी स्वीकार की गई है। इनमें अनन्तज्ञान का

---

[४८६] आचारांगसूत्र ५/८, १०, ११।
[४८७] वही ५/६।
[४८८] वही ५/६, १२।
[४८९] (क) भगवतीसूत्र १२/१०/४६७।
(ख) 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. २३०। –डॉ. सागरमल जैन।

सम्बन्ध ज्ञानात्मा से, अनन्तदर्शन का सम्बन्ध दर्शनात्मा से, अनन्तसुख का सम्बन्ध चारित्रात्मा से और अनन्तवीर्य का सम्बन्ध वीर्यात्मा से है। यद्यपि क्रियारूप चारित्र और पुरुषार्थरूप वीर्य का सिद्धों में अभाव होता है; किन्तु दोषनिवृत्तिरूप चारित्र तथा सत्तारूप वीर्य तो होता ही है। जहाँ तक योगात्मा और कषायात्मा का प्रश्न है, सिद्ध परमात्मा में इन दोनों का अभाव होता है क्योंकि सिद्ध अशरीरी हैं। उनमें मन, वचन और काया की प्रवृत्तिरूप तीनों योग और कषाय का अभाव होता है।

अरिहन्त परमात्मा में अष्टविध आत्माओं में से कषायात्मा को छोड़कर शेष सातों ही आत्माएँ पाई जाती हैं। क्योंकि अरिहन्त सशरीरी हैं; इसलिए उनमें द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा के साथ-साथ योगात्मा भी होती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अरहन्त की दो अवस्थाएँ होती हैं : सयोगीकेवली और अयोगीकेवली। उनमें से अयोगीकेवली अवस्था जो अत्यन्त अल्पकालिक है; उसमें योग का अभाव होने से शेष षड्विध आत्मा की ही सत्ता होती है।

अष्टविध आत्मा की अवधारणा और अन्तरात्मा के सम्बन्ध को लेकर विचार करें तो अष्टविध आत्माओं में अन्तरात्मा की अपेक्षा भेद से कभी आठों आत्माओं की तो कभी सात आत्माओं की सत्ता मानी जा सकती है। गुणस्थान सिद्धान्त के आधार पर अन्तरात्मा को चतुर्थ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक माना गया है। इसमें से ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान में कषाय का उदय तो नहीं होता है; किन्तु उपशम श्रेणी के कारण कषाय की सत्ता तो होती है। अतः ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा में उदय की अपेक्षा से सात और सत्ता की अपेक्षा से आठों आत्मा होती हैं। बारहवें गुणस्थानवर्ती अन्तरात्मा में सात ही आत्माओं की सत्ता होगी। चौथे से लेकर दसवें सूक्ष्मसम्पराय

गुणस्थान तक कषायों की सत्ता रही हुई है। चाहे उनकी तीव्रता आदि में भेद हो फिर भी उनकी सत्ता होने के कारण चौथे से लेकर दसवें गुणस्थान तक कषायात्मा की सत्ता को स्वीकार करना पड़ेगा। अतः अन्तरात्मा में आठों ही आत्मा की सत्ता होती है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि आत्मा में सम्यक्चारित्र का अभाव होता है, अतः उसमें चारित्रात्मा की सत्ता कैसे मानी जाय। किन्तु यहाँ ध्यान रखने योग्य है कि चारित्रात्मा का यह कथन चारित्र गुण की अपेक्षा से ही है; अतः अविरतसम्यग्दृष्टि आत्मा में मिथ्यादृष्टिरूप चारित्र की सत्ता रही हुई है। दूसरे यह कि अविरतसम्यग्दृष्टि आत्मा भी कम से कम अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम करती ही है। अतः उसकी अपेक्षा से उसमें आंशिक चारित्र भी स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार अन्तरात्मा में चतुर्थ गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक आठों ही आत्मा की सत्ता स्वीकार की जा सकती है।

जहाँ तक बहिरात्मा का चिन्तन है उसमें आठों ही आत्मा की सत्ता रही हुई है। यह सत्य है कि बहिर्मुख आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूप वीर्य का अभाव है तथा यह भी सत्य है कि उसमें ज्ञान, दर्शनादि गुणों का पूर्णरूप में प्रकटन भी नहीं है। फिर भी उसमें मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और मिथ्यापुरुषार्थ तो रहा हुआ ही है। साथ ही उसमें द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा और कषायात्मा की भी सत्ता है। शरीर होने से तीनों योग भी हैं। अतः योगात्मा की भी सत्ता उसमें स्वीकार करनी होगी। इस प्रकार बहिरात्मा में भगवतीसूत्र में वर्णित आठों ही आत्माएँ पाई जाती हैं।

भगवतीसूत्र में अष्टविध आत्माओं की मुख्यरूप से यह चर्चा आत्मद्रव्य और आत्मपर्याय की अपेक्षा से ही है। इसमें कषायरूप

पर्याय और योगरूप पर्याय क्रमशः बद्ध सशरीरी आत्माओं में ही होती है।

जैनदर्शन में कोई भी द्रव्य पर्यायविहीन नहीं होता। अतः पर्यायों की सत्ता तो संसारी और सिद्ध दोनों प्रकार की आत्माओं में होती है। मात्र अन्तर यह है कि अर्हन्त और सिद्ध में स्वभाव रूप पर्याय होती हैं; जबकि संसारी आत्मा में स्वभावरूप और विभावरूप दोनों ही पर्याय होती हैं। कषाय आत्मा मात्र विभावदशा की सूचक है। अर्हन्त और सिद्ध परमात्मा में तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती अन्तरात्मा में कषाय आत्मा का अभाव होता है। सशरीरी जीवों में अयोगीकेवली गुणस्थानवर्ती जीवों को छोड़कर शेष प्रथम से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक योगात्मा की सत्ता भी होती है। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक तो आठों ही आत्माओं की सत्ता रही हुई है।

त्रिविध आत्मा की दृष्टि से विचार करें, तो बहिरात्मा में भगवतीसूत्र में प्रतिपादित इन आठों ही आत्मा की सत्ता रहती है। जहाँ तक अन्तरात्मा का प्रश्न है, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा में तथा पाँचवें से दसवें गुणस्थानवर्ती मध्यम अन्तरात्मा में भी आठों ही आत्मा की सत्ता रहती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बहिरात्मा और अन्तरात्माओं में स्वभाव और विभाव दोनों ही पर्याय पाई जाती हैं। बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट अन्तरात्मा में तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती परमात्मा में विभावरूप पर्याय का अभाव होता है। सयोगीकेवली परमात्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप पर्याय पूर्णतः शुद्ध और निरावरण होते हैं। अयोगी केवली परमात्मा में योगात्मा और कषायात्मा का अभाव होता है। शेष छः आत्मरूप पर्यायें निरावरण रूप होते हैं।

आचारांगसूत्र[४९०], भगवतीसूत्र[४९१] आदि प्राचीन जैन आगमों में प्रकारान्तर से इन तीनों अवस्थाओं का अन्य नामों से प्रकीर्ण उल्लेख मिल जाता है। फिर भी आत्मा के इस त्रिविध वर्गीकरण का प्रमुख श्रेय तो आचार्य कुन्दकुन्द[४९२] को ही जाता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के परवर्ती आचार्यों ने उन्हीं का अनुकरण किया है। स्वामी कार्तिकेय [४९३], योगीन्दुदेव[४९४], पूज्यपाद[४९५], हेमचन्द्र[४९६], शुभचन्द्राचार्य[४९७], अमृतचन्द्र[४९८], गुणभद्र[४९९], अमितगति[५००], देवसेन[५०१], ब्रह्मदेव[५०२], आनन्दघन[५०३], देवचन्द्र[५०४] और यशोविजय[५०५] आदि सभी ने आत्मा के तीन प्रकारों का अपनी-अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है। प्रस्तुत गवेषणा में हम इस सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करेगें।

।। अध्याय १ समाप्त ।।

---

[४९०] आचारांगसूत्र में मूढ़, पण्डित, धीर, अन्यदर्शी के प्रकीर्ण उल्लेख हैं।
[४९१] भगवतीसूत्र में आठ आत्माओं का उल्लेख है।
[४९२] मोक्खपाहुड गा. ४ (नियमसार गा. १४९-५०)।
[४९३] स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. १९२।
[४९४] परमात्मप्रकाश १३ १४, १५ एवं योगसार ६।
[४९५] समाधितंत्र गा. ४-५।
[४९६] योगशास्त्र द्वादशप्रकाश ६।
[४९७] ज्ञानार्णव गा. ५।
[४९८] समयसार नाटक गा. १०/८५-८६।
[४९९] आत्मानुशासनम् श्लोक १९२-९३ पृ. १८४ से १९६।
[५००] योगसार प्राभृत गा. ३४, ३९, ४० एवं ४१।
[५०१] आराधनासार ८५।
[५०२] ब्रह्मविलास, परमात्म छत्तीसी पृ. २२७।
[५०३] आनन्दघनग्रन्थावली पद ९७ एवं सुमति जिन स्तवन।
[५०४] विचारत्नसार प्रश्न १७८ (ध्यानदीपिका चतुष्पदी ४, ८, ७)।
[५०५] अध्यात्मपरीक्षा १२५।

अध्याय २

# औपनिषदिक, बौद्ध एवं जैनसाहित्य में आत्मा की अवस्थाएँ

## २.१.१ औपनिषदिकदर्शन में आत्मा की दो अवस्थाएँ

आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से आत्मा की विविध अवस्थाओं का चित्रण प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में हुआ है। उपनिषद्कालीन चिन्तन में आत्मा के दो रूपों की चर्चा प्रायः उपलब्ध होती है :

(१) बहिःप्रज्ञ और
(२) अन्तःप्रज्ञ।

ये दोनों स्थितियाँ क्रमशः भौतिकवादी जीवनदृष्टि और आध्यात्मिक जीवनदृष्टि की परिचायक मानी जाती हैं। मनोवैज्ञानिकदृष्टि से इन्हें हम (१) बहिर्मुखी व्यक्तित्व; और (२) अन्तर्मुखी व्यक्तित्व – ऐसे दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। इन दोनों प्रकार की जीवनदृष्टियों को ईशावास्योपनिषद् में (१) अविद्या; और (२) विद्या के रूप में चित्रित किया गया है। गीता[१], जिसे उपनिषदों का सारतत्त्व कहा जाता है, इन्हें कृष्णपक्षी और शुक्लपक्षी के रूप में अभिहित करती है। लक्षण की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि बहिःप्रज्ञ वह है जो शरीरादि भौतिक वस्तुओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर उनमें ममत्वबुद्धि रखता है और उन्हीं से जुड़कर जीवन व्यतीत करता है। जबकि अन्तःप्रज्ञ उसे कहा जाता है जो आत्मा को ही मुख्यता प्रदान करता है और जिसकी जीवनदृष्टि अन्तर्मुखी होती है। उसका प्रयास आत्मा को जानने और जीने का रहता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि

---

[१] 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।। २६ ।।' –गीता ८ ।

माण्डूक्योपनिषद[२] में इसी आधार पर आत्मा की चार अवस्थाओं का चित्रण किया गया है – (१) अन्तःप्रज्ञ; (२) बहिःप्रज्ञ; (३) उभयःप्रज्ञ; और (४) अवाच्य। उसमें शुद्धात्मा का चित्रण करते हुए कहा गया है कि यह आत्मा न तो अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है, और न उभयप्रज्ञ है। वस्तुतः इसे प्रज्ञः या अप्रज्ञः कुछ भी नहीं कहा जा सकता – वह अदृष्ट है, अव्यवहार्य है, उसका कोई लक्षण भी नहीं किया जा सकता। वह अचिंत्य एवं अप्रदेश्य है। वह एक ऐसी अवस्था है जहाँ समस्त विकल्प (प्रपंच) उपशान्त हो जाते हैं। वह शिवत्व (कल्याणकारी) एवं अद्वय की अवस्था है। वही आत्मा विज्ञेय या जानने योग्य है। यद्यपि यहाँ माण्डूक्योपनिषद् आत्मा के सन्दर्भ में अन्तःप्रज्ञः, बहिःप्रज्ञः और उभयःप्रज्ञः – इन तीनों स्थितियों का निषेध करते हुए उसे अचिंत्य और अवाच्य बताता है, किन्तु उसका यह विवरण शुद्ध आत्मदृष्टि को लेकर है। इस प्रकार के विवरण जैनदर्शन में भी आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि यह आत्मा न जीवस्थान है, न गुणस्थान है और न मार्गणास्थान है, क्योंकि ये सभी कर्मजन्य दैहिक स्थितियों में ही घटित होते हैं।[३] शुद्ध आत्मदृष्टि से इन अवस्थाओं को आत्मा में घटित नहीं किया जा सकता है। किन्तु आध्यात्मिक विकास की अपेक्षा से आत्मा की इन विभिन्न अवस्थाओं को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। माण्डूक्योपनिषद्कार ने यहाँ जो निषेध किया है उसे पारमार्थिक दृष्टि से ही समझना चाहिये। व्यवहारिक दृष्टि से तो उसमें बहिःप्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ और उभयःप्रज्ञ – इन तीन अवस्थाओं को स्वीकार किया ही गया है। इनमें भी उभयःप्रज्ञः एक संयुक्त स्थिति है। मूल में तो दो ही हैं – बहिःप्रज्ञ और अंतःप्रज्ञ। इन्हें ही गीता में कृष्णपक्षी और शुक्लपक्षी कहा गया है। एक अन्य अपेक्षा से इन्हें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि भी कहा जा सकता है।

---

२ 'नान्तः प्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् ।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययं सारं,
प्रपंचोपशमं शान्तं शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यंते स आत्मा स विज्ञेयः' –माण्डूक्योपनिषद् ७ ।

३ नियमसार (शुद्धभावाधिकार) गा. १४६-५१ ।

कठोपनिषद्[४] में आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से आत्मा की तीन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है :

(१) ज्ञानात्मा;
(२) महदात्मा; और
(३) शान्तात्मा।

किन्तु ये तीनों अवस्थाएँ आत्मा की ज्ञानशक्ति की अपेक्षा से ही मानी जाती हैं। यहाँ ज्ञानात्मा के रूप में उस आत्मा का चित्रण किया गया है जो इन्द्रियादि के माध्यम से उनके विषयों का ग्रहणकर उन्हें जानती है। महदात्मा वस्तुतः बौद्धिक आत्मा है और शान्तात्मा शुद्धात्मा या मुक्तात्मा है। वैसे आत्मा की इन तीन अवस्थाओं का सम्बन्ध बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के साथ इस रूप में माना जा सकता है कि ज्ञानात्मा बहिरात्मा, महदात्मा अन्तरात्मा एवं शान्तात्मा परमात्मा है। छान्दोग्योपनिषद्[५] के आधार पर डायसन ने आत्मा की तीन अवस्थाओं का चित्रण किया है :

(१) शरीरात्मा; (२) जीवात्मा; और (३) परमात्मा।

वस्तुतः यहाँ शरीरात्मा से यह तात्पर्य उस आत्मा से है जो शरीर को ही आत्मा मानती है। यह वस्तुतः बहिरात्मा का ही रूप है। जीवात्मा अन्तरात्मा की परिचायक है और परमात्मा को जैनदर्शन के परमात्मा के ही समान माना जा सकता है। सिद्धान्ततः औपनिषदिक और जैन चिन्तन में परमात्मा के स्वरूप को लेकर किंचित् मतभेद है। यहाँ हम केवल सामान्य तुलनात्मक दृष्टि से ही विचार कर रहे हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद्[६] में आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से पंचकोषों की चर्चा मिलती है। ये पंचकोश निम्न हैं :

(१) अन्नमयकोश; (२) प्राणमयकोश;
(३) मनोमयकोश; (४) विज्ञानमयकोश; और
(५) आनन्दमयकोश।

---

४ 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।' –कठोपनिषद् १३ ।

५ छान्दोग्योपनिषद् ३०८, ७-१२ (उद्धृत परमात्मप्रकाश प्रस्तावना पृ.१०७) ।

६ तैत्तिरीयोपनिशद् ३/१० ।

इनमें अन्नमयकोश जीव की वह अवस्था है जिसमें वह शरीर को ही सब कुछ मानकर जीवन जीता है। दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति उसका लक्ष्य होता है। इसके पश्चात् प्राणमयकोश की स्थिति आती है। इसमें आत्मा ऐन्द्रिक एवं जैविक शक्तियों को ही महत्त्व देती है। उसके लिए प्राणशक्ति ही प्रमुख होती है। जैनदर्शन में दशप्राणों की चर्चा उपलब्ध होती है। वे निम्न हैं :

(१) स्पर्शेन्द्रिय; (२) रसनेन्द्रिय; (३) घ्राणेन्द्रिय;
(४) चक्षुरिन्द्रिय; (५) श्रोत्रेन्द्रिय; (६) आयुष्य;
(७) श्वासोच्छ्वास; (८) मनोबल; (९) वचनबल; और
(१०) कायबल प्राण।

वस्तुतः प्राणमयकोश में स्थित आत्मा प्राणशक्ति को सर्वस्व मानकर जीवन जीता है। प्राणमयकोश का अतिक्रमण करके आत्मा मनोमयकोश को प्राप्त करती है। इस स्तर पर आत्मा मन के अधीन रहकर जीती है। मनोमयकोश में मन की प्रधानता होती है। अन्नमयकोश, प्राणमयकोश और मनोमयकोश – ये तीनों ही वस्तुतः बहिरात्मा के ही परिचायक हैं। मनोमयकोश के ऊपर विज्ञानमयकोश है। मनोमयकोश वासनात्मक जीवन का परिचायक है; जबकि विज्ञानमयकोश विवेकात्मक जीवन का परिचायक है। इस स्तर पर आत्मा विवेकपूर्वक जीवन जीती है। विज्ञानमयकोश की तुलना हम अन्तरात्मा से कर सकते हैं। विज्ञानमयकोश के पश्चात् आनन्दमयकोश का स्थान है। विज्ञानमयकोश तक विकल्प उपस्थित रहते हैं, किन्तु आनन्दमयकोश में आत्मा समस्त विकल्पों का अतिक्रमण करके निर्विकल्प आत्मानन्द की अनुभूति करती है। जैनदर्शन में इसे परमात्मा कहा गया है। जैनदर्शन के अनुसार भी परमात्मा को अनन्त सुखों में लीन माना जाता है। यह आत्मा की सर्वोच्च स्थिति है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे उपनिषदों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के रूप में स्पष्टतः त्रिविध आत्माओं का उल्लेख न हुआ हो, किन्तु हम उपनिषदों में वर्णित आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं का किसी भी रूप से विवेचन करें तो उनके मूल में कहीं न कहीं आत्मा की ये त्रिविध अवस्थाएँ रही हुई हैं। वस्तुतः चाहे हम माण्डूक्योपनिषद् के आधार पर बहिःप्रज्ञ और अन्तःप्रज्ञ तथा अवाच्य स्थिति को मानें, चाहे हम

छान्दोग्योपनिषद् के आधार पर शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा के त्रिविध वर्गीकरण को स्वीकार करें या तैत्तिरीयोपनिषद् के आधार पर अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश और आनन्दमयकोश - ऐसी पांच अवस्थाओं को स्वीकार करें; सिद्धान्ततः वे जैनदर्शन में वर्णित आत्मा की त्रिविध अवस्थाओं से भिन्न नहीं हैं।

## पंचकोश :

उपनिषदों में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की अपेक्षा से पंचकोशों की चर्चा उपलब्ध होती है। पंचकोश निम्नांकित हैं :

(१) अन्नमयकोश; (२) प्राणमयकोश; (३) मनोमयकोश;
(४) विज्ञानमयकोश और (५) आनन्दमयकोश।[७]

यहाँ कोश से तात्पर्य चेतना या आत्मा की जीवनदृष्टि से है।

(१) अन्नमयकोश : जब तक चेतना या जीवन-ऊर्जा देहभाव तक ही सीमित रहती है, उसे अन्नमयकोश कहते हैं। अन्नमयकोश की जीवनदृष्टि देहात्मभाव की अवस्था है। उसके लिए यह स्थूल शरीर ही महत्त्वपूर्ण होता है। वह दैहिक स्तर पर जीवन जीता है। अन्नमयकोश दैहिकसत्ता या दैहिकशक्ति का सूचक है।

(२) प्राणमयकोश : अन्नमयकोश के ऊपर प्राणमयकोश की स्थिति है। प्राणमयकोश जीवनशक्ति का सूचक है। इस अवस्था में व्यक्ति ऐन्द्रिक अनुभूतियों और संवेदनाओं के स्तर पर ही जीता है। जैन-परम्परा में पांचों इन्द्रियों, मन, वचन, शरीर, आयुष्य और श्वसनशक्ति को ही प्राण कहा गया है। यहाँ प्राण शब्द जीवनदायिनी शक्ति का ही सूचक है। हमारे शरीर और इन्द्रियों में जो कार्यशक्ति उपस्थित है, वही प्राणमयकोश है। शरीर और इन्द्रियों की जैविक शक्ति प्राण है। प्राण मात्र श्वसन, इन्द्रियाँ या मन नहीं है। वस्तुतः इन सबके भीतर जो कार्य सामर्थ्य रही हुई है वही प्राण है। संक्षेप में कहें तो प्राण

---

७ 'एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्या एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयामात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य।' -तैत्तिरीयोपनिशद्, भृगुवल्ली, ३/१०/६।

जीवनशक्ति है। इस स्तर पर व्यक्ति इन्द्रिय-संवेदनाओं के आधार पर जीता है।

(३) मनोमयकोश : प्राणमयकोश के ऊपर मनोमयकोश है। मनोमयकोश विचार या विवेकशक्ति का सूचक है। विचारशीलता ही मनोमयकोश का प्रमुख कार्य है। इस स्तर पर व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया विवेकपूर्ण होती है। मन इन्द्रियों के अधीन न होकर उनका स्वामी होता है। प्राणमयकोश के स्तर पर मन इन्द्रियों और शारीरिक संवेदनाओं से संचालित होता है; जबकि मनोमयकोश के स्तर पर मन इन्द्रियों और शरीर का नियन्त्रक या अनुशासक होता है।

(४) विज्ञानमयकोश : चतुर्थकोश विज्ञानमयकोश है। यहाँ चेतना शरीर, इन्द्रियों और मन से ऊपर उठी हुई होती है। यह सजग एवं विवेकशील चेतना का स्तर है। इस स्तर पर आत्मा शरीर, इन्द्रियों और मन से अपने पृथक्त्व की अनुभूति करती है और उसकी विवेकशक्ति शरीर, इन्द्रिय और मन से अप्रभावित रहती है। यह विशुद्ध चेतना की अवस्था है। इसे जैनदर्शन में अप्रमत्त अवस्था कहा जा सकता है।

(५) आनन्दमयकोश : विज्ञानमयकोश के ऊपर आनन्दमयकोश की स्थिति है। यह आत्मसाक्षात्कार की अवस्था है। इस स्तर पर समस्त विचार और विकल्प भी विलय हो जाते हैं। व्यक्ति आत्मिक आनन्द में निमग्न रहता है। यह अवस्था पूर्णतः समाधि की अवस्था है। इसे ही उपनिषदों में तुरीयावस्था भी कहा गया है।

इस प्रकार उपनिषदों में वर्णित ये पंचकोश आत्मा के उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास के ही सूचक हैं। एक अन्य अपेक्षा से इन्हें देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनःआत्मवाद, विज्ञानात्मवाद या शुद्धात्मवाद कहा जा सकता है। वस्तुतः इनके माध्यम से ही व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक विकासयात्रा को सम्पन्न करता है। आचार्य श्रीराम शर्मा ने अन्नमयकोश को शरीर एवं इन्द्रियजन्य चेतना कहा है। उन्होंने प्राणमयकोश को जीवनशक्ति, मनोमयकोश को वैचारिक या बौद्धिकशक्ति, विज्ञानमयकोश को शुद्ध चेतनसत्ता और

आनन्दमयकोश को आत्मबोध की अवस्था माना है। इनमें अन्नमयकोश और प्राणमयकोश बहिरात्मा के सूचक हैं। मनोमयकोश और विज्ञानमयकोश अन्तरात्मा के सूचक हैं और आनन्दमयकोश परमात्मदशा का सूचक है। इस प्रकार पंचकोशों की यह अवधारणा त्रिविध आत्मा की अवधारणा से पूर्णतः संगति रखती है।

## २.१.२ औपनिषदिक चिन्तन में निद्रा, स्वप्न, और तुरीय अवस्थाएँ

जैनदर्शन में आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं के विविध वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। इसमें आत्मा के द्विविध वर्गीकरण भी अनेक दृष्टियों से किये गये हैं। जैसे संसारी और सिद्ध, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, विरत और अविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त, सकषाय और अकषाय, उपशान्तमोह और क्षीणमोह, सयोगीकेवली और अयोगीकेवली आदि। विरत-अविरत, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा; इनमें भी मुख्य रूप से प्रमत्त और अप्रमत्त वर्गीकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह वर्गीकरण प्राचीन जैन आगमों में भी उपलब्ध होता है। औपनिषदिक चिन्तन में प्रमत्त और अप्रमत्त के समकक्ष जो विवरण उपलब्ध है, उसमें प्रमत्त आत्मा को सुषुप्त और अप्रमत्त आत्मा को जाग्रत कहा गया है। कहीं-कहीं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति त्रिविध वर्गीकरण और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ऐसा - चतुर्विध वर्गीकरण भी उपलब्ध होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के समरूप गीता और बौद्ध ग्रन्थों में कृष्णपक्षीय और शुक्लपक्षीय - ऐसा द्विविध वर्गीकरण भी मिलता है। एक अन्य अपेक्षा से सुप्त और जाग्रत भी कहा जाता है। औपनिषदिक चिन्तन में आत्मा की निम्न चार अवस्थाएँ बहुचर्चित हैं :

(१) जाग्रत;

(२) स्वप्न;

(३) सुषुप्ति; और

(४) तुरीय।

माण्डूक्योपनिषद्[८] एवं सर्वसारोपानिषद्[९] में इन्हीं अवस्थाओं के विशिष्ट उल्लेख हैं। योगवासिष्ठ[१०] में भी आत्मा की इन अवस्थाओं की चर्चा प्राप्त होती है; किन्तु प्राचीन जैनागमों में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय – इन चारों अवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। आचारांगसूत्र[११] में जाग्रत एवं सुषुप्ति (प्रसुप्त) – इन दो अवस्थाओं का चित्रण अवश्य परिलक्षित होता है। उसमें अज्ञानी को सुप्त एवं ज्ञानी को जाग्रत कहा गया है। प्रकारान्तर से प्रमत्त आत्मा को सुप्त और अप्रमत्त को जाग्रत कहा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द[१२] ने मोक्षप्राभृत में, आचार्य पूज्यपाद[१३] ने समाधिशतक में और परमात्मप्रकाश[१४] में सुषुप्त और जाग्रत – इन दो अवस्थाओं की चर्चा की है। गीता[१५] में भी इन दो अवस्थाओं का विवरण प्राप्त

---

८ माण्डूक्योपनिषद् २-१२ ।

९ 'मन आदि चतुर्दशकरणैः पुष्कलैरादित्याद्यनुगृहीतैः शब्दादीन्विषयान्
स्थूलान्यदोपलभते तदात्मनो जागरणं, तद्वासना रहितश्चतुर्भिः करणैः
शब्दाद्याभावेऽपि वासनामयान्शब्दादीन्यदोपलभते तदात्मनः स्वप्नम् ।
चतुर्दशकरणोपरमाद् विशेषविज्ञानाभावाद्यदातदात्मनः सुषुप्तम् ।। १ ।।
अवस्थात्रय भावाद्भावसाक्षि स्वयं भावाभाव रहितं नैरन्तर्य चैक्यं यदा
तदा तुत्तरीयं चैतन्यमित्युच्यतेऽत्र कार्याणं षण्णां कोशानां समूहोऽत्रमयः कोश इत्युच्यते ।' -सर्वसारोपनिषद् ३५ ।

१० 'जागृतस्वप्न सुषुपताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः ।। ३६ ।।
घोरं शान्तं मूढं च आत्मचितमिहास्थितम् ।
घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितिम् ।। ३७ ।।
मूढं सुषुप्तभावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत् ।
यच्च चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थितं समम् ।। ३८ ।।
अहं भावानहं भावौ त्यक्त्वा सदसती तथा ।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ।। २३ ।।'
-योगवासिष्ठ ६/१/१२४ (उद्धृत, योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त पृ. २७५-७८) ।

११ 'सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरन्ति,' -आचारांगसूत्र ३/१/१ ।

१२ 'जो जग्गदि ववहारे सो जोइं जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।।' -मोक्षप्राभृत गा. ३१ ।

१३ 'व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तो श्चात्मगोचरे ।।' -समाधितंत्र, श्लो. ७८ ।

१४ 'जा णिसि सयलहं देहियहं जोग्गिउ तहिं जग्गेइ ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु, सा णिसि मुणिवि सुवेइ ।। ४६ ।।' -परमात्मप्रकाश २ ।

१५ 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ।।' -गीता २/६९ ।

होता है।

जैनदर्शन में इन चार अवस्थाओं का विवेचन सर्वप्रथम मल्लवादी[१६] ने द्वादशारनयचक्र में किया है। वे चार अवस्थाएँ इस प्रकार हैं : जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जैनदर्शन के अनुसार संसारी जीवों में ये तीन अवस्थाएँ रहती हैं : निद्रा (सुप्त); स्वप्न और जाग्रत। इनकी अनुभूति प्रतिदिन व्यवहार में होती है क्योंकि संसारी जीव कर्मप्रकृतियों से आबद्ध होता है। निद्रा और स्वप्नदशा का अनुभव दर्शनावरणीय कर्म के उदय से होता है। योगवाशिष्ठ में भी इन तीन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। किन्तु आनन्दघनजी इन चार अवस्थाओं को निम्न प्रकार से स्वीकार करते हैं।

'निद्रा सुपन उजागरता तुरीय अवस्था आवी।
निद्रा सुपन दशा रिसाणी, जाणि न नाथ मनावी हो।।'

अर्थात् वे कहते हैं कि परमात्मा को निद्रा, स्वप्न, जाग्रत और उजागर (तुरीय) इन चार अवस्थाओं में से उजागर या तुरीयावस्था उपलब्ध होती है। जैन दर्शनानुसार उजागर का अर्थ केवल-ज्ञान-दर्शन की अवस्था है। परमात्मा को जब उजागरदशा प्राप्त होती है, तब निद्रा और स्वप्नावस्थाएँ समाप्त हो जाती हैं अथवा ये कुपित होकर चली जाती हैं। परमात्मा उन्हें कुपित देखकर भी आश्रय नहीं देते। निद्रा शब्द के स्थान पर उपनिषद् में सुषुप्त शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वप्नावस्था में अर्द्धनिद्रित और अर्द्धजाग्रत अवस्था रहती है। इसमें शरीर सोता है लेकिन मन जागता है, जो स्वप्न में भिन्न-भिन्न कल्पनाओं की प्रतीति करवाता है। तीसरी जाग्रत अवस्था है यह आत्मानुभूति की या अप्रमत्त चेतना की अवस्था है। जब जीव अप्रमत्त या जाग्रत होता है तब वह अपने स्वभाव अर्थात् ज्ञाताद्रष्टा भाव में स्थिर हो जाता है। चौथी अवस्था तुरीय है जिसे जैन दार्शनिकों ने उजागर अवस्था

---

[१६] 'तस्य चतस्रोऽवस्था जाग्रत्-सुप्त, सुषुप्त-तुरीयानुवर्थाख्याः एताश्च बहुधा व्यवतिष्ठते (तस्येति) तस्य अनन्तर प्रतिपादित चैतन्यतत्त्वस्येमाश्चस्रोतस्त्रोऽवस्थाः जाग्रतसुप्तसुषुप्ततुरीयानवर्थाख्याः । जाग्रदवस्था, सुप्त सुषुप्तावस्था, तुरीयावस्था एताश्चान्वर्थाः ।' -द्वादशारनयचक्र, पृ. २१८/२२० प्रथम विभाग ।

कहा है। जैनदर्शन के अनुसार सम्पूर्णतः जागृति ही तुरीयावस्था है। किन्तु जाग्रत और उजागर (तुरीय) अवस्था में अन्तर है। जाग्रतावस्था अन्तर्मुहूर्त से अधिक स्थायी नहीं रहती और उजागर (केवल-ज्ञान-दर्शन) अवस्था प्रकट होने के बाद सदैव बनी रहती है। यह सहज रूप से होती है। विशंतिका में कहा गया है कि मोह अनादि निद्रा है। स्वप्नावस्था भव्यबोधि परिणाम है। जाग्रतदशा अप्रमत्त मुनियों की होती है। यह तीसरी अवस्था है। उजागरदशा वीतरागी अवस्था की प्राप्ति है।[१७] इस प्रकार जैनदर्शन में आत्मा की दो और तीन अवस्था के साथ-साथ चार अवस्थाओं का क्रम प्रकारान्तर से उपलब्ध होता है।

## १. उपाध्याय यशोविजयजी के अनुसार चेतना की चार अवस्थाएँ

उपाध्याय यशोविजयजी ने इन चार अवस्थाओं के गुणस्थानों की दृष्टि से चेतना की निम्न चार अवस्थाएँ बताई हैं।[१८]

(१) बहुशयन अवस्था (घोर निद्रा जैसी दशा);
(२) शयन अवस्था (स्वप्नदशा);
(३) जागरण अवस्था (जाग्रत दशा); और
(४) बहुजागरण अवस्था (सदैव जागने जैसी) होती है ।

बहुशयन अवस्था पहले गुणस्थान से लेकर तीसरे गुणस्थान तक होती है। दूसरी शयन अवस्था चौथे गुणस्थान से लेकर छटे गुणस्थान तक होती है। तीसरी जागरण अवस्था सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होती है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में चौथी बहुजागरण अवस्था होती है। अतः जीव की ये चारों अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकास की सूचक हैं। जाग्रत अवस्था

---

१७ 'मोहो अगाइ निद्दा सुवणदसा भव्वेबोहि परिणामो ।
अपमत्त मुणी जागर, जागर, उजागर वीयराउत्ति ।।'
-विशंतिका, उद्धृत अध्यात्मदर्शन, पृ. ४०७ ।

१८ 'चार छे चेतनानी दशा, अवितथा बजुश्यन जागरण चौथी तथा
मिच्छ, अविरत, सुयत तेरमे तेहनी, आदि गुण ठाणे नयचक्रमांहे मुणी ।। २ ।।'
-३५० गाथानुस्तवन, ढाल १६वीं ।

में व्यक्ति समस्त पदार्थों को देख सकता है। निद्रा अवस्था (सुषुप्त अवस्था) में मात्र गहरी निद्रा की अनुभूति होती है। स्वप्न अवस्था में जो पदार्थ देखे हुए हैं, उन पदार्थों का अवलोकन कर सकते हैं। जैनदर्शन में तुरीयावस्था को उजागर अवस्था, बहुजागरण अवस्था, कैवल्य अवस्था या समाधि अवस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। यह तुरीय अवस्था मात्र अरिहन्तों एवं सिद्धों में पाई जाती है। क्योंकि जब ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों की सम्पूर्ण प्रकृतियों का क्षय हो जाता है, तब इन कर्म-प्रकृतियों पर आधारित निद्रा, स्वप्न और जाग्रत ये तीन अवस्थाएँ भी लुप्त होजाती हैं। तुरीयावस्था में केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त होकर आत्मा शुद्ध स्वभाव में लीन हो जाती है। विशुद्धावस्था में वह केवल ज्ञाताद्रष्टा-साक्षी भाव में जीता है।

## २. सुषुप्तावस्था में चैतन्य की अनुभूति कैसे होती है?

न्यायवैशेषिकदर्शन एवं मीमांसादर्शन के प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुसार सुषुप्तावस्था में चैतन्य तत्त्व की अनुभूति नहीं हो सकती है। उनके अनुसार सुषुप्तावस्था में आत्मा में ज्ञान या चैतन्य का अभाव होता है। सांख्यदर्शन एवं मीमांसा के कुमारिलभट्ट सम्प्रदाय की अपेक्षा से सुषुप्तावस्था में स्मृति तो रहती है और उस स्मृति के बिना अनुभूति सम्भव नहीं है। जैसे "मैं निश्चेष्ट होकर सो गया था।" इससे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्त अवस्था में भी आत्मा में चैतन्य विद्यमान रहता है,[१६] - तभी अनुभूति रहती है। किन्तु मीमांसादर्शन का प्रभाकर सम्प्रदाय एवं न्यायवैशेषिकदर्शन उपर्युक्त कथन से सहमत नहीं है। जबकि जैनियों का मानना है कि सुषुप्तावस्था में दर्शनावरणीयकर्म चेतना को ऐसे आवृत्त कर लेते हैं; जैसे घने बादल सूर्य को आच्छादित कर लेते हैं। फिर भी उसका प्रकाश गुण पूर्णतः समाप्त नहीं होता है - धुंधला प्रकाश तो दिखाई देता ही है। वैसे ही निद्राकाल में चैतन्य सूक्ष्मरूप से और निर्विकार अवस्था में आत्मा में विद्यमान रहता है। अतः यह सिद्ध होता है कि सुषुप्तावस्था में भी चेतना विद्यमान रहती है; वह नष्ट

---

[१६] पंचदशी, ६/८९-९० ।

नहीं होती है किन्तु कर्मों के आवरण के कारण धूमिल हो जाती है। सुषुप्तावस्था में भी व्यक्ति को सुखानुभूति का आस्वाद रहता है और जागने के बाद भी ऐसा अनुभव होता है[२०] कि "आज मैं सुखपूर्वक सोया।" ऐसा अनुभव यह सिद्ध करता है कि सुषुप्ति अवस्था में भी चैतन्य विद्यमान रहता है। सुषुप्त अवस्था में चेतना सुख का संवेदन करती है। तभी तो व्यक्ति कहता है "मैं सुखपूर्वक सोया।" यह स्मृति सिद्ध करती है कि सुषुप्तावस्था में भी चेतना नष्ट नहीं होती है।[२१] वह विद्यमान रहती है। स्मृति यह सिद्ध करती है कि सुषुप्तदशा में आत्मा में चैतन्य विद्यमान रहता है। प्रमेयकमलमार्तण्ड में प्रभाचन्द्र ने बताया है कि स्मृति ज्ञान के अभाव में नहीं होती। सुषुप्त अवस्था में स्मृति रहती है।[२२] न्यायवैशेषिकों ने आत्मा में ज्ञानगुण का अभाव माना है। किन्तु चेतन या ज्ञान के अभाव में विषय की स्मृति कैसे हो सकती है? यदि न्यायवेशैषिक दार्शनिक सुषुप्त अवस्था में आत्मा में ज्ञान की सत्ता नहीं मानेंगे तो सुषुप्तावस्था की स्मृति भी सिद्ध नहीं हो सकेगी।[२३] क्योंकि निद्रा के सुख का संवेदन चेतना या ज्ञानगुण के बिना सम्भव नहीं है। अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है या ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। विद्यानन्दी का कहना है कि यदि आत्मा को अज्ञानस्वरूप स्वीकार करते हैं तो आत्मा अचेतन सिद्ध हो जायेगी। इसलिए यह मानना होगा कि सुषुप्त अवस्था में आत्मा में चैतन्य विद्यमान रहता है। इसी कारण से आत्मा चैतन्यस्वरूप या ज्ञानस्वरूप है।[२४]

## २.२.१ बौद्धदर्शन में आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाएँ

उपनिषदों के समान ही बौद्धदर्शन में भी आध्यात्मिक विकास

---

२० न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ८४८; विवरणप्रमेय संग्रह, पृ. ६० ।

२१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ८४८; विवरणप्रमेय संग्रह, पृ. ६० ।

२२ प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. ३२३ ।

२३ न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ८५० ।

२४ 'जीवों ह्येचेतनः काये जीवत्वाद् बाह्यदेशवत् ।
वक्तुमेवं समर्थोऽन्यः किं न स्याज्जड जीववाक् ।।' –तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १/२३१ ।

की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण उपलब्ध होता है। बौद्धदर्शन मुख्यरूप से दो भागों में विभक्त है :

(१) श्रावकयान या हीनयान; और (२) बुद्धयान या महायान।

हीनयान का आदर्श आध्यात्मिक विकास के द्वारा अर्हत् पद की प्राप्ति है, जबकि महायान का लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। इन दोनों अवधारणाओं में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ हीनयान अर्हत् पद की प्राप्ति के द्वारा व्यक्ति के वैयक्तिक निर्वाण को ही साधना का चरमलक्ष्य मानता है, वहाँ महायान का लक्ष्य बुद्धत्व को प्राप्त करके लोकमंगल की भावना है। महायान का साधक अपने वैयक्तिक निर्वाण की अपेक्षा नहीं रखता है। वह संसार के सभी प्राणियों को दुःखों से मुक्त करके ही मुक्त होना चाहता है। उसकी रुचि लोकमंगल में होती है, वैयक्तिक निर्वाण उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। जबकि हीनयान के साधक का लक्ष्य स्वयं का आध्यात्मिक विकास करते हुए अर्हत् अवस्था या निर्वाण को प्राप्त कर लेना है। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से हीनयान सम्प्रदाय में चार भूमियों (अवस्थाओं) का उल्लेख मिलता है। महायान सम्प्रदाय आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं को मानता है। हम क्रमशः दोनों ही परम्पराओं में प्रस्तुत आध्यात्मिक विकास की इन अवस्थाओं की विस्तृत चर्चा करेंगे।

## २.२.२ हीनयान सम्प्रदाय की स्रोतापन्न आदि चार भूमियाँ

हीनयान सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकास की भूमियाँ जैनधर्म के समान हैं। बौद्धधर्म में भी संसार के प्राणियों को दो भागों में बाँटा गया है[२५] - पृथक्जन (मिथ्यादृष्टि) और आर्य (सम्यग्दृष्टि)। मिथ्यादृष्टि या पृथक्जन की अवस्था वस्तुतः व्यक्ति के अविकास की अवस्था है। व्यक्ति की आध्यात्मिक विकास यात्रा तभी प्रारम्भ होती है, जब वह सम्यग्दृष्टि को स्वीकार करके निर्वाण मार्ग पर आरूढ़ होता है। फिर भी सभी मिथ्यादृष्टि समान नहीं होते हैं।

---

[२५] पं. सुखलालजी ने भी इसे मार्गानुसारी अवस्था से तुलनीय माना है।

उनमें भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से तरतमता होती है। बौद्ध ग्रन्थों में इसे दो भागों में बाँटा गया है :

(१) प्रथम अन्धपृथक्जनभूमि; (२) कल्याण पृथक्जनभूमि।

प्रथम अन्धपृथक्जनभूमि में चाहे व्यक्ति का दृष्टिकोण पूर्णतः सम्यक् नहीं होता, फिर भी वह जीवन व्यवहार में सदाचार और नैतिकता का पालन करता है। उसका आचरण धर्म ही होता है। तुलनात्मक दृष्टि से इस अवस्था को जैनधर्म की मार्गानुसारी अवस्था के समकक्ष माना जा सकता है। ऐसा व्यक्ति धर्ममार्ग का अनुसरण करनेवाला होता है। उसमें सम्यग्दृष्टि का विकास नहीं होता है। हीनयान परम्परा में सम्यग्दृष्टि सम्पन्न निर्वाणमार्ग पर आरूढ़ साधक को अर्हत् अवस्था की प्राप्ति करने के लिए आध्यात्मिक विकास की इन भूमियों (अवस्थाओं) को पार करना होता है :

(१) स्रोतापन्नभूमि; (२) सकृदागामी;
(३) अनागामीभूमि; और (४) अर्हत्भूमि।

इन चारों भूमियों में भी दो-दो अवस्थाएँ होती हैं - प्रथम साधक अवस्था या मार्ग की अवस्था और द्वितीय सिद्ध अवस्था या फलकी अवस्था। अगले पृष्ठों में हम इन चारों भूमियों के सम्बन्ध में किंचित् विस्तार से चर्चा करेंगे।

(१) स्रोतापन्नभूमि : स्रोतापन्न अर्थात् स्रोत को प्राप्त या दूसरे शब्दों में मार्ग को प्राप्त करके अपने गन्तव्य को प्राप्त करने के लिए अग्रसर बना हुआ। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार जब साधक तीन संयोजनों का नाश कर देता है, तब वह इस अवस्था को उपलब्ध करता है। ये तीन संयोजन निम्न हैं :
   (१) सत्कायदृष्टि : देहात्मकबुद्धि अर्थात् वह शरीर को ही आत्मा मानता है और उसी में ममत्वबुद्धि रखता है। उसमें 'मैं' और 'मेरापन' का आरोपण करता है (स्वकाये दृष्टिःचन्द्रकीर्ति);
   (२) विचिकित्सा : संदेहात्मक स्थिति; एवं
   (३) शीलव्रत परामर्श अर्थात् वह व्रत उपवास, तपश्चर्या आदि धार्मिक अनुष्ठानों एवं कर्मकाण्डों को ही साधना का सर्वस्व मान लेता है।

जब साधक सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा एवं शीलव्रत परामर्श की अवस्था को पार कर लेता है, तब वह स्रोतापन्नभूमि पर आरूढ़ हो जाता है। मिथ्यादृष्टि एवं विचिकित्सा के समाप्त हो जाने पर पतन की सम्भावना नहीं होती और साधक निर्वाण की ओर गतिशील बनकर आध्यात्मिक प्रगति करता है। स्रोतापन्न साधक चार अंगों से सम्पन्न होता है। वे इस प्रकार हैं :

(१) बुद्धानुस्मृति : बुद्ध के प्रति निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।
(२) धर्मानुस्मृति : धर्म के प्रति निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।
(३) संघानुस्मृति : संघ के प्रति निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।
(४) शील एवं समाधि की निर्मल भाव से साधना करता है।[२६]

स्रोतापन्न अवस्था को उपलब्ध साधक विचार एवं आचार से शुद्ध होता है। इस अवस्था को प्राप्त साधक अधिक से अधिक सात जन्मों में निर्वाण प्राप्त कर ही लेता है।

जैनपरम्परा की अपेक्षा से चतुर्थ सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक की ये जो अवस्थाएँ है; उसकी तुलना स्रोतापन्न अवस्था से की जा सकती है। क्योंकि जैन परम्परा के अनुसार साधक इन गुणस्थानों में दर्शनविशुद्धि और चारित्रविशुद्धि करता है। अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में वासनाओं एवं कषायों का स्थूल रूप से अभाव हो जाता है; फिर भी उनके बीज सूक्ष्म रूप से बने रहते हैं। दूसरे शब्दों में इस गुणस्थान में उदय की अपेक्षा से कषाय की तीनों चौकडियाँ समाप्त हो जाती हैं – मात्र संज्वलनकषाय शेष रहता है। जैनदर्शन के इस कथन के सम्बन्ध में बौद्ध विचारधारा यह कहती है कि स्रोतापन्न अवस्थाओं में वासनाएँ तो समाप्त होती हैं, पर आस्रव शेष रहता है। त्रिविध आत्मा की अपेक्षा से यह स्रोतापन्न अवस्था जघन्य एवं मध्यम अन्तरात्मा के समान होती है।

(२) सकृदागामीभूमि : स्रोतापन्न के आगे का सोपान सकृदागाभूमि है। इसके अन्तिम चरण में राग, द्वेष एवं आस्रव का क्षय हो जाता है, फिर साधक अनागामीभूमि की ओर अग्रसर हो जाता

---

२६ (क) विनयपिटक, चुल्लवग्ग ४/४ ।
(ख) 'जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ४७४ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

है। साधक इस अवस्था में बन्धन के मूल कारण राग-द्वेष, मोह आदि का प्रहाण कर देता है। इस भूमि में साधक राग-द्वेष और उनके कारण होनेवाले आस्रव को क्षय करने का प्रयत्न करता है। बौद्धदर्शन में आस्रव का तात्पर्य राग-द्वेष की वृत्तियों से है। स्रोतापन्नभूमि में व्यक्ति मोह का त्याग करता है, किन्तु उसमें राग-द्वेष के तत्त्व अव्यक्त रूप से बने रहते हैं। अतः संस्कारों का आस्रव होता रहता है। सकृदागामीभूमि में आकर साधक आस्रव के हेतु रूप और राग द्वेष का क्षय करता है। इस भूमि की तुलना जैनदर्शन के आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान से की जा सकती है। जैन विचारधारा के अनुसार इस अवस्था में मृत्यु प्राप्त होने पर अधिक से अधिक तीसरे जन्म में साधक मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त कर लेता है; जबकि बौद्धदर्शन के अनुसार सकृदागामीभूमि का साधक साधनाकाल में मृत्यु को प्राप्त होने पर अगले जन्म में निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। इस अन्तर का मूल कारण यह है कि जैनदर्शन में देवयोनि से निर्वाण या मोक्ष का अभाव माना गया है। जबकि बौद्धदर्शन के अनुसार साधक देवयोनि से भी सीधे निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। अतः उन्होंने यह माना है कि सकृदागामीभूमि को प्राप्त साधक अगले जन्म में मुक्ति को प्राप्त करता है। सैद्धान्तिकदृष्टि से इसमें कोई विशेष मतभेद नहीं है। क्योंकि इसमें जैनदर्शन इन गुणस्थानों से दूसरे जन्म में मुक्ति की इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं करता है। त्रिविध आत्मा की अवधारणा से तुलना करने पर हम यह कह सकते हैं कि सकृदागामीभूमि उत्कृष्ट अन्तरात्मा के समरूप है।

(३) अनागामीभूमि : जब साधक प्रथम स्रोतापन्न भूमि में सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रत परामर्श - इन तीनों संयोजनों तथा सकृदागामीभूमि में काम-राग और द्वेष इन दो संयोजनों - पंच भूभागीय संयोजनों को क्षय कर देता है, तब उसकी तितिक्षा और निर्भागवृत्ति तीव्रतम होती जाती है और वह अनागामीभूमि को उपलब्ध कर लेता है। अनागामी भूमि को प्राप्त साधक यदि विकास की दिशा में अग्रसर नहीं होता है, तो मृत्यु होने पर ब्रह्मलोक में जन्म लेकर वहीं से सीधे निर्वाण (मुक्ति) को उपलब्ध करता है।

साधनात्मक दिशा में अग्रसर इस साधक को इस अवस्था में निम्न पांच उड्ढभागीय संयोजनों को क्षय करना होता है :

(१) रूपराग; (२) अरूपराग; (३) मान;
(४) औद्धत्य; और (५) अविद्या ।

जब साधक इन पांचों संयोजनों का भी क्षय कर देता है, तब विकास की अग्रिम अर्हत् भूमिका को प्राप्त करता है। यदि साधक अर्हत् की अग्रिम भूमिका को प्राप्त करने से पूर्व साधनाकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होता है तो ब्रह्मलोक में जन्म लेकर वहाँ शेष पांच संयोजनों को नष्ट कर निर्वाण को प्राप्त करता है। फिर वह पुनः जन्म नहीं लेता है। इस अनागामीभूमि की तुलना जैनदर्शन के क्षीणमोह गुणस्थान से की जा सकती है; किन्तु वह अनागामी भूमि के अन्तिम चरण में ही समुचित होती है, जब अनागामी भूमि का साधक दसों संयोजनों के नष्ट होने पर अर्हत् भूमि की ओर अग्रसर होने की तैयारी में होता है। वस्तुतः आठवें से बारहवें गुणस्थान की अवस्थाएँ अनागामीभूमि के अन्तर्गत आती हैं। त्रिविध आत्मा की अवधारणा से तुलना करने पर यह अनागामी भूमि भी उत्कृष्ट अन्तरात्मा के समरूप मानी जा सकती है।

(४) अर्हतावस्था : अर्हतावस्था विकास की उच्चतम पराकाष्ठा है। साधक जब दसों संयोजनों को सम्पूर्णतः क्षय कर देता है तब वह अर्हतावस्था को प्राप्त कर लेता है। उसके समग्र बन्धनों के क्षय होने पर उसके क्लेशों आदि का भी प्रहाण हो जाता है। वस्तुतः यह जीवनमुक्ति की अवस्था है। जैनदर्शन भी इसे अर्हतावस्था या सयोगीकेवली गुणस्थान कहता है। जैन और बौद्ध परम्पराएँ इस भूमि के स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त समीप हैं। दोनों के अनुसार इस अवस्था में राग-द्वेष एवं मोह का पूर्णतः अभाव होता है। अर्हतावस्था को प्राप्त व्यक्ति नियम से निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त करता है। त्रिविध आत्मा की अवधारणा की दृष्टि से तुलना करने पर यह अवस्था परमात्मा की अवस्था है।

## २.३.१ महायान सम्प्रदाय की दस भूमियाँ

बौद्धधर्म में महायान सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाएँ हैं। जैसा कि हमने पूर्व में कहा है कि बौद्धदर्शन के महायान सम्प्रदाय का लक्ष्य वैयक्तिक निर्वाण की प्राप्ति न होकर

बुद्ध या बोधिसत्त्व की अवस्था को प्राप्त करके लोकमंगल करने की होती है। हीनयान से महायान की ओर संक्रमणकाल में रचित 'महावस्तु' नामक ग्रन्थ में निम्न दस भूमियों का उल्लेख मिलता है :

(१) दुरारोहा; (२) बुद्धमन; (३) पुष्पमण्डिता; (४) रुचिरा; (५) चितविस्तार; (६) रूपमति; (७) दुर्जया; (८) जन्मनिदेश; (९) यौवराज; और (१०) अभिषेक।

यद्यपि ये दस भूमियाँ भी प्राणी के बुद्धत्व की ओर होने वाली क्रमिक अवस्थाएँ हैं। फिर भी महायान सम्प्रदाय में जिन दस भूमियों का उल्लेख उपलब्ध होता है; उनके नाम कुछ भिन्न हैं। महायान सम्प्रदाय में दस भूमियों की चर्चा करने वाला एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है जिसका नाम 'दसभूमिशास्त्र' है। 'दसभूमिशास्त्र' में निम्न दस भूमियों का उल्लेख है :

(१) प्रमुदिता; (२) विमला; (३) प्रभाकरी; (४) अर्चिष्मती; (५) सुदुर्जया; (६) अभिमुक्ति; (७) दूरंगमा; (८) अचला; (९) साधुमति; और (१०) धर्ममेघा।[२७]

किन्तु महायान सूत्रालंकार और लंकावतारसूत्र में प्रथम भूमि का नाम अधिमुक्तिचर्याभूमि दिया गया है तथा भूमियों की संख्या दस बनाए रखने के लिए अन्तिम धर्ममेधा या बुद्धभूमि को भूमियों में नहीं गिना गया है। लंकावतारसूत्र की एक अन्य विशेषता यह है कि वह धर्ममेधा और गणभूमि (बुद्धभूमि) का उल्लेख करता है। अधिमुक्तचर्याभूमि का इन दस भूमियों में समावेश करने पर इनकी संख्या ग्यारह हो जाती है। आगे हम इनका क्रमशः विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

(१) अधिमुक्तचर्याभूमि : असंग के अनुसार प्रथम भूमि अधिमुक्तचर्याभूमि है। प्रकारान्तर से अन्य ग्रन्थों में कहीं प्रमुदिता को भी प्रथम भूमि कहा है। इस भूमि में साधक को पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य का यथार्थबोध होता है। इस भूमि में दृष्टिविशुद्धि होती है। इस भूमि को जैनदर्शन के चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान के समकक्ष कहा जा सकता है। अधिमुक्तचर्याभूमि को बोधिप्रणिधिचित्त की अवस्था

---

[२७] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ४७५-७६ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

भी कहा जा सकता है। इस भूमि में बोधिसत्त्व साधक दानपरिमिता का प्रयत्न करता है। यह जघन्य अन्तरात्मा की भूमिका है।

(२) प्रमुदिताभूमि : इस भूमि में अधिशील शिक्षा प्राप्त होती है। इस भूमि में शीलविशुद्धि का प्रयास किया जाता है। प्रमुदिता भूमिवाला साधक (बोधिसत्त्व) लोकमंगल की साधना में संलग्न रहता है। इसे बोधिप्रस्थानचित्त की दशा भी माना जा सकता है। बोधिप्रणिधिचित्त मार्ग का ज्ञान है और बोधिप्रस्थानचित्त मार्ग में गमनागमन की क्रिया है। इस भूमि की तुलना जैनदर्शन के देशविरत पंचम गुणस्थान और छट्ठे सर्वविरत गुणस्थान से की जा सकती है। इस भूमि में यह ज्ञान होता है कि प्रत्येक कर्म के फल का भोग अनिवार्य है, कर्म तो अपना फल दिये बिना नष्ट नहीं होता है। इस भूमि में बोधिसत्त्व शीलपारमिता का पालन करता हुआ, अपने शील को अत्यन्त विशुद्ध बनाता है। इस भूमि के पश्चात् साधक विमलाविहारभूमि में प्रवेश करता है। त्रिविध आत्मा की अवधारणा की दृष्टि से तुलना करने पर इसे भी जघन्य अन्तरात्मा की भूमिका माना जा सकता है।

(३) विमलाभूमि : इस भूमि में बोधिसत्त्व के जीवन में असंयम एवं प्रमाद का अभाव होता है; क्योंकि इस विमला नामक भूमि में दुःखशीलता के मनोविकार सम्पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं - दुर्विचार और दुर्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। यह भूमि आचार शुद्धि की दशा है। साधक इस भूमि में शान्ति और पारमिता की प्राप्ति हेतु प्रयासरत रहता है। यह अधिचित्त शिक्षा है। विमलाभूमि में ध्यान और समाधि का लाभ होता है। जैन परम्परानुसार इस विमलाभूमि की तुलना सप्तम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से की जा सकती है। यह मध्यम अन्तरात्मा की भूमिका है।

(४) प्रभाकरीभूमि : इस भूमिवाले साधक को समाधिबल के प्रभाव से अपरिमित धर्मों का साक्षात्कार हो जाता है। बोधिसत्त्व (साधक) लोकमंगल के लिए बोधिपक्षीय धर्मों का परिणमन संसार में करता है। दूसरे शब्दों में बुद्ध का ज्ञानरूपी प्रकाश लोक में प्रसारित करता है। इसी कारण इस भूमि को प्रभाकरी नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह भूमि भी

जैनदर्शन के सप्तम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान अथवा मध्यम अन्तरात्मा के समकक्ष है।

(५) अर्चिष्मतीभूमि : साधक इस भूमि में क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का क्षय करता है। जैनपरम्परानुसार यह भूमि आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के समकक्ष है। जैसे आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में साधक ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों का रसघात, स्थितिघात और संक्रमण करता है वैसे ही इस अर्चिष्मतीभूमि में साधक क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का नाश करता है। इस भूमि में साधक वीर्य पारमिता के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह भूमि भी मध्यम अन्तरात्मा की उच्चतम अवस्था मानी जा सकती है।

(६) सुदुर्जयाभूमि : साधक इस भूमि में सत्त्वपरिपाक या समग्र प्राणियों के धार्मिक भावों को परिपुष्ट करने के लिए और स्वचित्त अर्थात् स्वभावदशा का संरक्षण करते हुए दुःखों को जीतता है। यह कार्य अत्यन्त कठिन होता है। इसलिये इस भूमि को दुर्जयाभूमि कहा जाता है। इस भूमि में बोधिचित्त का उत्पाद् होने से भवापत्ति विषयक संक्लेशों से रक्षण हो जाता है अर्थात् भावी आयुष्यकर्म का बन्ध रुक जाता है। इस भूमि में साधक ध्यानपारमिता के लिए प्रयत्नशील रहता है। जैनदर्शन की अपेक्षा से सुदुर्जया नामक इस भूमि की तुलना क्षायिक श्रेणी के आठवें एवं नौवें गुणस्थान से की जा सकती है। जैनदर्शन और बौद्धदर्शन दोनों के अनुसार आध्यात्मिक विकास की यह अवस्था अत्यन्त कठिन होती है। त्रिविध आत्मा की अपेक्षा से यह भूमि उत्कृष्ट अन्तरात्मा की है।

(७) अभिमुखीभूमि : इस भूमि में बोधिसत्त्व प्रज्ञापारमिता के आश्रय से निर्वाण के प्रति अभिमुख होता है। यर्थाथ प्रज्ञा के उदय से साधक के लिए संसार और निर्वाण – दोनों में समभाव होता है। उसके लिए संसार का बन्ध नहीं होता है। बोधिसत्त्व या साधक के निर्वाण अभिमुख होने के कारण ही इस भूमि को अभिमुखीभूमि कहा जाता है। साधक इस भूमि में प्रज्ञापारमिता की साधना पूर्ण कर लेता है। चौथी, पांचवी और छठी भूमियों में अधिप्रज्ञा की शिक्षा होती है अर्थात् प्रज्ञापारमिता का अभ्यास होता है। साधक इस भूमि में उसकी पूर्णता को उपलब्ध कर लेता है। इस अभिमुखीभूमि की

तुलना जैन परम्परा में क्षायिकश्रेणी के दसवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान से की जा सकती है। त्रिविध आत्मा की अवधारणा से तुलना करने पर यह भूमि भी उत्कृष्ट अन्तरात्मा की है।

(८) दूरंगमाभूमि : इस भूमि में साधक एकान्तिक मार्ग अर्थात् शाश्वतवाद, उच्छेदवाद आदि से परे हो जाता है। ऐसे विकल्प भी उसके मन में नहीं उठते हैं। जैनदर्शन के अनुसार यह आत्मा की पक्षातिक्रान्तदशा या निर्विकल्पदशा है। साधक इस भूमि में साधना की पूर्णता को प्राप्त करता है। इस भूमि को साधक के आत्म साक्षात्कार की अवस्था भी कह सकते हैं। बौद्ध परम्परानुसार दूरंगमाभूमि में बोधिसत्त्व की साधना पूर्ण हो जाती है। वह निर्वाण प्राप्ति के लिए सर्वथा योग्य बन जाता है और संसार के प्राणियों को निवार्णमार्ग (मोक्ष) की ओर प्रेरित करता है। इस भूमि में वह सभी पारमिताओं का व्यवस्थित रूप से पालन करता है एवं कौशल्य पारमिता का अभ्यास करता है। इस भूमि को जैनदर्शन के बारहवें गुणस्थान के अन्तिम चरण के समकक्ष माना जा सकता है। जैनपरम्परा के अनुसार यह भूमि उत्कृष्ट अन्तरात्मा के समकक्ष मानी जा सकती है।

(९) अचलाभूमि : संकल्पशून्यता और विषयरहित अनिमित्त विहारी समाधि की प्राप्ति के कारण इस भूमि को अचला कहा जाता है। विषयरहित चित्त संकल्पशून्य (निर्विकल्प) होता है। इसलिए यह अविचल होता है। इस भूमि में चित्त की चंचलता और विचारों में विषय विकार आदि का पूर्णतः अभाव होता है। निर्विकल्पदशा (संकल्पशून्य) होने से इस भूमि में तत्त्व के साक्षात्कार की अनुभूति होती है। इसकी तथा अग्रिम साधुमतीभूमि की तुलना जैनदर्शन के सयोगीकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान से की जा सकती है।

(१०) साधुमतीभूमि : इस साधुमती भूमिवाले बोधिसत्त्व का हृदय समग्र प्राणियों के प्रति करुणाशील तथा मैत्री, प्रमोद आदि भावना से युक्त होता है। इस स्तर पर काम-वासना, देह-तृष्णा आदि सर्वथा नष्ट हो जाती है। यह पूर्ण की भूमिका है। इसमें तृष्णा और आसक्ति का पूरी तरह से अभाव हो जाता है। फिर भी इस भूमि के साधक सत्त्वपाक अर्थात् संसार के सभी प्राणियों में बोधिबीज को प्रस्फुटित

और परिपुष्ट करने का लक्ष्य रखते हैं। साधुमती नामक इस भूमि में साधकचित्त की अत्यन्त विशुद्धता परिलक्षित होती है। इस भूमिवाले साधक में दूसरी आत्माओं के मनोगत भावों को जानने का सामर्थ्य पैदा हो जाता है। यह भूमि सयोगीकेवली के समकक्ष मानी जा सकती है। त्रिविध आत्मा की दृष्टि से इसे परमात्मा की भूमिका कह सकते हैं।

(११) धर्ममेघाभूमि : जिस प्रकार मेघ सम्पूर्ण आकाश को परिव्याप्त करता है; उसी प्रकार इस भूमि में बोधिसत्त्व की समाधि मेघ के समान धर्माकाश में व्याप्त होती है। धर्ममेघाभूमि में बोधिसत्त्व दिव्य शरीर को उपलब्ध कर रत्नजड़ित दैवीय कमल पर स्थित दृष्टिगोचर होते हैं। इस भूमि की तुलना जैनदर्शन में उपदेश प्रदान करने हेतु तीर्थंकर की समवसरण में उपस्थिति से की जा सकती है। यह भूमि भी त्रिविध आत्माओं में परमात्मदशा की ही सूचक है।

## २.४.१ जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा

जैनदर्शन के प्राचीन आगम ग्रन्थों में विभिन्न अपेक्षाओं से आत्मा के विभिन्न प्रकार के वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। जैसे सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि चारित्र की अपेक्षाओं से अविरत, देशविरत और सर्वविरत; कषाय की अपेक्षा से सकषायी और अकषायी; उपशम और क्षय की अपेक्षा से उपशान्तमोह और क्षीणमोह एवं योग की अपेक्षा से अयोगी और सयोगी। ये वर्गीकरण आचारांगसूत्र, सूत्रकृतांग, भगवतीसूत्र आदि प्राचीन स्तर के अर्द्धागम ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। किन्तु बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के रूप में त्रिविध आत्मा की अवधारणा का हमें अर्धमागधी आगम साहित्य में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। इस आधार पर विद्वानों ने यह माना है कि जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा का विकास परवर्तीकाल में हुआ है। त्रिविध आत्मा की यह अवधारणा सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के मोक्षप्राभृत में मिलती है।[२८] मोक्षप्राभृत आचार्य

---

[२८] 'तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो हु देहीणं ।
तत्थ परो झाइज्जइ, अंतोवाएण चएवि बहिरप्पा ।। ४ ।।' –मोक्षपाहुड ।

कुन्दकुन्द की कृति है; इसको लेकर भी विद्वानों में मतभेद की स्थिति है। कुछ विद्वानों का कहना है कि अष्टप्राभृत में अपभ्रंश का प्रभाव देखा जाता है जबकि कुन्दकुन्द के समयसार आदि ग्रन्थ अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के काल को लेकर भी मतभेद है। जहाँ परम्परागत विद्वान उन्हें ईसा की प्रथम शताब्दी का आचार्य मानते हैं तो अन्य उनका काल ईसा की ५वीं, ६ठी शताब्दी तक ले जाते हैं। डॉ. सागरमल जैन ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवस्थान के उल्लेखों के आधार पर उन्हें पांचवी शताब्दी से परवर्ती माना है। यहाँ हम इन विवादों में न पड़कर केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि अर्धमागधी आगम और शोरसेनी आगम साहित्य में त्रिविध आत्मा की स्पष्ट अवधारणा का अभाव है। अतः यह स्पष्ट है कि जैनदर्शन में आगमों और आगमतुल्य रचनाओं के पश्चात् ही त्रिविध आत्मा की अवधारणा का विकास हुआ है। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षप्राभृत (मोक्खपाहुड) में त्रिविध आत्मा का स्पष्ट उल्लेख किया है। आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् स्वामी कार्तिकेय[२९] की कार्तिकेयानुप्रेक्षा में त्रिविध आत्मा की अवधारणा का उल्लेख मिलता है। स्वामी कार्तिकेय ने न केवल त्रिविध आत्मा का उल्लेख किया है अपितु उन्होंने परमात्मा का अर्हन्त और सिद्ध ऐसे रूपों में वर्गीकरण किया है। इसी क्रम में तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका के लेखक पूज्यपाद देवनन्दी ने भी अपने एक अन्य ग्रन्थ समाधितन्त्र[३०] में त्रिविध आत्मा की अवधारणा को उल्लेखित किया है। निश्चय ही ये सभी ग्रन्थ छठी शताब्दी के लगभग के हैं। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा का उल्लेख लगभग पांचवी-छठी शताब्दी से मिलने लगता है। इसके पश्चात् त्रिविध आत्मा की अवधारणा का उल्लेख योगीन्दुदेव के परमात्मप्रकाश[३१] और योगसार[३२] में है, जिसमें आत्मा

---

२९ 'जीवा हवंति तिविहा बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तहय सिद्धा य ।। १९२ ।।' -स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

३० 'बहिरंतः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ।। ४ ।।' -समाधितंत्र ।

३१ 'मुढु वियक्खणु बंभु परू अप्पा ति-विहु हवेइ ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ।। १३ ।।' -परमात्मप्रकाश ।

की इन तीन अवस्थाओं की न केवल चर्चा है, अपितु इन पर विस्तार से प्रकाश भी डाला गया है। विशेषरूप से वे परमात्मप्रकाश में आत्मा की इन तीनों अवस्थाओं के स्वरूप का भी उल्लेख करते हैं। योगीन्दुदेव का काल विद्वानों ने सातवीं-आठवीं शताब्दी के लगभग माना है। योगीन्दुदेव के पश्चात् लगभग दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में हुए आचार्य शुभचन्द्र ने आत्मा की इन तीन अवस्थाओं का उल्लेख अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ज्ञानार्णव में किया है।[३३] लगभग बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध श्वेताम्बर जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में भी इन त्रिविध आत्माओं की चर्चा की है।[३४]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि त्रिविध आत्मा की इस अवधारणा का प्राथमिक विकास मुख्यतः दिगम्बर परम्परा में ही हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय, पूज्यपाद देवनन्दी, योगीन्दुदेव और आचार्य शुभचन्द्र ये सभी दिगम्बर परम्परा के उद्भट आचार्य रहे हैं। श्वेताम्बर परम्परा के साहित्य में, जहाँ तक हमारी जानकारी है, सर्वप्रथम आचार्य हेमचन्द्र ने ही लगभग बारहवीं शताब्दी में त्रिविध आत्मा की अवधारणा का उल्लेख किया है। उनके पूर्व जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, सिद्धसेनगणि, आचार्य हरिभद्र, उद्योतनसूरी, आचार्य शीलांक और अभयदेव आदि के ग्रन्थों और टीकाओं में इस अवधारणा का कहीं निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। यहाँ यह विशेषरूप से द्रष्टव्य है कि जहाँ दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के काल से त्रिविध आत्मा की अवधारणा के उल्लेख उपलब्ध होते हैं वहाँ श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् आनन्दघन[३५], उपाध्याय यशोविजयजी आदि ने त्रिविध आत्मा की अवधारणा का उल्लेख किया है। उपाध्याय

---

३२ 'ति-पयारो अप्पा मुणहि परू अंतरू बहिरप्पु ।
पर सायहि अंतर-सहिउ बाहिरू चयहि णिभंतु ।। ६ ।।' -योगसार ।

३३ 'त्रिप्रकारः स भूतेषु सर्वेष्वात्मा व्यवस्थितः ।
बहिरन्तः परश्चेति विकल्पैर्वक्ष्यमाणकैः ।। ५ ।।' -ज्ञानार्णव ।

३४ 'बाह्यात्मानमपास्य प्रसक्ति भाजान्तरात्मना योगी ।
सततं परमात्मानं विचिन्तयेत्तन्मयत्वाय ।। ६ ।।' -योगशास्त्र, द्वादशप्रकाश ।

३५ 'त्रिविध सकल तनु धरगत आत्मा बहिरात्म धुरीभेद ।
बिजो अन्तर आत्मा तिसरो परमात्म अविच्छेद ।। १ ।।' -आनन्दघन ग्रन्थावली ५ ।

यशोविजयजी[३६] अपने ग्रन्थ योगावतार द्वात्रिंशिका में न केवल त्रिविध आत्मा का उल्लेख करते हैं, अपितु उन्होंने इस त्रिविध आत्मा की अवधारणा को चौदह गुणस्थानों की अवधारणा के साथ घटित भी किया है।

उधर दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द, देवनन्दी, योगीन्दुदेव, शुभचन्द्र आदि के पश्चात् पण्डित आशाधर[३७] ने अपने ग्रन्थ अध्यात्मरहस्य में त्रिविध आत्मा की अवधारणा का उल्लेख किया है। पण्डित आशाधर का काल तेरहवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। इनके अतिरिक्त देवसेन[३८] ने अपने ग्रन्थ ज्ञानसार तथा ब्रह्मदेव[३९] ने द्रव्यसंग्रह की टीका में भी त्रिविध आत्माओं का उल्लेख किया है। हिन्दी कवियों में दिगम्बर परम्परा में धानतराय[४०] ने धर्मविलास में, भैया भगवतीदास[४१] ने ब्रह्मविलास में, मुनि रामसिंह[४२] ने पाहुडदोहा में एवं बनारसीदास ने समयसार नाटक में[४३] त्रिविध आत्मा का उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दिगम्बर परम्परा में पांचवी-छठी शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक त्रिविध आत्माओं की अवधारणा की चर्चा होती रही। जहाँ तक श्वेताम्बर परम्परा का प्रश्न है; उसमें १२वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शती तक त्रिविध आत्मा की चर्चा मिलती है। श्वेताम्बर परम्परा में त्रिविध आत्मा की चर्चा करने वालों में सर्वप्रथम आचार्य हेमचन्द्र (बारहवीं सदी) का क्रम आता है। उनके पश्चात् आध्यात्मिक सन्त आनन्दघनजी, उपाध्याय यशोविजयजी और देवचन्द्रजी[४४] प्रमुख हैं। इस तुलनात्मक अध्ययन में हम यह देखते हैं कि त्रिविध आत्मा की यह अवधारणा दिगम्बर

---

[३६] 'बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति च त्रयः ।
कायाधिष्ठायक ध्येयाः प्रसिद्धा योग वाङ्मये ।। १७ ।।' -योगावतार द्वात्रिंशिका ।

[३७] अध्यात्मरहस्य, ४-५ ।

[३८] ज्ञानसार गा. २६ ।

[३९] द्रव्यसंग्रह गा. १४ ।

[४०] धर्मविलास अध्यात्मपंचासिका ४१ ।

[४१] ब्रह्मविलास परमात्मछत्तीसी २ ।

[४२] पाहुडदोहा ८४-८७ ।

[४३] समयसार नाटक, मोक्षद्वार ११ (बन्धद्वार, साध्य सिद्धिद्वार) ।

[४४] देवचन्द्र चौबीसी, ध्यान दीपिका-चतुष्पदी ४/८/७,१०२ । -देवचन्द्रजी ।

परम्परा में जितनी लोकप्रिय रही उतनी श्वेताम्बर परम्परा में नहीं रही। इस अवधारणा के विकास का श्रेय दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य आचार्य कुन्दकुन्द को जाता है।

अग्रिम पृष्ठों में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इन दिगम्बर श्वेताम्बर आचार्यों एवं विद्वानों ने किस रूप में त्रिविध आत्मा की अवधारणा का उल्लेख किया है।

## २.४.२ कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में त्रिविध आत्मा की अवधारणा

### (क) मोक्षप्राभृत में त्रिविध आत्मा

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम मोक्षप्राभृत में तीन प्रकार की आत्माओं का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि आत्मा परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा के भेद से तीन प्रकार की है। इन्द्रियाँ बहिरात्मा हैं, आत्मसंकल्प अन्तरात्मा है और कर्म-कलंक से रहित आत्मा परमात्मा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन्द्रियों को ही बहिरात्मा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि ऐन्द्रिक विषयों में अनुरक्त आत्मा ही बहिरात्मा है। आत्मसंकल्प को अन्तरात्मा कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मोन्मुख आत्मा ही अन्तरात्मा है। दूसरे शब्दों में इन्द्रियोन्मुख बहिरात्मा है और आत्मोन्मुख अन्तरात्मा है।[४५] उन्होंने परमात्मा को कर्म-कलंक से रहित बताया है। जब आत्मा कर्ममल से रहित हो जाती है; तो वह परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती है।[४६] इस प्रकार वे इन तीन विशिष्ट लक्षणों के आधार पर त्रिविध आत्मा का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

### (ख) नियमसार में त्रिविध आत्मा

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार के निश्चयपरमावश्यकाधिकार की अलग-अलग गाथाओं में भी बहिरात्मा, अन्तरात्मा और

---

४५ 'अक्खाणि बाहिरप्पा अन्तरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्म-कलंक विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ।। ५ ।।' --मोक्षपाहुड ।

४६ 'मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ।। ६ ।।' -वही ।

परमात्मा के स्वरूप का विवेचन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं कि जो श्रमण आवश्यककर्म से रहित हो, वह बहिरात्मा कहलाता है और जो श्रमण परमावश्यककर्म से निरन्तर संयुक्त हो अर्थात् अनुपचार से रत्नत्रयात्मक स्वात्मआचरण में पूर्णतः सजग हो या नियम में विद्यमान हो उसे अन्तरात्मा कहा गया है।[४७] नियमसार के टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने यहाँ अन्तरात्मा के निम्न तीन भेद स्वीकार किये हैं – जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जो क्षीणमोह पद को प्राप्त परम श्रमण है; वह सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा है। जो आत्मा अप्रत्याख्यानी कषायों से सहित है, वह असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा कहलाती है। इन दोनों के मध्य की अवस्था को मध्यम अन्तरात्मा कहा गया है। टीकाकार ने निश्चय और व्यवहार नय की अपेक्षा से यह बताया है कि जो आत्मा परमावश्यकक्रिया से रहित हो वह बहिरात्मा है। कुन्दकुन्दाचार्य आगे लिखते हैं कि जो आत्मा अन्तर्बाह्य जल्प में वर्तती हो एवं धर्मध्यान और शुक्लध्यान से विहीन हो वह बहिरात्मा है। जो आत्मा इन अन्तर्बाह्य जल्प में निमग्न नहीं होती है धर्म और शुक्लध्यानामृतरूपी समरसता से युक्त होती है, वह अन्तरात्मा कहलाती है। जो निजस्वरूप या परमवीतरागदशा में स्थित हो वह परमात्मा है।

## २.४.३ स्वामी कार्तिकेय की कार्तिकेयानुप्रेक्षा

आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् त्रिविध आत्मा का उल्लेख करनेवाला यदि कोई ग्रन्थ है, तो वह स्वामी कार्तिकेय की कार्तिकेयानुप्रेक्षा है। स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा क्रमांक १९२ में कहा है कि जीव तीन प्रकार के होते हैं[४८] :

---

[४७] (क) 'आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अन्तरंगप्पा ।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ।। १४९ ।।'
(ख) 'अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ।। १५० ।।' –नियमसार ।
(ग) नियमसार गा. १५१, १५२ एवं १७८ ।

[४८] 'जीवाहवंति तिविहा बहिरप्पा तह य अन्तरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य ।। १९२ ।।' –स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

(१) बहिरात्मा; (२) अन्तरात्मा; और (३) परमात्मा ।

जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने केवल त्रिविध आत्मा का उल्लेख किया; वहाँ स्वामी कार्तिकेय ने परमात्मा के दो भेद अर्हन्त और सिद्ध स्वीकार किये हैं।[४९] इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी कार्तिकेय त्रिविध आत्मा की इस चर्चा में अपने पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द से एक कदम आगे जाते हैं। वे कहते हैं कि तीव्र कषायों से आविष्ट जीव और शरीर को एक मानने वाला मिथ्यात्व परिणति से युक्त बहिरात्मा होती है।[५०] इसके विपरीत देह और आत्मा के भेद को जाननेवाली, जिनवचन से कुशल एवं कर्मों की निर्जरा करनेवाली – ऐसी अन्तरात्मा होती है। यहाँ वे अन्तरात्मा के भी तीन भेद करते हैं।[५१] उनके अनुसार (१) उत्कृष्ट; (२) मध्यम; और (३) जघन्य के भेद से अन्तरात्मा तीन प्रकार की है। प्रमादों पर सम्पूर्णरूप से विजय और पंचमहाव्रतों से युक्त सदैव धर्म और शुक्लध्यान से युक्त आत्मा उत्कृष्ट अन्तरात्मा कही जाती है।[५२] जिनवचनों में अनुरक्त, उद्यमशील, महासत्ववाले श्रावकगुणों से युक्त श्रावक एवं प्रमत्तसंयत मुनि अन्तरात्मा है।[५३] यहाँ हम देखते हैं कि स्वामी कार्तिकेय मध्यम अन्तरात्मा के भी दो वर्ग करते हैं :(१) व्रतों से युक्त श्रावक; तथा (२) प्रमत्तसंयत मुनि। जघन्य अन्तरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि व्रत धारण करने में असमर्थता का अनुभव करते हुए अपनी आत्मा की निन्दा करने वाले और गुण ग्रहण करने की भावना में अनुरक्त तथा जिनेन्द्र की भक्ति से युक्त अविरतसम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा कहे गये हैं। इसी प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी

---

४९ 'स-सरीरा अरहंता, केवलणाणेण मुणियसयलत्था ।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता ।। १९८ ।।' -वही ।

५० मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा ।। १९३ ।।' -वही ।

५१ 'जे जिणवयणे कुसलो, भेयं जाणंति जीवदेहाणं ।
णिज्जियदुट्ठट्ठमया, अन्तरअप्पा य ते तिविहा ।। १९४ ।।' -स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

५२ 'पंचमहव्वयजुत्ता, धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं ।
णिज्जियसयलपमाया, उक्किट्ठा अन्तरा होंति ।। १९५ ।। -वही ।

५३ 'सावयगुणहिं जुत्ता, पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति ।
जिणवयणे अणुरत्ता, उवसमसीला महासत्ता ।। १९६ ।।' -वही ।

कार्तिकेय ने केवलज्ञानी परमात्मा के भी दो भेद किये हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा से चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक जघन्य अन्तरात्मा है। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और छट्ठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं और सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवात्मा उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। पुनः वे लिखते हैं कि केवलज्ञान से युक्त सकल पदार्थों के ज्ञाता शरीर से युक्त अर्हन्त परमात्मा हैं तथा द्रव्य शरीर से रहित, किन्तु ज्ञान शरीर से युक्त सर्वोत्तम सुख-सम्पदा को प्राप्त सिद्ध परमात्मा हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि स्वामी कार्तिकेय ने न केवल त्रिविध आत्माओं की चर्चा की है, अपितु त्रिविध आत्माओं में अन्तरात्मा के तीन भेद तथा परमात्मा के दो भेद भी किये हैं और उनके लक्षणों को भी स्पष्ट किया है।[५४] इस प्रकार त्रिविध आत्माओं की इस चर्चा में आचार्य कुन्दकुन्द की अपेक्षा स्वामी कार्तिकेय अधिक विस्तार से इस चर्चा को स्पष्ट करते हैं।

## २.४.४ पूज्यपाद देवनन्दी के समाधितन्त्र में त्रिविध आत्मा

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने समाधितन्त्र नामक ग्रन्थ में सर्व प्राणियों की अपेक्षा से बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा के भेद को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया है। उन्होंने आत्मा की त्रिविध अवस्था स्वीकार की है। जो अचेतन पुद्गल-पिण्डस्थ शरीर, मन, वाणी, पुण्य, पापादि में रूचि रखता है - उनको अपना मानता है - वह बहिरात्मा है। इससे विपरीत अन्तरात्मा अन्तर स्वभाव को जाननेवाली - पहिचाननेवाली है। अन्तरात्मा उत्तम, मध्यम व जघन्य के भेद से तीन प्रकार की है। उनके अनुसार सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के जीव उत्तम अन्तरात्मा हैं। दसवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक राग होने से देशव्रती एवं महाव्रती, पांचवें छट्टे गुणस्थानवर्ती श्रावक और मुनि भगवन्त मध्यम अन्तरात्मा हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि आत्मा जघन्य अन्तरात्मा है।

---

[५४] 'अविरयसम्मद्दिट्ठी, होंति जहण्णा जिणंदपयभत्ता ।
अप्पाणु णिंदंता, गुण गहणे सुट्ठुअणुरत्ता ।। १६७ ।।' -स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा ही परमात्मा हैं। परमात्मा के दो प्रकार स्वीकार किये गए हैं – सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। बहिरात्मा विकार व विभाव की साधक है और अन्तरात्मा निर्मल स्वस्वभाव की साधक है। परमात्मा पूर्ण निर्मलता के प्रतीक हैं। वे अरिहन्त एवं सिद्ध परमात्मा हैं।[५५] वे आगे लिखते हैं कि बहिरात्मा देहादिक में भी भ्रान्ति करती हुई देह को ही आत्मा समझती है। अन्तरात्मा रागादि विकार भाव में अभ्रान्त रहती है तथा परमात्मा सर्वकर्ममल से रहित एवं अत्यन्त निर्मल है। समाधितन्त्र में भी त्रिविध आत्मा की चर्चा विशिष्ट रूप से उपलब्ध होती है। बहिरात्मा अर्थात मूढ़ आत्मा अपने शुद्ध चिदानन्द, ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव की अनुभूति नहीं करती। अन्तरात्मा इन भूलों को भूल मानकर त्याग करती है – आत्मद्रव्य को जानती है। जिस प्रकार प्रत्येक लेण्डीपीपल चौंसठपुटी चरपराहटयुक्त है, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञता का आनन्द व्याप्त है। वे कहते हैं कि उसकी पूर्णदशा प्रकट होने का नाम ही परमात्मा है।[५६]

## २.४.५ योगीन्दुदेव के अनुसार त्रिविध आत्मा

### (क) परमात्मप्रकाश में त्रिविध आत्मा

योगीन्दुदेव के परमात्मप्रकाश में भी त्रिविध आत्मा की विस्तृत विवेचना स्पष्ट रूप से उपलब्ध होती है। परमात्मप्रकाश के पांच दोहों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है[५७] एवं इन त्रिविध आत्माओं के विभिन्न नाम भी उपलब्ध होते हैं।[५८] मिथ्यात्व तथा रागादि भावों में आसक्त होनेवाली आत्मा को उन्होंने बहिरात्मा या मूढ़ कहा है; वीतराग,

---

५५ 'बहिरन्त परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ।। ४ ।।' –समाधितंत्र ।

५६ 'बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ।। ५ ।।' –समाधितंत्र ।

५७ 'मुढु वियक्खणु बंभु परू अप्पा ति-विहु हवेइ ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ।। १३ ।।' –परमात्मप्रकाश ।

५८ 'देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ ।
परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ।। १४ ।।' –वही ।

निर्विकल्प, स्वसंवेदन और देह से भिन्न ज्ञानरूप परिणमन करनेवाली आत्मा को विचक्षण या पण्डित (अन्तरात्मा) कहा है और जो आत्मा समस्त देहादिक परद्रव्यों का त्याग करके शुद्ध-बुद्ध स्वभाववाली हो - जिसमें रागादि का अभाव हो वह अनन्तज्ञान युक्त आत्मा परमात्मा कहलाती है।[५९] योगीन्दुदेव की दृष्टि में जो जीव देह को आत्मा समझता है, वह वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुए परमानन्द सुख की अनुभूति नहीं कर सकता है। इस कारण वह आत्मा मूर्ख या मूढ़ (बहिरात्मा) है। वे आगे लिखते हैं कि इन त्रिविध आत्मा की योगीन्दुदेव में बहिरात्मा त्याग करने योग्य है; सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा उपादेय है और मात्र केवलज्ञानादि गुणोंवाले शुद्ध परमात्मा ध्यान करने योग्य हैं।

## (ख) योगसार में त्रिविध आत्मा

योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश के अतिरिक्त योगसार में त्रिविध आत्माओं का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि इस आत्मा को तीन प्रकार की जानना चाहिये :

(१) बहिरात्मा; (२) अन्तरात्मा; और (३) परमात्मा।[६०]

इसमें निभ्रान्त होकर बहिरात्मा का त्याग करें और अन्तरात्मा में स्थित होकर परमात्मा का ध्यान करें। इस प्रकार योगीन्दुदेव परमात्मप्रकाश के समान ही योगसार में भी त्रिविध आत्माओं की चर्चा प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने न केवल त्रिविध आत्माओं का उल्लेख किया है अपितु उनके लक्षण भी बताये हैं। वे लिखते हैं कि मिथ्यादर्शन से मोहित होकर जो परमात्मा के स्वरूप को नहीं जानती है उसे ही जिनेन्द्रदेव ने बहिरात्मा कहा है। यह बहिरात्मा मिथ्यादर्शन से मोहित होने के कारण संसार में बार-बार भ्रमण

---

[५९] 'अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्कें जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो मुणहि मणेण ।। १५ ।।' -परमात्मप्रकाश ।

[६०] 'ति-पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरू बहिरप्पु ।
पर सायहि अन्तर सहिउ बाहिरु चयहि णिमंतु ।। ६ ।।' -योगसार ।

करती है।[६१] पुनः अन्तरात्मा के लक्षण को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि जो परभव का त्याग करके परमात्मा और अपने आत्मस्वरूप को जानती है, उसे पण्डित आत्मा या अन्तरात्मा कहा गया है। यह अन्तरात्मा संसार का परित्याग करती है। दूसरे शब्दों में सांसारिक जीवन के व्यामोह में नहीं उलझती है।[६२] आगे वे कहते हैं कि जो निर्मल, निश्छल, शुद्ध, जिन, विष्णु, बुद्ध, शिव और शान्त है उसे ही जिनेन्द्रदेव ने परमात्मा कहा है; ऐसा निःभ्रान्त रूप से जानना चाहिये। इस प्रकार योगीन्दुदेव सांसारिक अभिरुचि से युक्त आत्मा को बहिरात्मा, संसार से विमुख आत्मा को अन्तरात्मा और शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा कहते हैं। इस प्रकार बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा - ये आत्मा की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। जब तक यह आत्मा पर-पदार्थों में आसक्त रहती है तब तक वह बहिरात्मा है। जब वह इन पर-पदार्थों के प्रति आसक्ति का त्यागकर अपने शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान करती है, तब उसे अन्तरात्मा कहा जाता है और जब वह कर्मों से रहित होकर अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त करती है तो उसे परमात्मा कहा जाता है। यद्यपि योगसार में योगीन्दुदेव त्रिविध आत्मा की विस्तार से चर्चा करते हैं किन्तु निश्चय से वे यह मानते हैं कि ये तीनों भेद औपचारिक ही हैं। उनका कहना है कि जो परमात्मा है वही मैं हूँ; जो मैं हूँ वही परमात्मा है।[६३] इस प्रकार योगीन्दुदेव ने जो तीन प्रकार की आत्मा की चर्चा की है वह केवल पर्यायदृष्टि से ही समझना चाहिये। वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीवस्थान आदि सब व्यवहारनय की अपेक्षा से कहे जाते हैं। निश्चय में तो ऐसा कोई भेद घटित नहीं होता। उनका स्पष्टरूप से कहना है कि जो परमात्मा है वही मैं हूँ। यही जैन

---

६१ (अ) 'मिच्छादसण-मोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ ।
सो बहिरप्पा जिण-भणिउ पुण संसार भमेइ ।। ७ ।।' -वही ।
(ब) देहादिउ जे परि कहिया ते, अप्पाणु मुणेइ ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुणु संसारु भमेइ ।। १० ।।' -वही ।

६२ 'जो परियाणइ अप्पु परु जो परभाव चएइ ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहु सो संजारु मुएइ ।। ८ ।।' -योगसार ।

६३ 'णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु ।
सो परमप्पा जिण-भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ।। ६ ।।' -वही ।

सिद्धान्त का सारतत्त्व है।[६४]

## २.४.६ शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में त्रिविध आत्मा

आचार्य शुभचन्द्र को दिगम्बर परम्परा का एक प्रमुख आचार्य माना जाता है। उनका ग्रन्थ ज्ञानार्णव सुप्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से त्रिविध आत्मा का संकेत तो उपलब्ध होता है;[६५] किन्तु इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने त्रिविध आत्मा की अवधारणा को आधार बनाकर कोई चर्चा नहीं की है। ज्ञानार्णव की विषयवस्तु का अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने त्रिरत्न, पंचमहाव्रत, द्वादशानुप्रेक्षा और चतुर्विध ध्यान को ही आधार बनाकर इसकी रचना की है। फिर भी यदि हम उनके ग्रन्थ का समग्र अवलोकन करते हैं तो उसमें प्रसंगानुसार त्रिविध आत्मा के लक्षण और स्वरूप की कुछ चर्चा उपलब्ध हो जाती है। उदाहरणार्थ उन्होंने २८वें सर्ग में स्पष्ट रूप से अन्तरात्मा के गुणस्थान की अपेक्षा से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट – ऐसे तीन भेद किये हैं।[६६] इसी प्रकार एकादश सर्ग में बहिरात्मा के लिए अल्पसत्त्व, निःशील, दीन, इन्द्रियों द्वारा विजित – ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार शुक्लध्यान की चर्चा में अरिहन्त और सिद्धों के गुणों की चर्चा की है।[६७]

## २.४.७ गुणभद्र के आत्मानुशासनम् और उसकी प्रभाचन्द्रकृत टीका में त्रिविध आत्मा

गुणभद्र के आत्मानुशासनम् में त्रिविध आत्मा की अवधारणा

---

[६४] 'मग्गण-गुण-ठाणइ कहिया विवहारेण वि दट्ठि ।
णिच्छय णइँ अप्पा मुणहि जिम पावहु परमोट्ठ ।। १७ ।।' -वही ।

[६५] 'त्रिप्रकारं स भूतेषु सर्वेष्वात्मा व्यवस्थितः ।
बहिरन्तः परश्चेति विकल्पैर्वक्ष्यमाणकैः ।। ५ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ३२ ।

[६६] 'ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ।
लेश्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धिरुदाहृदा ।। २६ ।।' - सर्ग २८ ।

[६७] 'नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितैः ।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ।। ५ ।।' - ज्ञानार्णव सर्ग ११ ।

उपलब्ध होती है। यह कृति गुणभद्र द्वारा रचित है। इसके टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य हैं। इस कृति में आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से बहिरात्मा[६८] से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्म अवस्था[६९] तक कैसे पहुँचा जा सकता है, आदि प्रश्नों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। आत्मा की बहिर्मुखता ही परमात्म अवस्था तक पहुँचने में बाधक है। वे लिखते हैं कि बहिरात्मा का पुरुषार्थ आत्मा की ओर नहीं होता अपितु उसका लक्ष्य बाह्य संसार की ओर ही होता है। वह आत्मा विषयभोगों में लिप्त होती है। किन्तु अन्तरात्मा को जब सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हो जाती है तब संसार में रहते हुए भी वह निर्लिप्त होकर, संयमी जीवन का परिपालन कर, कर्मों की निर्जरा कर, संवर करती हुई परमात्म अवस्था को प्राप्त होती है।[७०]

## २.४.८ अमितगति के योगसारप्राभृत में त्रिविध आत्मा

जैनपरम्परा के आध्यात्मिक दृष्टिसम्पन्न ग्रन्थों में योगसार नामक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। योगसार के नाम से चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें प्रथम योगीन्दुदेव का योगसार, दूसरा अमितगति का योगसारप्राभृत और तीसरा गुरुदास का योगसारसंग्रह है। चौथा योगसार संस्कृत भाषा में रचित है। किन्तु इसके लेखक अज्ञात हैं। जहाँ तक इन योगसार नामक ग्रन्थों में त्रिविध आत्मा के वर्णन का प्रश्न है योगीन्दुदेव के योगसार में तो स्पष्ट रूप से त्रिविध आत्मा और उनके लक्षणों का वर्णन मिलता है। जहाँ तक अमितगति के योगसारप्राभृत का प्रश्न है उसमें स्पष्ट रूप से कहीं भी त्रिविध

---

६८ 'अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं
सकृदपकृत श्रुत्वा सद्यो जहाति जनोऽप्ययम् ।
स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य भवे-भवे ।
विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुधः ।। १६२ ।।' –आत्मानुशासनम् ।

६९ 'आत्मन्नात्म विलोपनात्मचरितैरासीर्दुरात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरि तैरात्मीकृतैरात्मनः ।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्योत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ।। १६३ ।।' –वही ।

७० देखें आत्मानुशासनम्, पृ. १८४-८६ संस्कृत टीका ।

आत्मा का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है यद्यपि वह योगीन्दुदेव के योगसार से परवर्ती रचना है। अमितगति के योगसार में त्रिविध आत्मा का संकेत रूप से भी कोई उल्लेख नहीं है; किन्तु उसकी विषयवस्तु की समालोचना करने पर उसमें बहिरात्मा,[७१] अन्तरात्मा[७२] और परमात्मा[७३] के लक्षण अवश्य देखे जा सकते हैं।[७४]

## २.४.९ आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में त्रिविध आत्मा

श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में सर्वप्रथम आत्मा की इन तीन अवस्थाओं का निर्देश किया है। वे लिखते हैं कि आसक्त व्यक्ति बाह्यात्मा, योगी या साधक अन्तरात्मा और आत्मस्वभाव में लीन परमात्मा है।[७५]

## २.४.१० बनारसीदास के ग्रन्थ और त्रिविध आत्मा

जहाँ तक बनारसीदास के लेखन का प्रश्न है, हमें उनकी चार कृतियों के बारे में जानकारी उपलब्ध होती है :

१. बनारसी विलास; २. नाममाला;
३. अर्द्धकथानक; और ४. समयसार नाटक ।

उपर्युक्त चार ग्रन्थों में आध्यात्मिक दृष्टि से समयसार नाटक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आध्यात्मिक अमृत से परिपूर्ण इस ग्रन्थ में हमें स्पष्ट रूप से कहीं भी त्रिविध आत्मा की कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। चाहे बनारसीदासजी ने अपनी इस

---

७१ योगसारप्राभृत, गा. ३३-३४ एवं ३९-४१ ।

७२ 'पर-द्रव्य-बहिर्भूतं स्व-स्वभावमवैति यः
पर-द्रव्ये स कुत्रापि न च द्वेष्टि न रज्यति ।। ५ ।।' -योगसारप्राभृत ।

७३ 'अभिन्नमात्मनः शुद्धं ज्ञानदृष्टित्रयं स्फुटम् ।
चारित्रं चर्यते शश्वच्चारु-चारित्रवेदिभिः ।। ४० ।।' -वही ।

७४ 'उदेति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ।
कर्मणः क्षयतः सर्वं क्षयोपशमतः परम् ।। १० ।।' -योगसारप्राभृत ।

७५ 'बाह्यात्मानमपास्य प्रसक्ति भाजाऽन्तरात्मना योगी ।
सततं परमात्मानं विचिन्त्येत्तन्मयत्वाय ।। ६ ।।' -योगशास्त्र, द्वादशप्रकाश, ६ ।

कृति में स्पष्ट रूप से त्रिविध आत्मा की अवधारणा का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया हो, किन्तु इसके बन्धद्वार में बहिरात्मा के, साध्यसिद्धिद्वार में अन्तरात्मा के और सर्वविशुद्धि द्वार में परमात्मा के स्वरूप का उल्लेख उपलब्ध होता है। बनारसीदासजी बन्धद्वार में इस प्रकार बताते हैं कि सम्यग्दृष्टि आत्मा (अन्तरात्मा) अपनी अन्तर्दृष्टि से देखती है और मिथ्यादृष्टि (बहिरात्मा) मिथ्यात्व के भ्रम में पड़कर चारों पुरुषार्थों की साधक और आराधक सामग्री पास में रहते हुए भी उन्हें नहीं देखती है। उसे बाहर खोजती फिरती है। अन्तरात्मा आत्मस्वरूप की शुद्धता को प्रकट कर मोक्ष का प्रबल पुरुषार्थ करती हुई, परमात्मदशा को उपलब्ध करती है। बहिरात्मा से आत्मा अन्तरात्मा की ओर गतिशील होती है और अन्तरात्मा से परमात्मदशा की प्राप्ति करने के लिए तत्पर बनती है।[७६] बनारसीदासजी ने त्रिविध आत्माओं में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का निर्वचन क्रमशः किस रूप में किया है; इसका आस्वादन उनके ही शब्दों में कीजिये :

(१) बहिरात्मा 'जगत् मैं डोलैं जगवासी नर रूप धरैं,
प्रेतकेसे दीप किधौं रेतकेसे थूहे हैं।
दीसैं पट भूषन आडंबरसौ नीके फिरि,
फीके छिनमांझ सांझ-अंबर ज्यौं सूहे हैं।।
मोह के अनल दगे माया की मनीसौं पगे,
डाभ की अनीसौं लगे ओसकेसे फूहे हैं।
धरम की बुझ नांहि उरझे भरमांहि,
नाचि नाचि मरि जांहि मरी केसे चूहे हैं।। ४३।।'
-समयसार नाटक बंधद्वार।

(२) अन्तरात्मा मोह मद पाइ जिनि संसारी विकल कीने,
याहीतैं अजानुबाहु बिरह विहतु है।
ऐसौ बंध-वीर विकराल महा जाल सम,
ग्यान मंद करै चंद राहु ज्यौं गहतु है।।
ताकौ बल भंजिवेकौं घटमैं प्रगट भयौ,
उद्धत उदार जाकौ उद्दिम महतु है।

---

[७६] देखें समयसार नाटक २, ८, १०, ४२, ५२, ५६ ६०, ८५-८६, १०८ एवं १३५।
-बनारसीदास।

सौ है समकित सूर आनंद-अंकूर ताहि,
निरखि बनारसी नमो नमो कहतु है।। २।।'
- समयसार नाटक बंधद्वार।

(३) परमात्मा 'जैसौ निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ,
तैसौ निरभेद अब भेद कौन कहैगौ।
दीसै कर्म रहित सहित सुख समाधान,
पायौ निजस्थान फिर बाहरि न बहैगौ।।
कबहूं कदाचि अपनौ सुभाव त्यागिकरि,
रागरस राचिकैं न पर वस्तु गहैगौ।
अमलान ग्यान विद्यमान परगट भयौ,
याही भांति आगम अनंत काल रहैगौ।। १०८ ।।'
-समयसार नाटक सर्वविशुद्धिद्वार।

इस प्रकार बनारसीदासजी ने प्रकारान्तर से त्रिविध आत्मा का उल्लेख किया है।

## २.४.११ आनन्दघनजी की कृतियों में त्रिविध आत्मा के उल्लेख

आनन्दघनजी ने राग की उपस्थिति के आधार पर आत्मा की इन तीन अवस्थाओं का चित्रण किया है। जो आत्मा मोह और क्षोभ से पूरी तरह अनुरंजित है वह बहिरात्मा है। जो आत्मा मोह और क्षोभ से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील है, वह अन्तरात्मा है और जो आत्मा मोह और क्षोभ से पूरी तरह रहित होकर वीतराग अवस्था को प्राप्त है वह परमात्मा है। बहिरात्मा के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि जो आत्मा स्व-स्वरूप का विस्मरण करके शरीर आदि नोकर्म, ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म, राग-द्वेष, मोह आदि भावकर्म और उनके विपाक रूप सुख-दुःख आदि अनुभूतियों में आत्मबुद्धि या ममत्वबुद्धि रखती है और परिणामस्वरूप अपने आपको पुरुष, स्त्री, नपुंसक अथवा सुखी-दुःखी आदि मानती है, वह बहिरात्मा है। जो सदैव ही मोह और लोभ से युक्त रहती है - उसे ही बहिरात्मा कहा जा सकता है। आगे आनन्दघनजी अन्तरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जो आत्मा शरीर आदि बाह्य पदार्थों के प्रति

आत्मबुद्धि का त्याग करके मात्र साक्षीभाव से उनका अनुभव करती है और उनके निमित्त से अपनी चेतना को विकारी नहीं होने देती, वह अन्तरात्मा है। वह संसार में रहकर भी उसमें आसक्त नहीं होती है। उसकी रुचि बाह्य पदार्थों में न होकर आत्मा के शुद्धस्वरूप की अनुभूति में होती है। ऐसी साधक आत्मा ही अन्तरात्मा कहलाती है। परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि जो राग-द्वेष एवं मोहजन्य शल्य उपाधियों से मुक्त है और सकल कर्मों का क्षय हो जाने के कारण जिसका अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रकट हो गया है ऐसे अनन्तचतुष्टय से युक्त आत्मा परमात्मा कही जाती है। इन त्रिविध आत्माओं के सम्बन्ध में आनन्दघनजी का निर्देश है कि बहिरात्मा का त्याग करके अन्तरात्मा के द्वारा परमात्मपद की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये।[७७]

## २.४.१२ भैया भगवतीदास, धानतराय, यशोविजयजी आदि के ग्रन्थों में त्रिविध आत्मा

### (क) भैया भगवतीदास के ब्रह्मविलास में त्रिविध आत्मा

आनन्दघन के समकालीन चिन्तकों में भैया भगवतीदास ब्रह्म-विलास में लिखते हैं : "हे चेतना! तू एक होते हुए भी तेरे तीन प्रकार हैं अर्थात् बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। ये तीनों पर्यायें तेरे में समाहित हैं। कभी तू बाह्य में (विभावदशा) पर-पदार्थों के आकर्षण के कारण अपने शुद्धात्म-स्वरूप को भूलकर पौद्गलिक पर-भावों में भटकने लगती है तब चेतना विभावदशा में रमण करने के कारण बहिरात्मा कहलाती है। जब आत्मा बाह्यदशा से ऊपर उठ जाती है अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र में पुरुषार्थ करती है एवं व्रत नियम, संयम का पालन करती हुई संसार दशा से विरक्त हो जाती है, तब

---

[७७] 'त्रिविध सकल तनु धरगत आत्मा, बहिरात्म धूरी भेद ।
बीजो अन्तर आत्मा तिसरो परमात्म अविच्छेद सुज्ञानी ।। ५ ।।'
-आनन्दघन ग्रन्थावली, सुमति जिन स्तवन १ ।

अन्तरात्मा कहलाती है। आत्मा जब निजस्वरूप में स्थित हो जाती है; वैभाविक अवस्था का त्याग करके स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त करती है; शुक्लध्यान की अवस्थाओं को पार करके अन्त में मुक्त अवस्था को प्राप्त करती है, तब परमात्मा कहलाती है।"[७८] इसलिए भैया भगवतीदासजी का कहना है कि आत्मा एक होते हुए भी त्रिविध आत्मा की अवस्था को प्राप्त करती है।

## (ख) धानतराय के अनुसार त्रिविध आत्मा

धानतराय के धर्मविलास में त्रिविध आत्मा की विवेचना उपलब्ध होती है। वे लिखते हैं कि व्यवहार से आत्मा के तीन भेद हैं – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा; किन्तु निश्चय से तो एक चैतन्य आत्मा ही है।[७९] आत्मा की दृष्टि से सभी की आत्मा समान रूप से प्रतीत होती है। किन्तु आत्मा की शुभाशुभ, शुद्ध और विशुद्ध अवस्था से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद किये जा सकते हैं। आत्मा तो सभी चेतन प्राणियों में निहित होती है, किन्तु आत्मा की साधनावस्था या श्रेणी की अपेक्षा से पर्याय के तीन भेद किये गए हैं। जब तक आत्मा की बाह्य में रूचि होती है तब तक वह बहिरात्मा है। धीरे-धीरे जब उसके परिणामों में शुद्धि आती है; तब अन्तरात्मा और जब आत्मा संसार और देह से पूर्णतः मुक्त होकर शुद्धावस्था को प्राप्त करके अनन्तसुखानन्द में विराजमान होती है अर्थात् सिद्धावस्था को उपलब्ध कर लेती है तब वह परमात्मा कही जाती है। ये तीनों आत्माओं की पर्यायें एक आत्मा में निहित होती है।

## (ग) उपाध्याय यशोविजयजी के अनुसार त्रिविध आत्मा

इसी प्रकार श्वेताम्बर विद्वान उपाध्याय यशोविजयजी की योगावतार द्वात्रिंशिका में त्रिविध आत्मा की चर्चा उपलब्ध होती है।

---

७८ 'एक जु चेतन द्रव्य है, तिन में तीन प्रकार।
बहिरातम अन्तर तथा परमात्म पद सार ।। २ ।।' –ब्रह्म विलास, परमात्म छत्तीसी।

७९ 'तीन भेद व्यवहार सौ, सरब जीव सब ठाम।
बहिरन्तर परमात्मा, निहचै चेतनराम ।। ४१ ।।'

–धर्मविलास, अध्यात्म पंचासिका।

वे लिखते हैं कि योगसाधना की अपेक्षा से कायाधिष्ठित आत्मा तीन प्रकार की है - बाह्यात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।[८०] बहिरात्मा की आसक्ति इन्द्रियों, देह एवं पर-पुद्गल के प्रति अटूट होती है। जब आत्मा का बाह्य आकर्षण टूट जाता है तब वह आत्मा स्व-स्वरूप की अनुभूति में निमग्न हो जाती है। शुद्धात्मा का अनुभव करती हुई अन्तरात्मा अन्त में परमात्मदशा को प्राप्त करती है।

## २.४.१३ देवचन्द्रजी की कृतियों में त्रिविध आत्मा

जैनदर्शन आत्मवादी दर्शन है। जैनदर्शन के सम्पूर्ण सिद्धान्त आत्मा के धरातल पर स्थित हैं। अन्य भारतीय दर्शनों में भी आत्मा को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। साधक के जीवन का सारतत्त्व आत्मदर्शन ही है। उपाध्याय देवचन्द्रजी ने अपनी रचनाओं में आत्मा की इन त्रिविध अवस्थाओं की चर्चा की है - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।[८१] त्रिविध आत्मा की अवधारणा प्राचीन है। देवचन्द्रजी के पूर्ववर्ती अनेक जैनाचार्यों द्वारा आत्मा की इन त्रिविध अवस्थाओं का गहन चिन्तन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय, पूज्यपाद, योगीन्दुदेव, शुभचन्द्राचार्य आदि के ग्रन्थों में भी त्रिविध आत्मा के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होते हैं। उपाध्याय देवचन्द्रजी के ग्रन्थों में भी त्रिविध अवधारणा का उल्लेख प्राप्त होता है।[८२] देवचन्द्रजी के अनुसार आत्मदर्शन के इच्छुक साधक का अनिवार्य कर्तव्य आत्मानुभूति है। साधक की जब तक अन्तर्दृष्टि जाग्रत नहीं होती तब तक वह बाह्य संसार में भटकता रहता है; अतः वह बहिरात्मा कहलाता है। इसलिए उन्होंने बहिरात्मा का त्याग करके अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मदशा को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। परमात्मा राग-द्वेष से उपरत होकर समभाव में रहते हैं - आत्मदर्शन में लीन रहते हैं। वे परमात्मा निर्विकल्प, निर्लेप होकर

---

८० 'बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति च त्रयः ।
कायाधिष्ठायक ध्येयाः प्रसिद्धा योग वाङ्मये ।। १७ ।।' -योगवतार द्वात्रिंशिका ।

८१ विचार रत्नसार प्रश्न १७८ ।

८२ ध्यानदीपिका चतुष्पदी ४/८/१-२ ।

आत्मध्यान से परम समाधि को प्राप्त कर लेते हैं। वह परमात्मदशा बहिरात्मा और अन्तरात्मा से ऊपर की अवस्था कही जाती है।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में त्रिविध आत्माओं के स्वरूप लक्षण आदि की विस्तृत चर्चा की है। साथ ही यह भी बताया है कि बहिरात्मावस्था से अन्तरात्मावस्था तक कैसे पहुँचा जा सकता है? दोनों में क्या अन्तर है? परमात्मा बनने का उपाय क्या है? आत्मा की वे कौनसी स्थितियाँ हैं जो साधक को परमात्मदशा तक पहुँचने में बाधक या साधक हैं? आत्मा को परमात्मा बनने में सबसे बड़ा अवरोधक तत्त्व उसकी विषयोन्मुखता या बहिर्मुखता है। विषय विकार तथा राग-द्वेषजन्य विभावदशा में निमग्न आत्मा बहिर्मुखी होती है। उसकी विषयासक्ति उसे परमात्मा तो क्या अन्तरात्मा भी नहीं बनने देती। बहिर्मुखी आत्मा परमात्मदशा से विमुख रहती है। अतः जैनदर्शन का सन्देश है कि साधक बहिर्मुखता का त्यागकर अन्तरात्मा अर्थात् आत्माभिमुख बने। आत्माभिमुख साधक ही अन्त में परमात्मा बन सकता है।[८३] इस प्रकार इन तीन विशिष्ट लक्षणों के आधार पर जैनाचार्यों के

---

[८३] (क) मोक्षपाहुड, गा. ४।
(ख) 'मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ। - मोक्षपाहुड।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवइ ॥ १३ ॥' - मोक्षपाहुड।
(ग) 'त्रिप्रकारं स भूतेषु सर्वेष्वात्मा व्यवस्थितः।
बहिरन्तः परश्चेति विकल्पैर्वक्ष्यमाणकैः ॥ ५ ॥' -ज्ञानार्णव।
(घ) 'बाह्यात्मनमपास्य प्रसक्ति भाजनाऽन्तरात्मन योगी।
सततं परमात्मानं विचिन्तयेत्तन्मयत्वाय ॥ ६ ॥' -योगशास्त्र, द्वादश प्रकाश।
(च) 'बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्य जेत् ॥ ४ ॥' -समाधितंत्र।
(छ) 'ति-पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर सायहि अन्तर सहिउ बाहिरु चयहि णिमंतु ॥ ६ ॥' -योगसार।
(ज) 'जीवा हवन्ति तिविहा बहिरप्पा तह य अन्तरप्पा य।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह या सिद्धा य ॥ १६२ ॥' -स्वामीकार्तिकेय।
(झ) आध्यात्म रहस्य श्लोक ४-५।
(ट) योगावतार द्वात्रिंशिका १७।
(ठ) ब्रह्मविलास, परमात्म छत्तीसी २।
(ड) धर्मविलास, अध्यात्म पंचासिका ४१।
(ढ) आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४०।

द्वारा त्रिविध आत्मा का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

## २.४.१४ श्रीमद्राजचन्द्र एवं त्रिविध आत्मा

श्रीमद्राजचन्द्र इस युग के महान् आध्यात्मिक साधक हैं। उन्होंने आत्मसिद्धि आदि स्व-रचित ग्रन्थों में त्रिविध आत्मा का स्पष्ट रूप से तो कहीं उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनके साहित्य में प्रसंगानुसार बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का विवेचन प्रकीर्ण रूप से मिल जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग ईसा की पाँचवीं-छटी शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक जैनाचार्य त्रिविध आत्मा की चर्चा करते रहे हैं। अग्रिम पृष्ठों में हम यह देखने का प्रयत्न करेगें कि विभिन्न जैनाचार्यों ने क्रमशः बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का निर्वचन किस रूप में किया है।

।। अध्याय २ समाप्त।।

# बहिरात्मा

अध्याय ३

# बहिरात्मा

## ३.१ बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

त्रिविध आत्मा की चर्चा करते हुए प्रायः सभी जैनाचार्यों ने बहिरात्मा का उल्लेख किया है। प्रस्तुत अध्याय में हम सर्वप्रथम बहिरात्मा के स्वरूप की चर्चा करेंगे। निश्चयनय से तो आत्मा आत्मा ही है और इस आधार पर आत्मा के भेद करना भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः त्रिविध आत्मा की जो चर्चा है वह व्यवहारनय की अपेक्षा से ही है। व्यक्ति का जीवन और जीवनशैली जिस प्रकार की होती है उसी के आधार पर उसे बहिरात्मा, अन्तरात्मा या परमात्मा कहा जाता है। वस्तुतः बहिरात्मा शब्द इस तथ्य का सूचक है कि जिस व्यक्ति की जीवनदृष्टि बहिर्मुखी है उसे ही बहिरात्मा कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता है। जो भेद होता है वह उसके जीवन और जीवन शैली के आधार पर होता है। जैनाचार्यों के अनुसार जो सांसारिक विषयभोगों में रत रहते हैं उन्हें ही अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य समझते हैं और पर-पदार्थों में अपनेपन का आरोपण कर उनके भोग में जो आसक्त बने रहते हैं, उन्हें ही बहिरात्मा कहा जाता है। इस प्रकार बहिरात्मा का स्वरूप उसकी जीवनदृष्टि पर आधारित है। जो अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को भूलकर शरीर, इन्द्रिय, मन और बाह्य पदार्थों को ही अपना मानती है वही बहिरात्मा है। दूसरे शब्दों में अनात्मरूप बाह्य विषयों में अपनेपन का आरोपण करने वाला व्यक्ति ही बहिरात्मा है। स्वरूप की अपेक्षा से हम बहिरात्मा उसे कह सकते हैं जो अनात्म में आत्मबुद्धि रखती है - दूसरे शब्दों में पर-पदार्थों को अपना मानती है। जैनाचार्यों ने बहिरात्मा को, मूढ़ आदि नामों से भी अभिव्यक्त किया है। यदि संक्षेप में कहना हो तो मूढ़ आत्मा ही बहिरात्मा है क्योंकि

उसकी जीवनदृष्टि सम्यक् नहीं होती। वह अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर पर-पदार्थों में ममत्व बुद्धि का आरोपण करती है। जो अपना नहीं है उसे ही अपना मानती है। संसार के बाह्य पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं क्योंकि वे उसके ज्ञान के विषय हैं और जो-जो भी आत्मा के ज्ञान के विषय हैं, वे सब 'पर' हैं। आत्मा तो ज्ञान स्वरूप है। अतः ज्ञान के समस्त बाह्य विषय 'पर' हैं। उनमें अपनेपन का आरोपण करना, यह स्वरूप की विस्मृति है और स्व-स्वरूप की विस्मृति ही बहिरात्मा की परिचायक है। जो अपने स्व-स्वरूप को भूलकर पर-पदार्थों में ममत्वबुद्धि का आरोपण करता है, उसे ही बहिरात्मा कहा जाता है। स्वरूप की विस्मृति बहिरात्मा है और स्वरूप की स्मृति अन्तरात्मा है। बहिरात्मा का जीवन वस्तुतः भौतिकवादी होता है। भौतिकवादी या भोगवादी जीवन को अपनाकर अनात्म में आत्मबुद्धि रखते हुए जो जीता है, वही बहिरात्मा है। भारतीय दर्शनों में चार्वाकदर्शन को हम बहिरात्मवादी दर्शन कह सकते हैं।

जो आत्मा शरीर को ही सर्वस्व मानती है और दैहिक वासनाओं की पूर्ति को ही एकमात्र जीवन का लक्ष्य मानती है, वही बहिरात्मा है। वह जड़ पदार्थों के भोग को ही विशिष्ट महत्त्व देती है। वही उसकी जीवनदृष्टि होती है :

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।"[१]

अर्थात् जीवनपर्यन्त खाओ, पीयो और मौज उड़ाओ या सुख से जीओ और ऋण लेकर भी घी पी जाओ; पर-भव की तनिक भी चिन्ता मत करो; मौज-मस्ती से जीवन यापन करो। त्याग और तपश्चर्या करने से क्या फायदा, पुनर्जन्म कहाँ होगा, यह किसने देखा?

बहिरात्मा भौतिकता की चकाचौंध में आत्मा और देह को एक ही मानती है। वह देह को अपना मानती है और अपने को देहरूप मानती है। देह को अपना मानकर दैहिक वासनाओं की पूर्ति में संलग्न बनी रहती है। वह देह और दैहिक वासनाओं की पूर्ति के

---

१ चार्वाकदर्शन ।

साधनों में एकत्व बुद्धि को स्थापित कर लेती है। यह देह मेरी है या मैं देह-रूप ही हूँ और देह सम्बन्धी समस्त पर-पदार्थ मेरे हैं। पिता, पत्नी, पति, पुत्र, पुत्री आदि दैहिक सम्बन्धों में ममत्व बुद्धि का आरोपण कर उन्हें अपना मानकर उनमें आसक्ति रखती है। वह स्वयं को सांसारिक क्रियाओं का कर्त्ता-भोक्ता मानकर मिथ्या अहंकार करती है। बहिरात्मा वर्तमान पौद्गलिक सुखों को प्राप्त करने हेतु अथक प्रयास करती रहती है। वह दिन-रात परिश्रम करती है, पसीना बहाती है; आकाश पाताल एक करके जो भी पुरुषार्थ करती है, मात्र बाह्य के लिए करती है। आत्म विशुद्धि हेतु अर्थात् अपनी आत्मा के कल्याण हेतु उसका कोई प्रयत्न या पुरुषार्थ नहीं होता है। इस प्रकार बाह्य जागतिक प्रवृत्तियों में सदैव उलझा रहना ही बहिरात्मा का लक्षण है। बहिरात्मा के स्वरूप-लक्षण और प्रकारों की चर्चा के पश्चात् हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि विभिन्न जैनाचार्यों ने इस सम्बन्ध में अपने मन्तव्य किस रूप में प्रस्तुत किए हैं।

## ३.२.१ आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में बहिरात्मा का स्वरूप, नियमसार में बहिरात्मा

आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार के आवश्यकाधिकार में बहिरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि बहिरात्मा देह, इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धि रखती है, बाह्यतत्त्व में निमग्न रहती है, स्वभावदशा का त्याग करके विभावदशा में भटकती है। बहिरात्मा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से रहित होती है। वह संसाररुपी विकल्पजाल में उलझकर अपना जीवनयापन करती है। इस मूढ़ आत्मा के विचार अन्तरात्मा और परमात्मा के विचारों से भिन्न होते हैं। बहिरात्मा परमतत्त्व में श्रद्धा नहीं करती है। बहिरात्मा जड़ पदार्थों में मूर्च्छा रखती है, वह आत्म सजगता में नहीं, अपितु प्रमाद में जीती है। कुन्दकुन्द की दृष्टि में जो आत्मा स्वात्माचरण से रहित हो, वह बहिरात्मा है। उसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं

सम्यक्चारित्र – इन रत्नत्रय की साधना में श्रद्धा नहीं होती।[२]

## *मोक्षप्राभृत में बहिरात्मा*

मोक्षप्राभृत में भी बहिरात्मा के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव लिखते हैं कि जिसका मन बाह्य पदार्थों में प्रस्फुटित हो रहा है अर्थात् जो बाह्य पदार्थों की आकांक्षा और इच्छा रखता है और इन्द्रियरूपी बाह्यदशा में आसक्त होकर जो निजस्वरूप से च्युत हो बाह्य ऐन्द्रिक विषयों में आसक्ति रखता है और उन बाह्य पदार्थों तथा शरीर आदि को अपना समझता है, उसे बहिरात्मा कहा जाता है।[३] वह देहादि पर-वस्तुओं में अपनेपन का आरोपण कर अज्ञान के वशीभूत हो स्त्री, पुत्र, परिजन, धन, सम्पत्ति आदि को अपना मानता है और इस प्रकार परद्रव्यों में उसकी आसक्ति या मोह बढ़ता ही जाता है। ऐसा व्यक्ति बहिर्मुख कहा जाता है। वह अपनी मिथ्यादृष्टि के कारण पर को स्व समझने में – मिथ्याज्ञान में निरत रहता है और उसी के परिणामस्वरूप शरीरादि को अपना मानता रहता है। ऐसा मिथ्यामति बहिरात्मा उस मिथ्यात्व के परिणामस्वरूप अष्ट दुष्टकर्मों का बन्ध करती हुई संसार में परिभ्रमण करती रहती है।[४]

आगे आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं : "जब तक मनुष्य को आत्मानुभूति नहीं होती तब तक वह बाह्य विषयों में प्रवृत्त होता रहता है। मात्र यही नहीं कुछ लोग आत्मानुभूति के पश्चात् भी सद्भाव से भ्रष्ट होकर विषयों में मोहित होते हुए चतुर्गतिरूप

---

२ (क) 'आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अन्तरंगप्पा ।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ।। १४६ ।।' -नियमसार ।
(ख) 'बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा ।
बहिरात्मनयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः ।।'
-नियमसार गाथा १४६ की पद्मप्रभ की संस्कृत टीका ।
(स) 'अन्तरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अन्तरंगप्पा ।। १५० ।।' -नियमसार ।

३ 'अक्खाणि बाहिरप्पा अन्तरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ।। ५ ।।' -मोक्खपाहुड ।

४ 'बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरुवचुओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ।। ८ ।।' -मोक्खपाहुड ।

संसार में भटकते रहते हैं।"[५] कुन्दकुन्ददेव के अनुसार यहाँ आत्मा को जानने का अर्थ केवल उसे वस्तुगत रूप से जानना ही है; क्योंकि सत्य की समझ होकर भी यदि सत्य आचरण नहीं होता तो वह ज्ञान भी अज्ञानरूप परिणमन ही करता है। जब तक परद्रव्यों अर्थात् बाह्य पदार्थों में आंशिक रुचि भी बनी हुई है तब तक वह आत्मरमण या स्वस्वभाव से वंचित ही है। ऐसा व्यक्ति भी मूढ़ या अज्ञानी ही कहा जाता है।[६] आचार्य कुन्दकुन्ददेव के अनुसार जो ज्ञान जीवन या आचरण में प्रतिफलित नहीं होता, वह ज्ञान भी अज्ञान ही है। वे कहते हैं कि जो लोग व्रत, नियम आदि से विमुख हैं वे शुद्ध स्वभाव से भी च्युत हैं। उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। वे सांसारिक सुख भोगों में निरत होकर यह कहते हैं कि अभी ध्यान का काल नहीं है अर्थात् इस युग में शुद्धाचरण सम्भव नहीं है।[७] बहिरात्मा की विचित्र स्थिति को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि "पाप से मोहित मतिवाले कुछ लोग जिनेन्द्र के लिंग को धारण करके भी पापकर्मों में निरत रहते हैं। वे मोक्षमार्ग से पतित ही हैं।[८] वे आगे कहते हैं कि जिसका चित्त आत्मस्वभाव से विपरीत या बहिर्मुखी है, विविध प्रकार के उपवास आदि तपों से भी उसको क्या लाभ होगा? वस्तुतः जो आत्मस्वभाव से विमुख है अर्थात् जिसका चित्त बाह्य वस्तुओं के प्रति सम्मोहित है यही उस आत्मा की बहिर्मुखता है।[९] यदि ऐसा मुनि अनेक

---

५ 'सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं ।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ।। १० ।।' -वही ।

६ 'मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छा भावेण भाविओ सन्तो ।
मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ ।। ११ ।।' -वही ।

७ 'जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारम्भो ।
आदसहावे सुरओ जो इसो लहइ णिव्वाणं ।। १२ ।।' -वही ।

८ (क) 'परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं ।
एसो जिणउवदेसो समासदो बन्धमुक्खस्स ।। १३ ।।' -वही ।
(ख) 'सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ।। १४ ।।' -वही ।
(ग) 'जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू ।
मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्झदि दट्ठट्ठकम्मेहिं ।। १५ ।।' -वही ।

९ 'परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई होइ ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ।। १६ ।।' -वही ।

शास्त्रों को पढ़ता है तथा नाना प्रकार के चारित्रों का पालन करता है, तो भी उसकी वह सर्व प्रवृत्ति आत्मस्वरूप से विपरीत होने के कारण उसका वह अध्ययन और चारित्रपालन बालश्रुत और बालचारित्र ही होता है। जब तक यह आत्मा बाह्य ऐन्द्रिक विषयों से जुड़ी हुई है, बहिरात्मा ही है। वह मोक्ष मार्ग से विमुख है।[१०]

## ३.२.२ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बहिरात्मा के लक्षण

स्वामी कार्तिकेय बहिरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जो आत्मा तीव्र कषायों (अनन्तानुबन्धी कषायों) से पूर्णतः आविष्ट है और इस प्रकार शरीर और आत्मा को एक मानती है, वह बहिरात्मा है। यहाँ हम देखते हैं कि स्वामी कार्तिकेय ने बहिरात्मा के तीन लक्षण बताये हैं – प्रथम तीव्र कषायों (अर्थात् अनन्तानुबन्धी) से ग्रसित होना; दूसरा मिथ्यादृष्टि होना और तीसरा आत्मा और शरीर में एकत्त्व भावना। यद्यपि ये तीनों ही लक्षण पृथक्-पृथक् कहे जाते हैं, किन्तु इनका मूल तो एक ही है; क्योंकि जहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय होती है वहाँ नियम से मिथ्यात्व होता है।[११] जहाँ मिथ्यात्व होता है वहाँ देह और आत्मा में तादात्म्य मानने की प्रवृत्ति होती है।[१२] स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं कि अनेक बार यह आत्मा रत्नत्रय को प्राप्त कर लेती है, फिर भी तीव्र कषायों से आविष्ट होकर उस रत्नत्रय का नाश करके दुर्गति को

---

१० (क) 'जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं ।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेणं सुरलोयं ।। २० ।।' -वही ।
(ब) 'जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं ।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ।। २१ ।।' -वही ।
(ग) 'जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं ।
सो किं जिप्पइ इक्किं णरेण संगामए सुहड़ो ।। २२ ।। -वही ।
(घ) 'सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तहिं वि झाणजोएण ।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ।। २३ ।।' -वही ।

११ 'मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा ।। १६३ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा (लोकानुप्रेक्षा) ।

१२ 'अण्णं देहं गिहण्दी, जण्णि अण्णा य होदि कम्मादो ।
अण्णं होदि कलत्तं, अण्णो वि य जायदे पुत्तो ।।८०।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा (अन्यत्वानुप्रेक्षा) ।

प्राप्त करती है।[१३] इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी कार्तिकेय की कार्तिकेयानुप्रेक्षा में अनन्तानुबन्धी कषायों से आविष्ट होना ही बहिरात्मा का प्रमुख लक्षण है। क्योंकि जहाँ अनन्तानुबन्धी कषायों का उदय होता है, वहाँ नियम से ही आत्मा सम्यग्दर्शन से च्युत होकर मिथ्यात्व को ग्रहण करती है।[१४] बोधिदुर्लभ भावना में बताया गया है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है[१५] क्योंकि निगोद से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों में सम्यक्त्व को प्राप्त करने की शक्ति ही नहीं होती और जब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती तब तक वह बहिरात्मा ही होता है।[१६] संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवन को प्राप्त करने के बाद भी यदि व्यक्ति अनन्तानुबन्धी कषायों से आविष्ट है, तो वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से वंचित ही रहता है।[१७] मात्र यही नहीं, उन्होंने यह भी कहा है कि यदि वह सम्यक्त्व और शील को प्राप्त भी कर ले, तो भी वह अनन्तानुबन्धी तीव्र कषायों के आविष्ट होने पर सम्यक्त्व और शील से पतित हो जाता है। जो भी तीव्र कषायों से आविष्ट है, वह बहिरात्मा ही है।[१८] पुनः बहिरात्मा की प्रवृत्तियों को स्पष्ट

---

१३ 'सम्मत्ते वि य लद्धे, चारित्तं णेव गिण्हदे जीवो ।
अह कह वि तं पि गिण्हदि, तो पालेदुं ण सक्केदि ।। २९५ ।।' -वही ।

१४ (क) 'रयणु व्व जलहि-पडियं मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं ।
एवं सुणिच्छइता, मिच्छकसाये य वज्जेह ।।२९७।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा (अन्यत्वानुप्रेक्षा) ।

१५ (क) 'अहवा देवो होदि हु, तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्तं ।
तो तवचरण ण लहदि, देसजमं सीलं लेसं पि ।। २९८ ।।' -वही ।
(ख) 'मणुवगईए वि तओ, मणुवुगईए महव्वदं सयलं ।
मणुवगईए झाणं, मणुवगईए वि णिव्वाणं ।।२९९।।' -कातिर्केयानुप्रेक्षा (धर्मानुप्रेक्षा) ।

१६ 'इय सव्वदुलहदुलहं, दंसण णाणं तहा चरित्तं च ।
मुणिऊण य संसारे, महायरं कुणह तिण्हं पि ।। ३०१ ।।'
-कार्तिकेयानुप्रेक्षा (बोधिदुर्लभ भावना, सहछप्पय) ।

१७ (क) 'अह णीरोओ होदि हु, तह वि णं पावेइ जीवियं सुइरं ।
अह चिरकालं जीवदि, तो सीलं णेव पावेइ ।। २९३ ।।'
-कार्तिकेयानुप्रेक्षा (बोधिदुर्लभ भावना, सहछप्पय) ।
(ख) 'अह होदि सीलजुत्तो, तह वि ण पावेइ साहुसंसग्गं ।
अह तं पि कह वि पावदि, सम्मत्तं तह वि अइदुलहं ।। २९४ ।।' -वही ।

१८ 'जीवो वि हवइ पावं, तिव्वकसायपरिणदो णिच्चं ।
जीवो वि हवेइ पुण्णं, उवसमभावेण संजुत्तो ।। १९० ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा (लोकानुप्रेक्षा) ।

करते हुए वे लिखते हैं कि बहिरात्मा दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी विषयों में रमण करती है और मनुष्य जन्म को वैसे ही व्यर्थ कर देती है[१९] जैसे कोई दिव्य रत्न को प्राप्त करके भी भस्म आदि के लिए उसे दग्ध कर देता है। दूसरे शब्दों में जब तक व्यक्ति तीव्र कषायों से आविष्ट है, एकेन्द्रिय विषयों से आविष्ट है, तब तक वह बहिरात्मा है।[२०]

## ३.२.३ आचार्य देवनन्दी के अनुसार बहिरात्मा का स्वरूप

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी बहिरात्मा की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि बहिरात्मा अर्थात् मूढ़ आत्मा आत्मज्ञान से पराङ्मुख होती हुई पांचों इन्द्रियों के विषय में स्फुरायमान होती है। बहिर् + आत्मा = बहिरात्मा। निमित्त, संयोग और राग - ये सब बाह्य हैं।[२१] मूढ़ आत्मा मनुष्य, तिर्यंच, देव, नरकादि देह में स्थित आत्मा को उसी रूप में मानती है; किन्तु तत्त्व की अपेक्षा से आत्मा वैसी नहीं है। आत्मा अनन्तानन्त ज्ञान-शक्तिरूप है, स्वानुभवगम्य या स्वस्वरूप में निश्चल है - ऐसा बहिरात्मा नहीं मानती।[२२] वे आगे लिखते हैं कि बहिरात्मा के तीन भ्रम निम्न हैं :

१. जिस शरीर में यह आत्मा रहती है, वह उस शरीर को ही आत्मा मानती है।
२. जिन परदेहों में अन्य आत्माएँ रहती हैं, उन्हें वह अन्य जीव समझती है।
३. वह देह की उत्पत्ति में निमित्तादि को मानती है।

इस प्रकार बहिरात्मा भ्रम में जीवन यापन करती है। इसी भ्रम

---

१९ 'रयणं चउप्पहे पिव, मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय ।
मच्छो हवेइ जीवो, तत्थ वि पावं समज्जेदि ।।२६०।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा (बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा) ।

२० 'इय दुलहं, मणुयत्तं, लहिऊणं जे रमन्ति विसएसु ।
ते लहियं दिव्वरयणं, भूइणिमित्तं पजालंति ।।३००।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा (बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा) ।

२१ 'बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ।। ७ ।।' -समाधितंत्र ।

२२ समाधितंत्र श्लोक ८ एवं ९ ।

में अविद्या नामक संस्कार दृढ़ होता है।[२३] बहिरात्मा का लक्ष्य बाहर की ओर होता है। आत्मस्वरूप की ओर उसका लक्ष्य नहीं होता।

## ३.२.४ योगीन्दुदेव की रचनाओं में बहिरात्मा का स्वरूप

### *परमात्मप्रकाश में बहिरात्मा*

बाह्य आत्मा का निर्वचन करते हुए योगीन्दुदेव कहते हैं कि "जो जीव पर्यायों में आसक्त बना हुआ है वह जीव अज्ञानी और मूढ़ होता है।"[२४] वह अपने इसी अज्ञान के वश में होने के कारण होनेवाले राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभाव-पर्यायों को अपनी मान लेता है और उसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के कर्मों का बन्ध करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है।[२५] ऐसा अज्ञानीजीव मिथ्यात्व में परिणमन करता हुआ,[२६] कर्मजनित शरीरादि जो परभाव हैं, उनको अपना मानता है।[२७] भेदविज्ञान अर्थात् आत्म-अनात्म के सम्यक् विवेक के अभाव में वह कर्मजनित गोरे, काले, स्थूल, कृश शरीरादि तथा राग-द्वेष से जनित क्रोध, मान आदि कषायों को अपना मानता है। वह कहता है कि मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ,[२८] मैं

---

२३ वही श्लोक ११-१३, १५ एवं १६ ।

२४ 'जो परमत्थें णिक्कलु वि कम्म विभिण्णउ जो जि ।
मूढा सयलु भणंति फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ।। ३७ ।।' -परमात्मप्रकाश १ ।

२५ 'पज्जय रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधउ बहु विह कम्मडा जे संसारू भमेइ ।। ७७ ।।' -वही ।

२६ 'कम्मईं दिढ-घण-चिक्कणइँ गरुवइँ वज्ज-समाईं ।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताईं ।। ७८ ।।' -वही ।

२७ 'जिउ मिच्छत्तें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेई ।
कम्म विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ।। ७९ ।।' -वही ।

२८ 'हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ।। ८० ।।' -वही ।

ब्राह्मण हूँ, मैं वणिक हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं शूद्र हूँ,[२९] अथवा मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं रूपवान हूँ, मैं शूरवीर हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं दिगम्बर हूँ, मैं श्वेताम्बर हूँ आदि।[३०] इस प्रकार वह कर्मजन्य शरीरादि पर्यायों को ही अपना मानता है।[३१] वह भेदविज्ञान के अभाव में माता-पिता, पत्नी-पुत्र, मित्र और कुटुम्बीजनों को अथवा चाँदी-सोनादि परद्रव्यों अथवा नौकर-चाकर, गाय-बैल, हाथी-घोड़े, रथ-पालकी आदि को अपना मानता है।[३२] यह पर-वस्तुओं में आत्म-बुद्धि ही उसके दुःख का कारण है। ऐसा व्यक्ति बहिरात्मा कहा जाता है, क्योंकि वह इन सब 'पर' वस्तुओं के निमित्त हिंसा, झूठ आदि पापकर्मों का सेवन करता है।[३३]

योगीन्दुदेव लिखते हैं कि ब्रह्मा आदि देव जगत् के कर्ता नहीं हैं। यह जीवात्मा ही ज्ञानावरण आदि कर्मरूप कारणों को प्राप्त कर अनेक प्रकार के जगत् की सृष्टि करता है। जीवात्मा ही वस्तुतः अपने संसार का कर्त्ता कहा जाता है। क्योंकि वह कर्मों के कारण विविध शरीर, रूप, स्त्री, पुरुष आदि विभिन्न अवस्थाओं को धारण करता है। वस्तुतः परमात्मा को जो सृष्टि का कर्ता कहा जाता है, वह इस अपेक्षा से कि जीवात्मा ही अपने शुद्ध स्वरूप में परमात्मा है। किन्तु वही कर्मों से आबद्ध होकर बहिर्मुखी होने के कारण अपने संसार का कर्ता बन जाता है।[३४] शुद्धरूप से जो परमात्मा है वही कर्मजन्य अशुभ अवस्था के कारण अपने संसार का कर्ता

---

२९ 'हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्ति हउँ सेसु ।
पुरिसु णउँसर इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ।। ८१ ।।' –परमात्मप्रकाश १ ।

३० 'तरुणउ बूढउ रुयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ।। ८२ ।।" –वही।

३१ 'अप्पा वंदउ खवणु ण वि अप्पा गुरउ ण होइ ।
अप्पा लिंगिउ एक्कु ण वि णाणिउ जाणइ जोइ ।। ८८ ।।' –वही ।

३२ 'जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु ।
माया-जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु ।। ८३ ।।" –वही ।

३३ 'दुक्खहँ कारणि जे विसय ते सुह हेउ रमेइ ।
मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ इत्थु ण काई करेइ ।। ८४ ।।' –वही ।

३४ 'जो जिउ हेउ लहेवि विहि जगु बहु-विहउ जणेइ ।
लिंगत्तय परिमंडियउ सो परमप्पपु हवेइ ।। ४० ।।' –वही ।

होता है।[३५] योगीन्दुदेव ने विविध देवों और विविध लिंगों को धारण करना बहिरात्मा का लक्षण माना है। बहिरात्मा ही जन्म-मरणरूप संसार का कर्ता होती है। यहाँ हम देखते हैं कि जिस प्रकार अन्य दर्शनों में माया से युक्त ब्रह्म या ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता कहा गया है; योगीन्दुदेव ने भी कर्मों के निमित्त से परमात्मस्वरूप आत्मा को सृष्टि का कर्ता बताया है। किन्तु उनकी दृष्टि में यह कर्तृत्व गुण परमात्मा का नहीं अपितु बहिरात्मा का लक्षण है।

योगीन्दुदेव बहिरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सर्वप्रथम यह बताते हैं कि जो रागादिभाव हैं, वे कषायरूप हैं[३६] और जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहता है, तब तक व्यक्ति मिथ्यादृष्टि होता है। मिथ्यादृष्टि ही बहिरात्मा है। उसको स्वसंवेदन एवं सम्यग्ज्ञान नहीं होता।[३७] योगीन्दुदेव आत्मा के तीन भेदों में से बहिरात्मा का लक्षण बताते हुए लिखते हैं कि रागादिरूप से परिणत होनेवाली बहिरात्मा है;[३८] क्योंकि बहिरात्मा का वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूप परिणमन नहीं होता। योगीन्दुदेव ने बहिरात्मा को मूढ़, बहिर्मुख एवं मिथ्यादृष्टि कहा है।[३९] ज्ञातव्य है कि परमात्मप्रकाश में बहिरात्मा के लिए मूढ़ का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो देह को ही आत्मा मान लेता है वह मूढ़ या बहिरात्मा है।[४०]

परमात्मप्रकाश में योगीन्दुदेव बहिरात्मा को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि बहिरात्मा निर्दयी होकर अन्य जीवों के प्राण हरती

---

३५ 'जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग अब्भंतरि जो जि।
जगि जि वसन्तु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि ।। ४१ ।।" -वही।

३६ 'जांवइ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ।
होइ कसायहं वसि गयउ जीउ असंजदु सोइ ।। ४१ ।।' -परमात्मप्रकाश २।

३७ 'जेण कसाय हवंति मणि से जिय मिल्लहि मोहु।
मोह कसाय विवज्जयउ पर पावहि सम बोहु ।। ४२ ।।' -वही।

३८ 'तत्तातत्तु मुणेवि मणि जे थक्का समभावि।
ते पर सुहिया इत्थु जगि जहँ रह अप्प-सहावि ।। ४३ ।।' -वही।

३९ 'देहहं उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ।
देहहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ।। ५१ ।।' -परमात्मप्रकाश २।

४० 'देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ।। १४ ।।' -परमात्मप्रकाश १।

है और शस्त्रादिक से उनका घात करती है। उन्हें काटती है अथवा हाथ-पैर-लाठी से प्रहार करती है। यह हिंसा पाप का मूल है। अतः इसे बहिरात्मा का लक्षण कहा गया है।[४१] यह जीव मिथ्यात्व के कारण रागादि भावों में परिणत होकर पहले तो अपने ही शुद्ध स्वभाव का घात करता है - दूसरे जीवों का घात तो हो या न हो, यह तो उनके आयुष्य पर आधारित है, परन्तु जैसे ही उस बहिरात्मा ने भाव से दूसरे जीवों के घात का विचार किया वैसे ही वह आत्मघाती तो हो चुकी है।[४२] अन्यत्र योगीन्दुदेव ऐसा भी कहते हैं कि जो आत्मा कषाययुक्त है, निर्दयी है, वह पहले तो स्वयं ही अपने शुद्ध स्वभाव का घात करती है - इसलिए आत्मघाती है। आगे योगीन्दुदेव उस बहिरात्मा की क्या गति होती है और उसका संसार परिभ्रमण कैसे बढ़ता है इसका विवेचन करते हुए कहते हैं कि निश्चय से तो मिथ्यात्व एवं विषय-कषाय रूप परिणमन करने से ही वह आत्मघाती होती है और व्यवहार से अन्य जीवों के इन्द्रियबल, आयु, श्वासोछ्वास आदि रूप प्राणों का विनाश करने के कारण वह अन्य जीवों की भी हिंसक होती है। ऐसी आत्मा की नरक गति होती है।[४३] बहिरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शुद्धात्मा के अतिरिक्त पाँचों इन्द्रियों के विषयरूप बाह्य पदार्थ नाशवान हैं।[४४] फिर भी बहिरात्मा भ्रम से शुद्ध स्वभाव रूप आत्मद्रव्य को छोड़कर उस असार भूसे को कूटने का प्रयास करती है या बाह्य पदार्थों के प्रति रागादि भाव में लीन रहती है अर्थात् विभाव-परिणमन करती रहती है।[४५]

परमात्मप्रकाश में योगीन्दुदेव बहिरात्मा के स्वरूप को

---

४१ 'मारिवि जीवहँ लक्खड़ा जं जिय पाउ करीसि ।
पुत्त कलत्तहँ कारणइँ तं तुहुँ एक्कु सहीसि ।। १२५ ।।" -परमात्मप्रकाश २ ।

४२ 'मारिवि चूरिवि जीवडा जं तुहुं दुक्खु करीसि ।
तं तह पासि अणंत-गुणु अवसइँ जीव लहीसि ।। १२६ ।।' -वही ।

४३ 'जीव वहंतहँ णरय गइ अभय पदाणैं सग्गु ।
बे पह जवला दरिसिया जहिं रूच्चइ तहिं लग्गु ।। १२७ ।।' -वही ।

४४ 'देहहँ उपरि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
देहहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ।। ५१ ।।' -वही ।

४५ 'मूढा सयलु वि कारिमउ भुल्लउ मं तुस कंडि ।
सिव पहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि ।। १२८ ।।' -वही ।

व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि भेदविज्ञान से रहित यह (मूढ़) बहिरात्मा शुद्धात्मा की भावना से पराङ्मुख है और शुभाशुभ कर्मों का बन्ध करती है तथा अनन्तज्ञानादि स्वरूप मोक्ष का कारण जो वीतराग परमानन्दस्वरूप निज शुद्धात्मा है, उसका भी वह एक क्षण के लिए विचार नहीं करती एवं आर्त-रौद्र ध्यान में मग्न रहती है।[४६] अतः उसे बहिरात्मा का लक्षण कहा जाता है। आगे वे कहते हैं कि यह जीव चौरासी लाख योनियों में अनेक ताप सहता हुआ बाह्य संसार में भटक रहा है। निज परमात्मतत्त्व के ध्यान से परे रहकर अतीन्द्रिय सुख से विमुख देह व मन के सुख और दुःखों को सहता हुआ भ्रमण करता है एवं माता, पिता, भ्राता, मित्र, पुत्र कलत्रादि में मोहित है। इस कारण से योगीन्दुदेव ने उसे अज्ञानी कहा है। यह बहिरात्मा वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन रहित है एवं इसे आत्मतत्त्व की चर्चा में रूचि नहीं होती।[४७]

योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश की गाथा १२३-२४ में बहिरात्म-भाव का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि यह जीव घर परिवार और शरीरादि के ममत्व में मग्न रहता है। बहिरात्मा शुद्धात्मद्रव्य से विपरीत है।[४८] योगीन्दुदेव ने यहाँ पर बहिरात्मा का चित्रण किया है। बहिर्मुखी आत्मा घर-परिवारादि की चिन्ता करती है; पुत्र, कुटुम्ब के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहादि का पाप करती है और बाह्य में अनेक जीवों की हिंसा करके शुभाशुभ कर्मों का उपार्जन करती रहती है। यही बहिरात्मा नरकादि गति का फल भी अकेले भोगती है।[४९]

---

४६ 'धंधइ पडियउ सयलु जग्गु कम्मइँ करइ अयाणु ।
मोक्खहं कारणु एक्कु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु ।। १२१ ।।' वही ।

४७ 'जोणि लक्खइँ परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु ।
पुत्त-कलत्तहिं मोहियउ जावा ण णाणु महंतु ।। १२२ ।।' -वही ।

४८ (क) 'जीव ण जाणहि अप्पणऊँ घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिं दिट्ठु ।। १२३ ।।' -परमात्मप्रकाश २ ।
(ख) 'मुक्खुण पावहि जीव तुहुँ घरु परियणु चिंतंतु ।
तो वरि चिंतहि तउ जि तउ पावहि मोक्खु महंतु ।। १२४ ।।' -वही ।

४९ 'मारिवि जीवहँ लक्खडा जं जिय पाउ करीसि ।
पुत्त कलत्तहं कारणइँ तं तुहुं एक्कु सहीसि ।। १२५ ।।' -वही ।

### *योगसार में बहिरात्मा*

योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश के समान ही योगसार में बहिरात्मा के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए बताया है कि जो मिथ्यादर्शन से मोहित है और देह आदि पर-पदार्थों को अपना मानती है उसे बहिरात्मा कहा जाता है।[५०] उनकी दृष्टि में जो देहादि पर-पदार्थ हैं, उनको अपना मानना ही मिथ्यात्व है और इसी मिथ्यात्व के कारण आत्मा की दृष्टि बहिर्मुख होती है। इसी बहिर्मुख के आधार पर ही उसे बहिरात्मा कहा जाता है।[५१] योगीन्दुदेव की दृष्टि में जब तक व्यक्ति परमात्मा के स्वरूप को नहीं समझता है और परभाव अर्थात् 'पर' में ममत्व बुद्धि का त्याग नहीं करता है, तब तक वह बहिरात्मा है। जो अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप को नहीं जानता है और परभाव का त्याग नहीं करता है वह भले ही सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता बन जाय, वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता।[५२]

## ३.२.५ मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा में बहिरात्मा के लक्षण

मुनि रामसिंह के द्वारा अपभ्रंश भाषा में रचित 'पाहुडदोहा' में स्पष्ट रूप से त्रिविध आत्मा का उल्लेख तो नहीं मिलता, किन्तु उसमें प्रकारान्तर से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का निर्वचन उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम उसमें बहिरात्मा के लक्षणों की चर्चा गाथा क्रमांक ६ से २४ तक की गई है, किन्तु अन्य गाथाओं में भी बहिरात्मा के जीवन के निर्देश उपलब्ध होते हैं। सर्वप्रथम उसमें बताया गया है कि चाहे व्यक्ति विषय सुख का भोग न करे, किन्तु यदि उसके हृदय में विषय सुख भोगने की आकांक्षा

---

५० 'मिच्छा दंसण मोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ ।
सो बहिरप्पा जिण भणिउ पुण संसार भमेइ ।। ७ ।।' -योगसार ।

५१ 'देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पणु मुणेइ ।
सो बहिरप्पा जिण भणिउ पुणु संसारु भमेइ ।। १० ।।' वही ।

५२ 'अह पुणु अप्पा णवि मुणहि पुण्णु जि करहि असेस ।
तो वि ण पावहि सिद्धि सुहु पुणु संसारु भमेस ।। १५ ।।' -वही ।

स्थित है तो वह विषय आकांक्षी ही माना जायेगा।[५३] ऐसा व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता है और उसे आत्मा के शुद्ध स्व-स्वरूप का बोध नहीं होता।[५४] आगे मुनि रामसिंह कहते हैं कि जब तक यह आत्मा पुत्र, स्त्री आदि में मोहित होकर बोधि को प्राप्त नहीं होती, तब तक वह संसार में परिभ्रमण करती रहती है।[५५] क्योंकि जब तक जीव मोह के वशीभूत होकर[५६] विषय पराधीनता रूप दुःख को सुख और आत्मिक सुख को दुःख मान लेता है;[५७] तब तक वह संसार परिभ्रमण से बच नहीं पाता है।[५८] वस्तुतः गृहवास अर्थात् सांसारिक विषय भोगों का जीवन यमराज के द्वारा फैलाया गया जाल है जिसमें फंसकर व्यक्ति दुःखी ही रहता है।[५९] इसी क्रम में मुनि रामसिंह ने इस बात पर सर्वाधिक बल दिया है कि जब तक अन्तर से भोगाकांक्षा समाप्त नहीं होती[६०] तब तक चाहे व्यक्ति बाहर से मुनि का वेश ही क्यों न धारण कर ले, वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।[६१] जैसे सर्प

---

५३ 'णवि भुंजतां विसयसुहु हियडर भाउ धरंति ।
सालि सित्थु जिम वप्पुडउ णर णरयहं णिवडंति ।। ६ ।।' -पाहुडदोहा ।

५४ (क) 'धंधइं पडियउ जगु कम्मइं करइ अयाणु ।
मोक्खह कारणु एण्णु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु ।। ७ ।।' -वही ।
(ख) 'आयइं अडबड वडवडइ पर रंजिज्जइ लोउ ।
मणसुद्धइ णिच्चल ठियइ पाविज्जइ परलोउ ।। ८ ।।' -वही ।

५५ 'जोणिहिं लक्खहिं परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु ।
पुतकलत्तहं मोहियउ जाव ण बोहि लहंतु ।। ९ ।।' -पाहुडदोहा ।

५६ 'अण्णु म जाणहि अप्पणउ घरु-परियणु जो इट्ठू ।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिं सिट्ठू ।। १० ।।' -वही ।

५७ 'जं दुक्खु वि तं सुक्खु किउ जं सुहु तं पि य दुक्खु ।
पइं जिय मोहहिं वसि गयउ तेण ण पायउ मोक्खु ।। ११ ।।' - वही ।

५८ 'मोक्खु ण पावहि जीव तुहुं धणु-परियणु चिंतंतु ।
तोउ वि चिंतहि तउ वि तउ पावहि सुक्खु महंतु ।। १२ ।।' -वही ।

५९ 'घरवासउ मा जाणि जिय दुक्कियवासउ एहु ।
पासु कयंते मंडियउ अविचलु णीसंदेहु ।। १३ ।।' -वही ।

६० 'मूढा सयलु वि कारिमउ मं फुडु तुहुं तुस कंडि ।
सिवपहि णिम्मलि करहि रइ घरु-परियणु लहु छंडि ।।१४ ।।' -वही ।

६१ 'मोहु विलिज्जइ मणु भरइ तुट्ठइ सासु-णिसासु ।
केवलणाणु वि परिणवइ अंवरि जाए णिवासु ।। १५ ।।' -वही ।

चाहे केंचुली छोड़ दे किन्तु विष को नहीं छोड़ता है उसी प्रकार भोगाकांक्षा में लिप्त व्यक्ति वेश को बदल लेता है किन्तु अन्तर में भोगाकांक्षा बनी रहती है।[६२] वस्तुतः जब तक अन्तर से विषयकांक्षा समाप्त नहीं होती;[६३] तब तक व्यक्ति का जीवन बहिर्मुखी बना रहता है।[६४] बहिर्मुखी आत्मा के लक्षण को स्पष्ट करते हुए मुनि रामसिंह कहते हैं कि जो जीव तत्त्वज्ञान से रहित होने के कारण आत्मा के शुद्ध स्वरूप को नहीं जानते हैं[६५] और कर्मविनिर्मित शरीरादि एवं कषायादि को ही अपना मानते हैं वे निश्चित ही बहिर्मुखी हैं।[६६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनि रामसिंह विषयभोग की अपेक्षा विषयाकाँक्षा को व्यक्ति के बहिर्मुखी जीवन का मुख्य आधार मानते हैं।[६७] उनके अनुसार चाहे व्यक्ति धार्मिक क्रियाकाण्डों को करता रहे और बाहर से इन्द्रियों के विषयों का सेवन भी न करे, किन्तु जब तक मन में विषयकांक्षा बनी हुई है, तब तक उसकी जीवन दृष्टि मिथ्या या बहिर्मुखी रहती है।[६८] इसलिए उनका सर्वाधिक बल इस बात पर है कि सर्वप्रथम व्यक्ति को अपने जीवन को बदलना होगा। उनका कहना है कि जो पर है वह पर ही रहता है। वह कभी अपना नहीं हो सकता। क्योंकि जब तक जीवन में 'पर' के प्रति ममत्वबुद्धि है, तब तक व्यक्ति की

---

६२ 'सप्पे मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ ।
भेयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ ।। १६ ।।' -वही ।

६३ जो मुणि छंडिवि विसयसुह पुणु अहिलासु करेइ ।
लुंचणु सोसणु सो सहइ पुणु संसारु भमेइ ।। १७ ।।' -वही ।

६४ 'विसया सुह दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म बाहि तुहं अप्पाखंधि कुहाडि ।। १८ ।।' -वही ।

६५ 'उव्वडि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहारु ।
सयल वि देह-णिरत्थ गय जिम दुज्जण उवयारु ।। १९ ।। -वही ।

६६ 'अथिरेण थिरा मइलेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारा ।
काएण जा विढप्पइ सा किरिया किण्ण कायव्वा ।। २० ।।' -वहीं ।

६७ 'उम्मुलिवि ते मूलगुण उत्तरगुणहिं विलग्ग ।
वाण्णर जेम पलंबचुय बुड्डय पडेविणु भग्ग ।। २१ ।।' -वही ।

६८ 'वरु विसु विसहरु वरु जलणु वरु सेविउ वणवासु ।
णउ जिणधम्मरम्मुहउ मिच्छत्तिय सहु वासु ।। २२ ।।' -वही ।

जीवनदृष्टि विकृत ही है।[६९] उनकी दृष्टि में पर-पदार्थ भी दुःख के कारण नहीं हैं, प्रत्युत उन पर-पदार्थों में जब तक एकत्व या ममत्व बुद्धि रहती है; तब तक व्यक्ति बहिर्मुखी रहता है। उनके अनुसार न केवल बाह्य पदार्थ अपितु राग-द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष, शोक आदि भी आत्मा के लिए बाह्यतत्त्व हैं, क्योंकि ये सभी कर्मों के परिणमन रूप हैं - आत्मा के स्व-स्वरूप नहीं हैं। जब तक व्यक्ति इनसे जुड़ा हुआ है तब तक वह बहिर्मुखी ही है। इस प्रकार मुनि रामसिंह ने विषयभोगों के प्रति एकत्व या ममत्व की बुद्धि तथा राग-द्वेष और तज्जन्य कषायादि भावों में अनुरक्तता - इन सभी को बहिर्मुखी का लक्षण कहा है।[७०] वे कहते हैं कि जीव तत्त्वज्ञान से रहित होने के कारण वस्तु स्वरूप को विपरीत मानता है और जानता है। यही आत्मा की बहिर्मुख दशा है।[७१]

मुनि रामसिंह बहिरात्मा के स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि चेतनरूपी प्रियतम पाँचों इन्द्रियरूपी नारियों के स्नेह में आबद्ध हो गया है अर्थात् वह इन्द्रियों के वशीभूत हो गया है।[७२] जब तक वह इन्द्रियों के अधीन रहेगा तब तक विषयभोगों में आसक्त रहेगा और भोगों में आसक्त आत्मा कभी भी आत्मानुभव के आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकेगी।[७३] विषयासक्त बहिरात्मा नन्दनवनरुपी शुद्धात्मा के आनन्द-सरोवर में प्रवेश नहीं कर सकती।[७४] मुनि रामसिंह आगे लिखते हैं कि जब तक मन इच्छाओं और आकांक्षाओं की उधेड़बुन में रहता है, तब तक वह

---

६९ 'सो णत्थि इह पएसो चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि ।
जिणवयणं अलहंतो जत्थ ण दुरूढदुल्लिओ जीवो ।। २३ ।।' -पाहुडदोहा ।

७० 'अप्पा बुज्झिउ णिच्चु जइ केवलणाणसहाउ ।
ता परि किज्जइ कांइ वढ तणु उप्परि अणुराउ ।। २४ ।।' -वही ।

७१ 'बोहिविवज्जिउ जीव तुहुं विवरिउ तच्चु मुणेहि ।
कम्मविणिम्मिय भावडा ते अप्पाण भणेहि ।। २६ ।।' -वही ।

७२ 'पंचहिं बाहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स ।
तासु ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ परस्स ।। ४६ ।।' -वही ।

७३ 'ढिल्लउ होहि म इंदियहं पंचइं विण्णि णिवारि ।
एक्क णिवारहि जीहडिय अण्ण पराइय णारि ।। ४४ ।।' -वही ।

७४ 'पंच बलद्द ण रक्खियइं णंदणवणु ण गओसि ।
अप्पु ण जाणिउ णवि परु वि एमइं पव्वइओसि ।। ४५ ।।; -वही ।

संकल्प-विकल्पों में उलझता रहता है। संकल्प-विकल्पों की इस स्थिति में चित्त स्थिर या एकाग्र नहीं होता है। वह बहिर्मुख बना रहता है। अतः बहिरात्मा कहलाता है। ऐसी आत्मा को निर्विकल्पदशा प्राप्त नहीं होती है। यहाँ मुनि रामसिंह आचार्य कुन्दकुन्द के विचारों से सहमत होते हुए कहते हैं कि जो मन विषयानुराग में सुप्त रहता है अर्थात् उनसे निर्लिप्त रहता है वही परमात्मा के उपदेश को समझ पाता है। वस्तुतः जो चित्त को अचित्त (विकल्पशून्य) बना लेता है वही निश्चिन्त अर्थात् निर्विकल्प होता है।[७५] इसे प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा है : "जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहार में सोता है वह अपने स्वरूप में जागता है और जो व्यवहार (बाह्य) विषयों में जागता है वह अपने आत्मकार्य में सोता है। वस्तुतः वह बहिरात्मा है।" ऐसी बहिरात्मा आत्मानुभूति नहीं कर पाती है क्योंकि आत्मानुभूति में उसकी तनिक रुचि नहीं होती। विषयासक्त बहिरात्मा माध्यस्थभाव या वीतरागता की आराधना नहीं कर सकती। बहिरात्मा की विषयासक्त बुद्धि समाप्त नहीं होने के कारण उसकी अभिरुचि संसारिक भोगों में बढ़ती जाती है।[७६] मुनि रामसिंह ने आगे राग-द्वेष की प्रवृत्ति को ही संसार कहा है। अतः वह संसारी आत्मा ही है।[७७] मुनि रामसिंह के 'पाहुडदोहा' में बहिरात्मा के स्वरूप का निर्वचन निम्न रूप से उपलब्ध होता है। वे कहते हैं कि जो मूढ़ (बहिरात्मा) पर-पदार्थों में अनुरक्त रहते हैं वे चाहे नगर में हों, गाँव में हों, वन में हों, पर्वत के शिखर पर हों, समुद्र के तट पर हों अथवा महलों में हों या मठ, गुफा, चैत्यालय आदि किसी भी स्थान पर हों उनको रंचमात्र भी निराकुल सुख उपलब्ध नहीं होता। विषयों में आसक्त रहना बहिरात्मा का लक्षण है। जैसे समुद्र कभी भी नदियों के जल से तृप्त नहीं होता, वैसे ही मूढ़ जीव (बहिरात्मा) को काम-भोगादि

---

[७५] 'मणु जाणइ उवएसडउ जहिं सोवइ अचिंतु ।
अचित्तहं चित्तु जो मेलवइ सो पुणु होइ णिचिंतु ।। ४७ ।।' -वही ।

[७६] 'अम्मिए जो परु सो जि परु परु अप्पाण ण होइ ।
हउं डज्झउ सो उव्वरइ वलिवि ण जोवइ सोइ ।। ५२ ।।' -वही ।

[७७] 'मूढा सयलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ ।
जीवहु जंत ण कुडि गयइ यहु पडिछंदा जोइ ।। ५३ ।।' -वही ।

से कभी भी तृप्ति नहीं होती।[७८] बहिरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मुनि रामसिंह कहते हैं कि यह बहिरात्मा राज्य का छत्र पाकर अर्थात् राज्य को प्राप्त करके भी सदा दुःखी रहती है। देहरूप देवालय में निवास करते हुए भी जो महल आदि बनवाता है[७९] जिसका चित्त राग के कोलाहल में अथवा छः प्रकार के रसों अथवा पाँच प्रकार के रूपों में आसक्त है, वही बहिरात्मा है। उसे उपदेश देते हुए मुनि रामसिंह कहते हैं कि तू उसे ही अपना मित्र बना, जिसका चित्त सांसारिक भोगों में आसक्त न हो।[८०]

## ३.२.६ आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

ज्ञानार्णव में द्वादशानुप्रेक्षाओं की चर्चा करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने बहिरात्मा की जीवन दृष्टि को स्पष्ट किया है। आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में वस्तुस्वरूप के सम्यग्ज्ञान के अभाव में बहिरात्मा पर-पदार्थों पर ममत्व बुद्धि का आरोपण करती है; संसार के क्षणिक सुखों में आसक्त बनती है और संसार के सांयोगिक सम्बन्धों को ही यथार्थ मान कर उनमें राग-द्वेष करती है।[८१] इस प्रकार आचार्य शुभचन्द्र ने अनात्म में आत्मबुद्धि, दुःख के निमित्तों को ही सुख का साधन मान लेना और अनित्य या क्षणभंगुर विषयों में आसक्ति रखना बहिरात्मा का लक्षण माना है।[८२]

वे लिखते हैं कि अज्ञानी आत्मा द्वारा वस्तुस्वरूप का विचार नं

---

७८ 'अप्पा मेल्लिवि जग तिलउ जे परदव्वि रमंति ।
अण्णु कि मिच्छादि ट्ठियह मत्थइं सिंगइं होंति ।। ७१ ।। -पाहुडदोहा ।

७९ 'छत्तु वि पाइ सुगरुयडा सयल-काल सन्तावि ।
णियदेहडइ वसन्तयहं पाहण वाडि वहाइ ।। १३१ ।।' -वही ।

८० 'रायवयल्लहिं छहरसहिं पंचहिं रुवहिं चित्तु ।
जासु ण रंजिउ भुवणयलि सो जोइय करि मित्तु ।। १३३ ।।' -वही ।

८१ 'आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात् ।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोह निद्रास्त चेतनः ।। ६ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ३२ (शुद्धोपयोग) ।

८२ 'हृषिकार्थसमुत्पन्ने प्रतिक्षण विनश्वरे ।
सुखे कृत्वा रतिं मूढ विनष्टं भुवनत्रयं ।। ८ ।।' -वही सर्ग २ (अनित्यभावना) ।

करके अनात्म में आत्मबुद्धि रखना यही उसकी मूल भूल है। वह मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी इस बात को नहीं समझती है कि उसका वास्तविक कल्याण किसमें है? उनके शब्दों में वह इन्द्रजाल से रचे हुए किन्नरपुर के समान इस असार संसार में स्पृहा करती हुई एवं जो यौवन तथा परिवारजन जल की सतह व बिजली के समान चंचल हैं, उनमें वह रची पची रहती है। दूसरे शब्दों में उसे संसार और वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं होता।[८३]

आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में बहिरात्मा का दूसरा लक्षण दुःख के निमित्तों को सुखरूप मानना है। वे लिखते हैं कि संसार में धन-धान्य, स्त्री, कुटुम्ब आदि जो परिग्रह है, वह वस्तुतः दुःख का हेतु है। किन्तु यह मूढ़ आत्मा उनको ही सुख का हेतु मानकर उनमें आसक्त रहती है।[८४] उनके अनुसार इस संसाररूपी समुद्र में परिभ्रमण करते हुए यह आत्मा जितने सम्बन्ध बनाती है, वे सब ही आपदाओं के घर हैं - दुःख के निमित्त हैं।[८५] क्योंकि जो भी सांयोगिक है उनका वियोग अवश्यम्भावी है और जहाँ वियोग है वहाँ दुःख ही है। पुनः यह अज्ञानी आत्मा जिन भोगों में सुख मानती है वे उस सर्प के फण के समान हैं, जो व्यक्ति को डस लेता है।[८६] जिन सांसारिक सुखों को हम सुख मानते हैं वे दुःखों से जुड़े हुए हैं। उनका आदि और अन्त दोनों ही दुःख रूप होता

---

८३ 'गगन नगरकल्पं संगमं वल्लभानाम् ।
जलदपटलतुल्यं यौवनं वा धनं वा ।।
सुजनसुत शरीरादीनि विद्युच्चलानि ।
क्षणिकमिति समस्तं विद्धि संसारवृत्तम् ।। ४७ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग २ (द्वादशभावना) ।

८४ 'स्वजनधनधान्यदाराः पशुपुत्र पुराकरा गृहं भृत्याः ।
मणिकनकर चितशय्या वस्त्राभरणादि बाह्यार्थाः ।। ६ ।।' -वही सर्ग १६ ।

८५ (क) 'भवाब्धिप्रभवाः सर्वे सम्बन्धा विपदास्पदम् ।
सम्भवन्ति मनुष्याणां तथान्ते सुष्ठुनीरसाः ।। ६ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग १२ ।
(ख) 'यानपात्रमिवाम्भोधौ गुणवानपि मज्जति ।
परिग्रह गुरुत्वेन संयमी जन्मसागरे ।। १ ।।' -वही सर्ग १६ ।

८६ (क) 'स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं रागाद्यरिनिकेतनं ।
क्रीड़ास्पदमविद्यानां बुधैर्वित्तं प्रकीर्तितम् ।। २८ ।।' -वही ।
(ख) 'भोगा भुजंगभोगाभाः सद्यः प्राणपहारिणः ।
सेव्यमानाः प्रजायन्ते संसारे त्रिदशैरपि ।। १३ ।।' -वही सर्ग २ ।

है। इसलिए आचार्य शुभचन्द्र आत्मा को सावधान करते हुए कहते हैं कि जो सुख और दुःख हैं, उन दोनों को ज्ञान रूपी तराजू में तोलेंगे तो सुख से दुःख अनन्तगुणा प्रतीत होगा।[८७]

आगे वे संसार की क्षणिकता का चित्रण करते हुए कहते हैं कि राजाओं के यहाँ जो घड़ी का घण्टा बजता है वह वस्तुतः संसार की क्षणभंगुरता को ही प्रकट करता है। यह जीवन घड़ी के घण्टे के समान क्षणभंगुर है। जो घड़ी बीत गई वह पुनः लौटकर नहीं आती।[८८] मृत्यु हमें प्रतिसमय ग्रसित कर रही है। जीवन का घर प्रति समय रिक्त हो रहा है। शरीर प्रतिदिन क्षीण होता जाता है। आयुबल घटता जाता है। फिर भी यह दुर्भाग्य है कि इस आत्मा की आशा और तृष्णा बढ़ती ही जाती है।[८९] आचार्य शुभचन्द्र के शब्दों में यह जीवन तो ठीक वैसा ही है जैसे अनेक क्षेत्रों से आ-आकर संध्या के समय पक्षी वृक्षों पर बैठते हैं,[९०] किन्तु प्रातःकाल होते ही पुनः उड़ जाते हैं।[९१] यह जीव भी विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करता हुआ विभिन्न कुल या जाति में जन्म लेता है, किन्तु आयु पूर्ण होते ही वहाँ से चल देता है। हमारा सांसारिक आवास स्थाई नहीं है। प्रभात के समय जिस गृह में आनन्द उत्सव मनाया जाता है व मांगलिक गीत गाये जाते हैं[९२], राज्याभिषेक होता है, उसी दिन संध्या के समय वहाँ चिता का

---

८७ 'यज्जन्मनि सुखं मूढ यच्च दुःखं पुरःस्थितम् ।
तयोर्दुःखमनन्तं स्यात्तुलायां कल्प्यमानयोः ।। १२ ।।' -वही ।

८८ 'क्षणिकत्वं वदन्त्यार्या घटीघातेन भूभृताम् ।
क्रियताभात्मनः श्रेयो गतेयं नागमिष्यति ।। १५ ।।" -वही ।

८९ 'शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः ।
मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ।। २३ ।।' -वही ।

९० 'यद्वद्देशान्तरादेत्य वसन्ति विहगा नगे ।
तथा जन्मान्तरान्मूढ प्राणिनः कुलपादपे ।। ३० ।।' -वही ।

९१ 'प्रातस्तरुं परित्यज्य यथैते यान्ति पत्रिणः ।
स्व कर्म वशगाः शश्वत्तथैते क्वापि देहिनः ।। ३१ ।।' -वही ।

९२ 'गीयते यत्र सानन्दं पूर्वाह्णे ललितं गृहे ।
तस्मिन्नेव हि मध्याह्ने सदुःखमिह रुद्यते ।। ३२ ।।' -वही ।

धुआँ दिखाई देता है।[६३]

आचार्य शुभचन्द्र संसार की अनित्यता का चित्रण करते हुए बहिरात्मा को सचेत करते हैं कि जिस प्रकार नदी की लहरें जाकर पुनः लौटकर नहीं आती; उसी प्रकार जीवों की विभूति नष्ट होने के पश्चात् पुनः लौटकर नहीं आती। फिर भी बहिरात्मा वृथा ही हर्ष विषाद करती है।[६४] नदी की लहरें पुनः कदाचित् कहीं लौट भी आती हैं, परन्तु मनुष्यों का गया हुआ रूप, बल, लावण्य तथा सौन्दर्य फिर नहीं आता। फिर भी बहिरात्मा उनकी आशा लगाये रहती है।[६५] आगे वे कहते हैं : "जीवों का आयुबल तो अंजलि के जल के समान क्षण-क्षण में निरन्तर झरता है और यौवन कमलिनी के पत्र पर पड़े हुए जलबिन्दु के समान तत्काल ढलक जाता है; फिर भी बहिरात्मा वृथा ही स्थिरता की इच्छा करती है।[६६] जीवन के मनोज्ञ विषयों के साथ संयोग स्वप्न के समान है और वह क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है। जिनकी बुद्धि मायाचार में उद्धत है, ऐसे ठगों[६७] की भाँति ये बाह्य विषय व्यक्ति को आकर्षित कर उसका सर्वस्व हरने वाले हैं। हे बहिरात्मा! ऐसा तू जान।"[६८] यहाँ पर शुभचन्द्राचार्य कहते हैं कि इस लोक में ग्रह, चन्द्र, सूर्य, तारे तथा छः ऋतु आदि सब ही जाते और पुनः लौटकर आते हैं; किन्तु इस देह से गये हुए प्राण स्वप्न में भी कभी लौटकर नहीं

---

६३ 'यस्य राज्याभिषेकश्रीः प्रत्यूषेऽत्र विलोक्यते ।
तस्मिन्नहनि तस्यैव चिताधूमश्च दृश्यते ।। ३३ ।।' -वही ।

६४ 'यान्त्येव न निवर्त्तन्ते सरितां यद्वदूर्मयः ।
तथा शरीरिणां पूर्वा गता नायान्ति भूतयः ।। ३७ ।।' -वही ।

६५ 'क्वचित्सरित्तरंगाली गतापि विनिवर्त्तते ।
न रूपबल लावण्यं सौन्दर्यं तु गतं नृणाम् ।। ३८ ।।' -वही सर्ग २ ।

६६ 'गलत्येवायुख्यग्रं हस्तन्यस्ताम्बुवत्क्षणे ।
नलिनीदलसंक्रान्तं प्रालेयमिव यौवनम् ।। ३९ ।।' -वही ।

६७ 'मनोज्ञविषयैः सार्द्धं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः ।
क्षणादेव क्षयं यान्ति वंचनोद्धतबुद्धयः ।। ४० ।।' -वही ।

६८ 'धनमालानुकारीणि कुलानि च बलानि च ।
राज्यालंकार वित्तानि कीर्तितानि महर्षिभिः ।। ४१ ।।' -वही ।

आते। फिर भी बहिरात्मा व्यर्थ में ही इनसे प्रीति करती है।[९९] यह जगत् इन्द्रजाल सम है। बहिरात्मा के नेत्रों में मोहिनी अंजन के समान यह मोह अपने स्वयं का भान भुलाता है। यह अन्त में धोखा देने वाला है। बहिरात्मा फिर भी बाह्यसुखों के पीछे भागती है।[१००] यहाँ पर शुभचन्द्राचार्य बहिरात्मा की संसारी अवस्था का चित्रण करते हुए लिखते हैं कि यह बहुरूपिया (बहिरात्मा) संसार में अनेक रूपों को ग्रहण करता है और अनेक रूपों को छोड़ता है। जिस प्रकार नृत्य के रंगमंच पर नृत्य करनेवाला भिन्न-भिन्न स्वांगों को धरता है, उसी प्रकार यह आत्मा निरन्तर भिन्न-भिन्न स्वांग (शरीर) धारण करती रहती है। यही संसार की विडम्बना है फिर भी व्यक्ति (बहिरात्मा) इसमें आसक्त बना रहता है।[१०१] अतः यह दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है उसका सार्थक उपयोग आवश्यक है। किन्तु यह मूढ़ आत्मा इन अनात्म और क्षणिक पदार्थों में आसक्त बनी हुई राग-द्वेष करती रहती है। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि व्यक्ति के यह राग-द्वेष रुपी विषय बदलते रहते हैं। उनके शब्दों में पूर्व जन्म में जो तेरे शत्रु थे, वे ही इस जन्म में तेरे अति स्नेही बन्धु बने हुए हैं[१०२] और जो पूर्व जन्म में तेरे बन्धु और मित्र रहे हुए थे, वे ही आज शत्रुता को प्राप्त होकर क्रोधयुक्त लाल नेत्र कर तेरे विनाश की कामना कर रहे हैं।[१०३] इस कथन में आचार्य शुभचन्द्र का संकेत यह है कि इस संसार में जो एक समय राग का केन्द्र होता है, वही दूसरे समय द्वेष का केन्द्र बन जाता है और जो द्वेष का केन्द्र होता है वही परिस्थितियों के बदलने के साथ ही राग का केन्द्र बन जाता है। कभी पराये अपने

---

९९ 'यातायातानि कुर्वन्ति ग्रहचन्द्रार्कतारकाः ।
ऋतवश्च शरीराणि न हि स्वप्नेऽपि देहिनाम् ।। ४३ ।।' -वही ।

१०० 'मोहांजनमिवाक्षाणामिन्द्रजालोपमं जगत् ।
मुह्यत्यस्मिन्नयं लोको न विद्मः केन हेतुना ।। ४५ ।।' -वही ।

१०१ 'रुपाण्येकानि गृहणूति त्यजत्यन्यानि सन्ततम् ।
था रंगेत्र शैलूषस्तथायं यन्त्रवाहकः ।। ८ ।' -वही ।

१०२ 'ये जाता रिपवः पूर्व जन्मन्यस्मिन्विधेर्वशात् ।
त एव तव वर्त्तन्ते बान्धवा बद्धसौहृदः ।। १६ ।।' -वही ।

१०३ 'रिपुत्वेन समापन्नाः प्राक्तनास्तेऽत्र जन्मनि ।
बान्धवाः क्रोधरुद्धाक्षा दृश्यन्ते हन्तुमुद्यताः ।। २० ।।' -वही ।

प्रतीत होते हैं और कभी अपने पराये प्रतीत होते हैं। राग-द्वेष का यह खेल मनुष्य की स्वार्थवृत्ति के आधार पर चलता रहता है। निश्चय में तो न कोई तेरा शत्रु है और न कोई तेरा मित्र है। आचार्य शुभचन्द्र तो यहाँ तक कहते हैं कि जो ममत्व बुद्धि की रस्सी से बान्धकर तुझे इस संसार चक्र में डालते हैं, वे तेरे बान्धव या हितैषी नहीं हैं। अतः सम्यग्ज्ञान के द्वारा मोह और आसक्ति के इस जाल से छुटकारा पा लेना ही जीवन का वास्तविक लक्षण है। किन्तु जो मोह में आसक्त बना हुआ है, वह मूढ़ बहिरात्मा ही है।[१०४] बहिरात्मा आत्मस्वरूप से विमुख हो इन्द्रियों के व्यापाररूप शरीर को ही आत्मा मानती है।[१०५] मूढ़ बहिरात्मा देव पर्यायसहित आत्मा को देव मानती है। जिस पर्याय में आत्मा होती है उसी पर्याय को वह आत्मा समझती है।[१०६] यह मूढ़ आत्मा शरीर को आत्मा मानने के कारण 'पर' की अचेतन देह को आत्मा मानती है।[१०७] मिथ्याज्ञानरुपी ज्वर से निरन्तर पीड़ित होकर बहिरात्मा अज्ञानतावश पशु, पुत्र आदि को भी अपना मानती है।[१०८]

## ३.२.७ आचार्य अमितगति के योगसारप्राभृत में बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

आचार्य अमितगति ने स्पष्टरूप से बहिरात्मा शब्द का तो प्रयोग नहीं किया है, किन्तु उसके लक्षणों का संकेत अवश्य किया

---

१०४ 'संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः ।
बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम् ।। ११ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ३२ ।

१०५ 'अक्षद्वारैरविश्रान्तं स्वतत्त्वविमुखैर्भृशम् ।
व्यापृतो बहिरात्मायं वपुरात्मेति मन्यते ।। १२ ।।' -वही ।

१०६ (क) 'सुरं त्रिदशपर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम् ।
तिर्यंच च तदंगे स्वं नारकांगे च नारकम् ।। १३ ।।' -वही ।
(ख) 'वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तत्र पुनस्तथा ।
किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्यं तद्रूपं परिकीर्तितम् ।। १४ ।।' -वही ।

१०७ 'स्वशरीरमिवान्विष्य परांग च्युतचेतनम् ।
परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽध्यवस्यति ।। १५ ।।' -वही ।

१०८ 'ततः सोऽत्यन्तमित्रेषु पशु पुत्रांगनादिषु ।
आत्मत्वं मनुते शश्वदविद्याज्वरजिह्मितः ।। १७ ।।' -वही ।

है। बहिरात्मा को मिथ्यादृष्टि के रूप में सम्बोधित करते हुए वे लिखते हैं कि वह देहादि पर-वस्तुओं का अपने को स्वामी मानती है। किन्तु जब तक जीव आत्म-अनात्म, जड़-चेतन का विवेक नहीं करता और पर-पदार्थों को अपना मानता रहता है वह कर्मबन्ध से नहीं बच सकता। वस्तुतः जब तक यह जीव परद्रव्यों से सुख-दुःख आदि की अपेक्षा रखता है तब तक वह मिथ्या दृष्टि या बहिरात्मा ही बना रहता है।[१०६] मिथ्यात्व से ग्रसित उसका चित्त जब तक स्व-आत्मा को 'पर' और पर-पदार्थों को 'स्व' या अपना मानता है तब तक वह बहिर्मुखी ही बना रहता है और संसार में परिभ्रमण करता रहता है। उसकी बुद्धि इस प्रकार की होती है कि वह राग, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, मोह-मद तथा इन्द्रियों के स्पर्श आदि[११०] विषयों में 'यह मेरे हैं' और 'मैं इनका हूँ' ऐसे तादात्म्य की अनुभूति[१११] करता है। इस प्रकार पर द्रव्यों में राग-द्वेष के वशीभूत होकर शुभाशुभ भावों को करता हुआ वह स्वरूप आचरण से विमुख या बर्हिमुख होता है। सत्य तो यह है कि इन्द्रियों के विषयों के सेवन से जो सुख मिलता है, वह उनके पीछे रही हुई तृष्णा के दाह की अपेक्षा नगण्य ही होता है। इसलिये वह दुःख ही है, तृष्णावर्धक है।[११२] कर्मबन्ध के कारणरूप अनित्य एवं पराधीन इन्द्रियसुख में वस्तुतः सुख नहीं है, फिर भी आसक्त चित्त उसमें ममत्व बुद्धि करता है।[११३] इस प्रकार अमितगति की दृष्टि में अनात्म में आत्मबुद्धि और इन्द्रियजन्य सुख में आसक्ति ही बहिरात्मा का

---

१०६ (क) 'कुर्वाणः परमात्मानं सदात्मानं पुनः परम् ।
मिथ्यात्व-मोहित-स्वान्तो रजोग्राही निरन्तरम् ।। २७ ।।' -योगसारप्राभृत.अधिकार ३ ।
(ख) 'एतेऽहमहमेतेषामिति तादात्म्यमात्मनः ।
विमूढः कल्पयन्नात्मा स्व-परत्वं न बुध्यते ।। २६ ।।' -वही ।

११० 'राग-मत्सर-विद्वेष-लोभ-मोह मदादिषु ।
हृषीक-कर्म नोकर्म-रूप-स्पर्श-रसादिषु ।। २८ ।।' -वही ।

१११ 'रागतो द्वेषतो भावं परद्रव्ये शुभाशुभम् ।
आत्मा कुर्वन्नचारित्रं स्वचारित्र पराङ्मुखः ।। ३१ ।।' -वही ।

११२ 'यत्सुखं सुरराजानां जायते विषयोद्भवम् ।
ददानं दाहिकां तृष्णां दुखं तदवबुध्यताम् ।। ३४ ।।' -वही ।

११३ 'अनित्यं पीडकं तृष्णा वर्धकं कर्मकारणम् ।
शर्माक्षजं पराधीनमशर्मैव विदुर्जिनाः ।। ३५ ।।' -वही ।

लक्षण सिद्ध होता है।[११४] यहाँ पर अमितगति बहिरात्मा के मिथ्यात्व स्वरूप का निर्देश करते हुए लिखते हैं कि मिथ्यात्व ही बर्हिमुखता का आधार है। मिथ्यात्व के कारण जो वस्तु जिस रूप में स्थित है, उसका उस रूप में ज्ञान न होकर विपरीत रूप में ज्ञान होता है। यह मिथ्यात्व सारे कर्मरुपी बगीचे को उगाने या बढ़ाने के लिये जल सिंचन के समान है अर्थात् इसी कारण आत्मा (बहिरात्मा) संसार में भवभ्रमण करती रहती है।[११५] यहाँ पर अमितगति दर्शनमोह के उदयजन्य मिथ्यात्व के तीन भेद लिखते हैं: १. गृहीत; २. अगृहीत; और ३. सांशयिक। इसी मिथ्यात्व से प्रभावित जीव अतत्त्व को वैसे ही तत्त्व रूप मानता है;[११६] जैसे कि धतूरे के नशे में प्राणी अस्वर्ण को स्वर्णरूप में देखता है।[११७]

आगे अमितगति बहिरात्मा की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि जो आत्मा से पराङ्मुख होकर परद्रव्य में राग करती है वह बहिरात्मा शुद्ध चारित्र से विमुख रहती है। वस्तुतः जो मोक्ष की लालसा रखते हुए परद्रव्य की उपासना करते हैं, वे मूढ़जन (बहिरात्मा) ऐसे हैं जैसे कोई हिमवान् (हिमालय) पर्वत पर चढ़ने के इच्छुक होते हुए समुद्र की ओर चले।[११८] इसी प्रकार बहिरात्मा विपरीत दिशा में गमन करती है।

---

११४ 'सांसारिकं सुखं सर्वं दुःखतो न विशिष्यते ।
यो नैव बुध्यते मूढः स चारित्री न भण्यते ।। ३६ ।।' -योगसारप्राभृत.अधिकार ३ ।

११५ 'वस्त्वन्यथा परिच्छेदो ज्ञाने संपद्यते यतः ।
तन्मिथ्यात्वं मतं सद्भिः कर्मारामोदयोदकम् ।। १३ ।।' -वही अधिकार १ ।

११६ 'उदये दृष्टि मोहस्य गृहीतम-गृहीतकम् ।
जातं सांशयिकं चेति मिथ्यात्वं तत् त्रिधा विदुः ।। १४ ।।' -वही ।

११७ 'अतत्त्वं मन्यते तत्त्वं जीवो मिथ्यात्वभावितः ।
अस्वर्णमीक्षते स्वर्णं न किं कनकमोहितः ।। १५ ।।' -वही ।

११८ 'ये मूढा लिप्सवो मोक्षं परद्रव्यमुपासते ।
ये यान्ति सागरं मन्ये हिमवन्तं यियासवः ।। ५० ।।' -वही ।

## ३.२.८ आचार्य गुणभद्र के अनुसार बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

आचार्य गुणभद्र द्वारा विरचित आत्मानुशासनम् की टीका में प्रभाचन्द्राचार्य स्पष्ट रूप से बहिरात्मा के स्वरूप का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि बहिरात्मा अनादिकाल से आत्म-अनात्म के विवेक से रहित होती है। बहिरात्मा की समस्त गतिविधियाँ एवं रुचि बाह्य होती हैं। इसका पुरुषार्थ बाह्य में ही होता है। बहिरात्मा आत्मस्वरूप की घातक होती है एवं धर्म प्रवृत्ति में बाधक होती है। यह आत्मा हेय उपादेय के विचारों से रहित होती है। बहिरात्मा राग-द्वेषादि के विचारों में निमग्न रहती है। वह विषय भोगों में लिप्त होती है। वह न्याय-अन्याय का विचार नहीं करके मनमाना आचरण करती है। आचार्यश्री ने यहाँ पर बहिरात्मा को दुरात्मा के नाम से भी सम्बोधित किया है। वे कहते हैं : "हे आत्मन्! तू आत्म चिन्तन, आत्महित करनेवाला कार्य क्यों नहीं करती है? आत्मस्वरूप को नष्ट करने वाला पुरुषार्थ क्यों करता है? अपने इसी आचरण के कारण तू चिरकाल से दुरात्मा अर्थात् बहिरात्मा ही रही है।" यहाँ पर प्रभाचन्द्रार्य आत्मा के लक्षणों को अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार पागल एवं शराबी व्यक्ति हिताहित के विवेक से रहित होकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है - उसे स्वयं की अपनी मृत्यु का भी भय नहीं रहता है ऐसी विषयोन्मुख बहिरात्मा अपने भले बुरे का ध्यान नहीं रखती है; अपितु हिंसादि कार्यों के द्वारा आत्मा का अहित करने में तत्पर रहती है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य (स्वदारासन्तोष) तथा अपरिग्रह आदि धार्मिक प्रवृत्तियाँ जो आत्महित करने वाली है, उनसे बहिरात्मा विमुख रहती है। बहिरात्मा को अपना इतना भी भान नहीं होता कि 'अब यह देह क्षीण हो रही है; मैं बूढ़ा हो गया हूँ; मुझे किसी भी समय मृत्यु अपना ग्रास बना सकती है।'[११९] बहिरात्मा सावधान नहीं होती और न ही आत्महित का चिन्तन करती है। किन्तु इन्हीं विषयतृष्णाओं के कारण मृत्यु के पश्चात् पुनः शरीर को धारण करती है; जो स्वभावतः अपवित्र, अशुद्ध,

---

[११९] आत्मानुशासनम् टीका पृ. १८४-१८६ (श्लोक १९२)।

रोगादि से ग्रसित एवं राग-द्वेषादि का कारण होता है। इन सभी प्रवृत्तियों के कारण वह स्वयं को और अन्य को भी ठगती है। दूसरों को भी धोखा देती है। इस दुःख से परिपूर्ण बहिरात्मा अनादिकाल तक संसार में परिभ्रमण करती है।[१२०]

## ३.२.९ योगशास्त्र में बहिरात्मा का स्वरूप

हेमचन्द्राचार्य बहिरात्मा का निरूपण करते हुए लिखते हैं कि बहिरात्मा शरीर, धन, परिवार, स्त्री, पुत्रादि में आत्मबुद्धि रखती है। शरीर को ही अपना अपना घर मानती है एवं स्वयं ही उसी की स्वामी है - ऐसा जानती है।[१२१] कर्मावरण के कारण यह मूढ़ आत्मा परपुद्गलों में सन्तोष मानती है।[१२२] बहिरात्मा अज्ञानतावश दुःखी-सुखी एवं कषाय इन्द्रियों के वशीभूत रहती है। बहिरात्मा क्रोधादि चार कषायों की चौकड़ी से घिरी रहती है।[१२३] वह दुःख के कारण असन्तोष, अविश्वास और आरम्भ करती हुई बाह्य पदार्थों में मूर्छित होती है। इस परिग्रह के कारण बहिरात्मा संसाररुपी समुद्र में डूब जाती है। जिस प्रकार अधिक वजन हो जाने पर जहाज समुद्र में डूब जाता है, उसी प्रकार की स्थिति बहिरात्मा की होती है।[१२४] वे आगे बहिरात्मा का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि जैसे मकान की खिड़की से अन्दर छन-छन कर आती हुई सूर्य की किरणों के साथ बहुत ही सूक्ष्म अस्थिर रजकण दिखाई देते हैं, वैसे ही इस परिग्रह से सूक्ष्म रजकण जितना लाभ भी बहिरात्मा को नहीं होता है। बहिरात्मा परिग्रह के कारण परभव में किसी प्रकार की सिद्धी या सफलता प्राप्त नहीं करती है। परिग्रह-परिगणित वस्तुएँ उपभोग या परिभोगादि करने में अवश्य

---

१२० 'अहितविहित प्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं, सकृदपकृतं श्रुत्वा सद्यो जहाति जनोऽयमम् ।
स्वहित निरतः साक्षादोश समीक्ष्य भवे भवे, विषयविद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरूते बुधः ।। १६२ ।।'
-आत्मानुशासनम् टीका ।

१२१ योगशास्त्र १२/७ ।

१२२ वही १२/१० ।

१२३ योगशास्त्र ४/४-९ ।

१२४ वही २/१०६ एवं १०७ ।

आती हैं, किन्तु यह कोई गुण नहीं है। वस्तुतः परिग्रह, मूर्च्छा और आसक्ति से कर्मबन्धादि होते हैं। परिग्रह बहिरात्मा में परिग्रहजनित पर्वत जैसे विशाल दोष उत्पन्न करता है। बहिरात्मा आसक्ति से राग-द्वेषादि शत्रुओं को पैदा करती है। इस परिग्रह के प्रभाव से बहिरात्मा डांवाडोल हो जाती है।

## ३.२.१० बनारसीदास की रचनाओं में बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

बहिरात्मा के स्वरूप का चित्रण करते हुए बनारसीदासजी लिखते हैं कि "जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में प्यास से पीड़ित होकर मृग मिथ्याजल की ओर व्यर्थ ही दौड़ता है, उसी प्रकार संसारी जीव (बहिरात्मा) मोह-माया में ही अपना कल्याण मानकर मिथ्या विश्वासों के कारण संसार में परिभ्रमण करते हैं। जिस प्रकार लोटन कबूतर के पंखों में मजबूत पेंच लगे होने से वह उलट-पुलट गिरता है, उसी प्रकार संसारी जीव कर्मबन्ध से संसार में परिभ्रमण करता है। वह पर-वस्तुओं को अपनी कहता है और अपनी ज्ञानादि योग्यता को नहीं समझता है। परद्रव्यों के प्रति ममत्व भाव से आत्महित वैसे ही समाप्त हो जाता है, जैसे काँजी के स्पर्श से दूध फट जाता है।"[१२५] बनारसीदासजी आगे बन्धद्वार में बताते हैं कि "पृथ्वी पर नदी का प्रवाह एक रूप होता है; फिर भी पानी की अनेक अवस्थाएँ होती हैं। जहाँ पत्थर से टोकर लगती है, वहाँ जलस्रोत की दिशा मुड़ जाती है; जहाँ रेत का टीला होता है वहाँ फेन होता है; जहाँ वायु के झोंके लगते हैं, वहाँ लहरें उठती हैं; जहाँ धरती ढलानवाली होती है, वहाँ भँवर होते हैं।

---

१२५ 'लियै द्रिढ़ पेच फिरै लोटन कतबूरसौ,
उलटौ अनादिकौ न कहूं सुलटतु है।
जा कौ फल दुख ताहि साता सौ कहत सुख,
सहत लपेटी असि-धारासी चटतु है।।
ऐसैं मूढजन निज संपदा न लखै क्योंही,
यौंहि मेरी मेरी निसिवासर रटतु है।
याही ममतासौ परमारथ विनसि जाइ,
कांजीकौ परसपाइ दूध ज्यौं फटतु है।। २८ ।।' -समयसार नाटक (बंधद्वार)।

वैसे ही आत्मा भिन्न-भिन्न पुद्गलों के संयोग को प्राप्त कर विभावदशा (बाह्यदशा) में परिणत होती है।"[१२६] वे आगे कहते हैं कि "संसारी जीव (बहिरात्मा) की दशा कोल्हू के बैल के समकक्ष है। वह भूख, प्यास और निर्दयी पुरुषों के प्रहारों को सहता हुआ क्षणमात्र के लिये भी विश्राम नहीं ले पाता है - पराधीन होकर चक्कर लगाता रहता है। इस प्रकार बहिर्मुख आत्मा जन्म मरण के चक्र में फँसी रहती है और आत्मा के आनन्द से वंचित रहती है।"[१२७] बनारसीदासजी आगे बहिरात्मा के लक्षणों की चर्चा करते हैं कि 'जिस प्रकार अंजलि का पानी क्रमशः घटता है एवं सूर्य उदित होकर अस्त होता है; वैसे ही प्रतिदिन जिन्दगी घटती रहती है। जैसे करौंत खींचने से काठ कटता है; उसी प्रकार काल शरीर को क्षण-क्षण में क्षीण करता है। फिर भी अज्ञानी (बहिरात्मा) मोक्षमार्ग की खोज नहीं करता है और देहिक हितों की पूर्ति के लिये अज्ञानवश संसार में भटकता रहता है। बहिरात्मा शरीर आदि पर-वस्तुओं से प्रीति करती है; मन, वचन और काया के योगों में अहंबुद्धि रखती है और सांसारिक विषय भोगों में लिप्त रहती है -

---

१२६ 'जैसे महिमंडल मै नदी कौ प्रवाह एक,
ताही मै अनेक भांति नीरकी ढरनि है।
पाथरकौ जोर तहां धार की मरोर होति,
कांकर की खानि तहां झाग की झरनि है।
पौंनकी झकोर तहां चंचल तरंग उठै,
भूमि की निचांनि तहां भौंरकी परनि है।
तैसें एक आत्मा अनन्त-रस पुद्गल,
दुहूंके संजोग मै विभाव की भरनि है ।। ३५ ।।' -समयसार नाटक (बंधद्वार)।

१२७ 'पाटी बांधी लोचनिसौं सकुचै दबोचनिसौं,
कोचनिके सोचसौं न बेदै खेद तनकौ।
धायबो ही धंधा अरू कंधामांहि लग्यौ जोत,
बार-बार आर सहै कायर है मनको ।।
भूख सहै प्यास सहै दुर्जनको त्रास सहै,
थिरता न गहै न उसास लहै छनको।
पराधीन घूमै जैसौ कोल्हूकौ कमेरौ बैल,
तौसौई स्वभाव या जगत्वासी जनकौ ।। ४२ ।।' -समयसार नाटक (बंधद्वार)।

उनसे किंचित् भी विरक्त नहीं होती।[१२८]

बहिरात्मा (अज्ञानी) अपने स्व-स्वरूप की पहिचान नहीं करती है। जैसे चन्द्रमा मेघ से आच्छादित हो जाता है, वैसे ही कर्मोदय के कारण बहिरात्मा का शुद्ध ज्ञान भी आवृत्त हो जाता है। ज्ञान चक्षु पर आवरण आने से सद्गुरू की शिक्षा भी हृदयस्पर्शी नहीं बनती।[१२९] बनारसीदासजी मोक्षद्वार में मिथ्यात्वी (बहिरात्मा) की विपरीत धारणा को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि बहिरात्मा सोना, चाँदी आदि, जो पहाड़ों की मिट्टी है, उन्हें अपनी निजी सम्पत्ति मानती है और ज्ञान को 'पर' या विषरूप मानती है तथा अपने आत्मस्वरूप को ग्रहण नहीं करती है। शरीर आदि को आत्मा मानती है। साता वेदनीय जनित लौकिक सुख में आनन्दानुभूति करती है। असाता के उदय को दुःख मानती है। यह मिथ्यात्वी आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत रहती है। इस प्रकार अचेतन की संगति से चिद्रूप बहिरात्मा सत्य से पराङ्मुख

---

१२८ 'जैसे मृग मत्त वृषादित्यकी तपत मांहि,
तृषावन्त मृषा-जल कारन अटतु है।
तैसैं भववासी मायाहीसौ हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है ।।
आगे कौ धुकत धाइ पीछे बछरा चवाइ,
जैसे नैनहीन नर जेवरी बटतु है।
तैसैं मूढ चेतन सुकृत करतूति करै,
रोवत हसत फल खोवत खटतु है ।। २७ ।।' -वही।

१२९ 'रूपकी न झांक हीयै करमकौ डाक पियै,
ग्यान दबि रह्यौ मिरगांक जैसे घन मैं।
लोचन की ढांक सौ न मानै सद्गुरू हांक,
डोले मूढ़ रांकसौ निसांक तिहूं पनमै ।। २९ ।। -समयसार नाटक (बंधद्वार)।

होकर बाह्य संसार में उलझकर रहती है।[१३०] संसार में भूत, भविष्य और वर्तमान काल का चक्र चल रहा है। उसे मिथ्यात्वी कहता है कि मेरा दिन, मेरी रात, मेरी घड़ी और मेरा प्रहर। वह कचरे के ढेर का संग्रह करता है उसे अपना मकान कहता है, पृथ्वीखण्ड को अपना नगर कहता है। इस प्रकार बहिरात्मा अचेतन पदार्थों में डूबकर सत्य से विमुख होकर बाह्य संसार को ही अपना मानती है। अतः वह संसारी बहिरात्मा आध्यात्मिक अनुभूति से पराङ्मुख रहती हुई बाह्य संसार में भ्रमण करनेवाली होती है।[१३१]

## ३.२.११ श्रीमद् राजचन्द्रजी के अनुसार बहिरात्मा

श्रीमद् राजचंद्रजी 'श्री सद्गुरूभक्ति रहस्य' में बहिरात्मा का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि बहिरात्मा देह और इन्द्रियों से उपलब्ध होनेवाले बाह्य साधनों में राग करती हुई कर्म-बन्धन करती

---

१३० 'माटी भूमि सैलकी सो संपदा बखानै निज,
कर्म-मै अमृत जानै ग्यानमैं जहर है ।
अपनौ न रूप गहै औरहीसौं आपौ के,
साता तो समाधि जाकै असाता कहर है ।।
कोपकौ कृपान लिए मान मद पान कियैं,
माया की मरोर हियै लोभ की लहर है ।
याही भांति चेतन अचेतन की संगतसौं,
सांचसौ विमुख भयौ झूठ-मैं बहर है ।। २८ ।।' -वही (मोक्षद्वार) ।

१३१ 'तीन काल अतीत अनागत वरतमान,
जगमैं अखंडित प्रवाह कौ डहर है ।
तासौं कहै यह मेरौ दिन यह मेरी राति,
यह मेरी घरी यह मेरौही पहर है ।।
खेहकौ खजानौ जोरै तासौं कहे मेरौ गेह,
जहाँ बसै तासौ कहे मेरौही सहर है ।
याहि भांति चेतन अचेतन की संगति सौं,
सांचसौं विमुख भयौ झूठ-मैं बहर है ।। २९ ।।' -समयसार नाटक (मोक्षद्वार) ।

है। वह आत्मा देह और इन्द्रियों के वशीभूत होती है।[१३२] ऐन्द्रिक विषयों में राग के द्वारा उसकी बाह्य भावों में परिणति होती है। उसके वचन से वैर या प्रीति की उत्पत्ति होती है एवं संसार की वृद्धि होती है। उसके नयन भी बाह्य पर-पदार्थों में राग-द्वेष उत्पन्न करवाकर अत्यन्त कर्म-बन्धन के निमित्त बनते हैं। इस कारण बहिरात्मा परमात्मदशा का अनुभव नहीं कर पाती है।[१३३] श्रीमद्‌जी लिखते हैं कि "हे प्रभु! जो आत्माएँ अन्तरभेद से रहित हैं, वे बहिरात्मा हैं।" ये आत्माएँ आसक्तिपूर्वक संसार की खटपट में संलग्न रहती है। वे आगे लिखते हैं कि बहिरात्मा अहं और ममत्वभाव में मस्त होकर संकल्प-विकल्प के जाल में उलझी रहती है। यही विपरीत समझ बहिरात्मा के मिथ्यात्व का कारण है। जब तक बहिरात्मा पर-पदार्थों के अहं और ममत्वभाव में निमग्न रहेगी; तब तक उसमें समकित प्रकट नहीं हो सकता एवं वह धर्म से भी वंचित रहेगी। उसके अन्तर में एक पल के लिये भी निर्मलता नहीं आयेगी। वह बाह्य पदार्थों में ही अनुरक्त बनी रहती है।[१३४]

## ३.२.१२ आनन्दघनजी के अनुसार बहिरात्मा का स्वरूप

जैन परम्परा में आनन्दघनजी आध्यात्मिक जगत् के शीर्षस्थ सन्तों में माने जाते हैं। वे बहिरात्मा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए सुमतिजिन स्तवन में लिखते हैं कि -

'आतमबुद्धे कायादिक-ग्रह्यो, बहिरात्म अघरूप सुज्ञानी।'[१३५]

अर्थात् जो शरीरादि पर-पदार्थों पर ममत्वबुद्धि का आरोपण

---

१३२ 'सेवाने प्रतिकूल जे, ते बंधन नथी त्याग ।
देहेन्द्रिय माने नहीं, करे बाह्य पर राग ।। १० ।।' -श्रीसद्‌गुरूभक्ति रहस्य ।

१३३ 'तुज वियोग स्फुरतो नथी, वचन नयनयम नाही ।
नहि उदास अनभक्तथी, तेम गृहादिक माहीं ।। ११ ।। -वही ।

१३४ 'अहंभावथी रहित नहि, स्वधर्म संचय नाहिं ।
नथी निवृत्ति निर्मलणे, अन्य धर्मनी कांई ।। १२ ।।' -श्रीसद्‌गुरूभक्ति रहस्य ।

१३५ आनंदघन कृत चौबीसी, सुमतिजिनस्तवन, गा. ५/३ ।

करके उन्हें अपना मानती है और इस प्रकार अनात्म में आत्मबुद्धि रखती है; वही बहिरात्मा है। बहिरात्मा सांयोगिक बाह्य पदार्थों में आसक्त बनकर उनसे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती है। इसीलिये एक अन्य पद में वे लिखते हैं कि –

'बहिरात्मा मूढ़ जग जोता, माया के फंद रहेता'[१३६]

अर्थात् यह मूढ़ बहिरात्मा माया के वशीभूत होकर संसार की बाह्य वस्तुओं में ममत्व बुद्धि रखती है। उसका समस्त पुरुषार्थ मात्र बाह्य जगत् के लिये ही होता है। इसी के कारण उसमें राग-द्वेष की लताएँ विकसित हो जाती हैं। उसकी चेतना मोह से आवृत्त होने के कारण वह अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं पहचान पाती है। आगे आनन्दघनजी बहिरात्मा की मूर्च्छित अवस्था का मार्मिक चित्रण करते हुए कहते हैं :

'धन धरती में गाढे बौरा, धूरि आप मुख लावै।
मूषक सांप होईगो, आखर तातै अलछि कहावै।।'[१३७]

अर्थात् यह मूढ़ (बहिरात्मा) धन को जमीन में गाढ़ता है और उसके ऊपर धूल डालता है। किन्तु वह व्यक्ति धन पर नहीं, अपितु स्वयं के ऊपर ही धूल डाल रहा है। वह धन की लोलुपता के कारण मरकर चूहा या सर्प बनकर उसी धन का रक्षण करता है। आगे वे बहिरात्मा की अज्ञानदशा का चित्रण करते हुए कहते हैं कि जैसे सिंह अचानक बकरी को पकड़ लेता है; वैसे ही काल भी अचानक ही आक्रमण करता है। मूढ़ स्वप्नावस्था में उपलब्ध राज्य और आकाश में बादलों की तरह अस्थिर धन, यौवन आदि को स्थाई मान लेता है और अपनी इसी अज्ञानदशा के वशीभूत हो संसार में परिभ्रमण करता रहता है। आनन्दघनजी यहाँ पर बहिरात्मा की मूर्खता का चित्रण करते हुए आगे पुनः लिखते हैं :

'खखगपद मीन पद जल में, जो खोजे सो बोरा'[१३८]

अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी और जल में मछलियों के पद चिन्ह को खोजना मूर्खता है; वैसे ही क्षणिक पर-पदार्थों या

---

[१३६] आनंदघन ग्रन्थावली पद ९७ ।

[१३७] वही पद ४ ।

[१३८] आनंदघन ग्रन्थावली पद ३१ ।

पौद्गलिक वस्तुओं में सुख को ढूंढना मूर्खता है। जो क्षणिक है या नश्वर है, वह केवल सुखाभास है। फिर भी बहिरात्मा उसी में तन्मय बनी रहती है। अपने एक पद में आनन्दघनजी ने बहिरात्मा की विभावदशा का चित्रांकन किया है। वे लिखते हैं :

'देखो आली नर नागर में सांग।
और ही और रंग खेलत ताते फीकी लागत मांग।।
उरहानौ कहा दीजै, बहुत करि, जीवन है इहि ढांग।
मोह और विवेक बिच अन्तर एतौ जेतो रूपै रांग।।
तन सुधि खोई घूमत मन ऐसे, मानु कुछ खाई भांग।
ऐते पर आनंदघन नावत कहा और दीजै बांग।।'[१३६]

अर्थात् हे सखी! तू इस चंचल बहिरात्मा के स्वरूप को तो देख। वह अन्य ही अन्य के साथ रंगरेली करती है अर्थात् पर-पदार्थों में आसक्त बनी हुई है। इसी के कारण तेरी सौभाग्यरुपी मांग फीकी लग रही है। इसको उलाहना भी कब तक दिया जाये। इसकी तो जीवन शैली ही ऐसी बन चुकी है। यह विवेकबुद्धि को खोकर शरीर और इन्द्रियों के विषयों के प्रति ऐसे भाग रही है, जैसे उसने भांग खा ली हो। यह लौटकर अपने घर अर्थात् स्व-स्वरूप में आती ही नहीं है। इस मोहग्रस्त को कैसे समझाया जाये कि मोह और विवेक के बीच तो इतना अन्तर है, जितना चाँदी और कथीर में। बहिरात्मा की दृष्टि ऐसी ही होती है।

## ३.२.१३ देवचन्द्रजी के अनुसार बहिरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

उपाध्याय देवचन्द्रजी बहिरात्मा के स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं कि जो आत्मा देह पर आसक्ति रखती है, जो शरीर को आत्मा जानती है, मानती है एवं संसार के राग-रंग से विरक्त नहीं होती है, अपितु बाह्य पर-पदार्थों में आसक्त होती है, आत्मदर्शन के लिये प्रयत्नशील नहीं होती है - वह बहिरात्मा है। देवचन्द्रजी के अनुसार बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) मूर्ख है, जो जड़

---

[१३६] आनंदघन ग्रन्थावली पद २१।

चेतन को एक मानती है। जीव देह को प्रत्यक्ष देखकर उसे ही आत्मा समझता है।[१४०] बहिरात्मा देह की सजावट में लगी रहती है। सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिये प्रयासरत होती है। बहिरात्मा आत्मा को अमूर्त अरूपी नहीं मानती। वह धन-धरती, सत्ता-सम्पत्ति, पुत्र, पत्नी, परिवार आदि को अपना समझती है और उसकी अभिवृद्धि में लगी रहती है। देवचन्द्रजी कहते हैं कि बहिरात्मा की रुचि जब तक बाह्य संसार की ओर होगी, तब तक उसे आत्मा की प्रतीति नहीं हो सकती है। वह स्वयं आत्मा होते हुए भी आत्मा के अस्तित्व के प्रति शंका रखती है। जिस आत्मा को अपने आप पर शंका होती है; वह आत्मा कैसे आत्म साधना के मार्ग पर आरूढ़ हो सकती है? वे स्पष्ट रूप से बहिरात्मा के लक्षणों की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं कि बहिरात्मा अज्ञानता के वशीभूत होकर कर्मों से मोहित होती है। बहिरात्मा के अन्तर में जब तक ज्ञान ज्योति प्रज्ज्वलित नहीं होती तब तक वह अन्तरात्मा की ओर गतिशील नहीं हो सकती।[१४१]

## ३.३ बहिरात्मा के प्रकार एवं अवस्थाएँ

सामान्यतया तो मिथ्यादृष्टि आत्मा को बहिरात्मा कहा गया है, किन्तु व्यक्ति के मिथ्यात्वगुण में भी तरतमता होती है। उसकी अपेक्षा से जैनाचार्यों ने बहिरात्मा में भी तरतमता मानी है और उसी तरतमता के आधार पर उसके भेद किये हैं। द्रव्यसंग्रह की टीका में बहिरात्मा के तीन भेद किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं :

१. तीव्र बहिरात्मा; २. मध्यम बहिरात्मा; और ३. मन्द बहिरात्मा।

१. तीव्र बहिरात्मा : सैद्धान्तिक दृष्टि से मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती आत्मा को तीव्र बहिरात्मा कहा जाता है। वस्तुतः जो आत्मा गहन अज्ञानरुपी अन्धकार में डूबी हुई है; जिसके विवेक का प्रस्फुटन भी अभी नहीं हुआ है; जो देहभाव में निमग्न है -

---

१४० ध्यानदीपिका चतुष्पदी (४/८/१/२)।

१४१ (क) विचार रत्नसार (पृ. १७८);
(ख) उद्धृत 'उपाध्याय देवचंद्र : जीवन, साहित्य और विचार'
-महोपाध्याय ललितप्रभसागरजी म.सा.।

उसे तीव्र बहिरात्मा कहा जाता है।[१४२]

२. **मध्यम बहिरात्मा :** सैद्धान्तिक दृष्टि से सास्वादन गुणस्थानवर्ती आत्मा को मध्यम बहिरात्मा कहा गया है। वस्तुतः जिस आत्मा ने सम्यक्त्व का आस्वादन कर लिया है अर्थात् जिसका अपने स्व-स्वरूप से परिचय हुआ है, किन्तु वासनाओं और कषायों के तीव्र आवेगों के कारण उससे विमुख हो गई है; जिसमें वासनाओं पर विवेक का अंकुश लगाने की शक्ति नहीं है और जो पुनः आत्म विस्मृति की दिशा में गतिशील हो गई है - वह मध्यम बहिरात्मा है।

३. **मन्द बहिरात्मा :** सैद्धान्तिक रूप से मिश्र गुणस्थानवर्ती आत्मा को मन्द बहिरात्मा कहा गया है। जिसने एक बार सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया है, किन्तु अपनी अस्थिर प्रवृत्ति के कारण उसमें दृढ़तापूर्वक अपने कदम को नहीं जमा पाई है। सत्यासत्य के निर्णय में जो संशयशील बनी हुई है, जिसे कभी आध्यात्मिक अनुभूति का आनन्द अपनी ओर आकर्षित करता है तो कभी भौतिक आकांक्षाएँ अपनी ओर आकर्षित करती हैं। ऐसी दुविधा की स्थिति वाले व्यक्ति को मन्द बहिरात्मा कहा गया है; क्योंकि न तो उसकी सम्यक्त्व में दृढ़ता होती है और न मिथ्यात्व के संस्कार ही दृढ़ीभूत होते हैं। यही कारण है कि उसे मन्द बहिरात्मा कहा गया है।

## ३.४ क्या अविरतसम्यग्दृष्टि बहिरात्मा है?

जैनदर्शन में अविरतसम्यग्दृष्टि उसे कहा जाता है जो सत्य को सत्य समझते हुए भी उसे जीने में अपनी असमर्थता का अनुभव करता है। वह यह जानता है कि क्या हेय है और क्या उपादेय है? वह पाप को पाप के रूप में और पुण्य को पुण्य के रूप में समझता है। उसे धर्म और अधर्म का सम्यक् विवेक होता है। फिर भी वह धर्म को अपने जीवन में जी नहीं पाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह धर्म को अपने जीवन में जीने का प्रयास नहीं करता

---

[१४२] द्रव्यसंग्रह टीका गा. १४ ।

है। पाप को पाप समझकर भी उसे छोड़ नहीं पाता। उसकी जीवनदृष्टि सम्यक् होती है, लेकिन उसका आचार पक्ष शिथिल होता है। वह पाप प्रवृत्ति का त्यागी नहीं होता।

इसी आधार पर यह कहा जाता है कि अविरतसम्यग्दृष्टि की आत्मा बहिरात्मा ही है; क्योंकि उसका जीवन भोगपरक होता है। जो विचारक यह मानते हैं कि सत्य केवल जानने का विषय नहीं है, जीने का विषय है, उनकी दृष्टि में अविरत बहिरात्मा ही है। दूसरे शब्दों में कहें तो आचरण की अपेक्षा से अविरतसम्यग्दृष्टि बहिरात्मा ही हैं। किन्तु देवचन्द्रजी की यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि में सत्य की सम्यक् समझ होती है। इसलिये विषय वासनाओं में जीते हुए भी उसके वासना के संस्कार दृढ़ीभूत नहीं होते। इसलिये अविरतसम्यग्दृष्टि की आत्मा को एकान्तरूप से बहिरात्मा नहीं कहा जा सकता। आचारपक्ष की अपेक्षा से वह बहिरात्मा है किन्तु विचारपक्ष की अपेक्षा से वह अन्तरात्मा ही है। सामान्यतया सभी जैनाचार्यों ने अविरतसम्यग्दृष्टि को अन्तरात्मा ही माना है। हमारी दृष्टि में स्वरूपबोध की अपेक्षा से अविरतसम्यग्दृष्टि की आत्मा अन्तरात्मा के वर्ग में आती है, किन्तु लक्षण या बाह्य व्यवहार की अपेक्षा से उसे मन्द बहिरात्मा भी कहा जा सकता है।

## ३.५ बहिरात्मा और लेश्या

व्यक्ति के मनोभावों और उनके आधार पर कर्मवर्गणाओं से बने हुए आभामण्डलों को लेश्या कहा जाता है। सामान्यतः जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है, उसे लेश्या कहा जाता है। ऐसा आत्मा के शुभ एवं अशुभ मनोभावों के कारण होता है, किन्तु दूसरी ओर लेश्याओं के कारण मनोभावों का जन्म भी होता है। इस प्रकार लेश्या द्रव्यरूप से मनोभावों का कारण है और मनोभाव भावरूप से लेश्याओं के कारण हैं। इसी आधार पर मनोभावों को भावलेश्या और कर्मवर्गणा से निर्मित व्यक्ति के आभामण्डल को द्रव्यलेश्या कहा जा सकता है। द्रव्यलेश्या और भावलेश्या का सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा मुर्गी और अण्डे का होता है। इनमें

कौन पूर्ववर्ती और कौन पश्चातवर्ती है यह कहना कठिन है। मनोभाव शुभ और अशुभ दो प्रकार के हैं। इन मनोभावों की तरतमता के आधार पर जैनदर्शन में निम्न ६ लेश्याएँ मानी गयी हैं :

१. कृष्ण लेश्या; २. नील लेश्या; ३. कापोत लेश्या;
४. तेजो लेश्या; ५. पद्म लेश्या; और ६. शुक्ल लेश्या।

इनमें प्रथम तीन लेश्याएँ अशुभ और अन्तिम तीन लेश्याएँ शुभ कही गई हैं। प्रस्तुत प्रसंग में मुख्य विचारणीय प्रश्न यह है कि बहिरात्मा की किस प्रकार की लेश्याएँ होती हैं। सामान्य नियम तो यही है कि बहिरात्मा में तीनों अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं, यद्यपि भावलेश्या की अपेक्षा से सभी शुभ लेश्याएँ सम्भव हो सकती हैं। विशेष रूप से उस समय जबकि मिथ्यादृष्टि आत्मा सम्यक् की ओर अभिमुख होती है। किन्तु बहिरात्मा सदैव मिथ्या-दृष्टि ही होती है। अतः उसकी लेश्या सदैव अशुभ ही होगी, क्योंकि जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय की उपस्थिति है, तब तक लेश्या अशुभ ही बनी रहती है। चाहे भावों के परिवर्तन के आधार पर उसमें क्षणिक रूप से शुभभावों का परिणमन हो और उसके परिणामस्वरूप शुभ भावलेश्याएँ हों, किन्तु जब तक व्यक्ति बहिरात्मा है, तब तक उसमें शुभ लेश्याएँ स्थायी रूप से प्रकट नहीं होती हैं। उसकी बहिर्मुखी जीवनदृष्टि शुभभावों का स्थाई रूप से परिणमन नहीं होने देती। अतः निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि बहिरात्मा में द्रव्यलेश्या अथवा स्थाई भावों की अपेक्षा से तो सदैव अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं। क्योंकि जब तक व्यक्ति बहिरात्मा होता है तब तक वह नियम से मिथ्यादृष्टि ही होता है और जो मिथ्यादृष्टि होता है, नियम से उसमें अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहता है और जहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहता है वहाँ नियम से द्रव्यलेश्या तो अशुभ ही होती है।

## ३.६ बहिरात्मा और कषाय

जैनदर्शन में आत्मा को बन्धन में डालनेवाले तत्त्वों में कषाय ही प्रमुख हैं। कषाय निम्न चार माने गये हैं :

१. क्रोध; २. मान; ३. माया; और ४. लोभ।

इनमें तरतमता की दृष्टि से प्रत्येक के चार भेद होते हैं :

१. अनन्तानुबन्धी; २. अप्रत्याख्यानी;
३. प्रत्याख्यानी और ४. संज्वलन।

इस प्रकार कर्मबन्धन और आत्मा के आध्यात्मिक विकास के अवरोधक तत्त्वों की अपेक्षा से कषायों की संख्या सोलह होती है।

जैनदर्शन में यह माना गया है कि जब तक अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय है तब तक आत्मा मिथ्यादृष्टि और बहिर्मुखी होती है। दूसरे शब्दों में जिस आत्मा में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय है वह बहिरात्मा ही है, क्योंकि उसमें इन चारों कषायों की अभिव्यक्ति तीव्रतम ही होती है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षयोपशम होने पर व्यक्ति सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है और वह बहिरात्मा से अन्तरात्मा बन जाता है। अन्तरात्मा के जो तीन भेद किये गये हैं, वे भी कषायों के उदय की अपेक्षा से है। जिन आत्माओं में अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय एवं अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय है वह जघन्य अन्तरात्मा है। जिनमें प्रत्याख्यानी कषायों का क्षय एवं संज्ज्वलन कषायों उदय बना हुआ है; वे मध्यम अन्तरात्मा कही जाती हैं और जो आत्माएँ संज्वलन कषाय को भी उपशमित या क्षय करके ११वें और १२वें गुण स्थान को प्राप्त कर लेती हैं, वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा बन जाती हैं। उपरोक्त १६ कषायों का अभाव होने पर आत्मा परमात्मा बन जाती है। इस प्रकार त्रिविध आत्मा की इस चर्चा के प्रसंग में कषायों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कषायों पर विजय प्राप्त करते ही बहिरात्मा अन्तरात्मा बनकर अन्त में परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करती है।

।। तृतीय अध्याय समाप्त ।।

# अन्तरात्मा

उत्कृष्ट अन्तरात्मा

## अध्याय ४

# अन्तरात्मा का स्वरूप, लक्षण और प्रकार

## ४.१ अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

जैन दार्शनिकों के अनुसार अन्तरात्मा मिथ्यात्व का परित्याग कर जब सम्यक्त्व की अनुभूति करती है तब वह शरीरादि बाह्य पदार्थों में आसक्त न होकर अथवा संसार में रहते हुए भी अलिप्त भाव से जलकमलवत् निर्लेप होकर रहती है। जैसे कहा है :

'सम्यग्दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर थी न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल।।

अन्तरात्मा 'स्व' और 'पर' की भिन्नता के द्वारा आत्माभिमुखी होकर स्वस्वरूप में ही निमग्न रहती है। रयणसार[1], समाधितन्त्र[2], परमात्मप्रकाश[3], आदि ग्रन्थों में अन्तरात्मा के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षपाहुड में आत्मसंकल्प रूप आत्मा को अन्तरात्मा कहा है।[4]

### ४.२.१ कुन्दकुन्ददेव की दृष्टि में अन्तरात्मा का स्वरूप

(क) मोक्षप्राभृत में अन्तरात्मा का स्वरूप

अन्तरात्मा के स्वरूप लक्षणों को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव मोक्षप्राभृत में लिखते हैं कि बहिरात्मा का त्याग करके अन्तरात्मा पर आरूढ़ होकर अर्थात् भेदविज्ञान के द्वारा अन्तरात्मा

---

[1] रयणसार १४१।

[2] 'चित्त दोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः। -समाधितंत्र पद्य ५।

[3] परमात्मप्रकाश दोहा १४।

[4] मोक्खपाहुड ५, ६।

का आलम्बन लेकर परमात्मा का ध्यान किया जाता है।[५] इस प्रकार यहाँ आचार्य कुन्दकुन्ददेव बहिर्मुखता से विमुख आत्मा को ही अन्तरात्मा कहते हैं। उनकी दृष्टि में अन्तरात्मा वही है जिसने भेदविज्ञान के द्वारा स्व-पर और आत्मा-अनात्मा का विवेक उपलब्ध कर लिया है।[६] मोक्षप्राभृत में वे लिखते हैं कि आत्मा भिन्न है और उसके साथ लगे हुए कर्म भिन्न हैं। मात्र यही नहीं, कर्मों के प्रति आसक्ति से जो विकार उत्पन्न होते हैं वे भी पर हैं। इस प्रकार जो आत्मा 'स्व' और 'पर' के भेद को सम्यक् प्रकार से जानती है वही अन्तरात्मा है।[७] उनके अनुसार जो निर्द्वन्द्व, निरालम्ब और निर्ममत्व से युक्त है तथा देह के प्रति भी निरपेक्ष है और जो सदैव आत्मस्वरूप में रमण करता है वह निश्चय ही सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यग्दृष्टि होने के परिणामस्वरूप वह अष्ट दुष्कर्मों का क्षय कर देता है। इस प्रकार यहाँ अन्तरात्मा के तीन लक्षणों को स्पष्ट किया गया है। प्रथम वह सम्यग्दृष्टि होती है; दूसरे वह सदैव ही अष्टकर्मों के क्षय के हेतु पुरुषार्थ करती रहती है और अन्तिम रूप से वह अपने आत्मस्वरूप में रमण करती है।[८] वह यह मानती है कि परद्रव्यों में आसक्त रहना दुर्गति का कारण है और स्वद्रव्य अर्थात् आत्मतत्व में निमग्न रहना यह सद्गति का कारण है। फलतः वह परद्रव्यों के प्रति विरक्त रहती है और आत्मद्रव्य में ही रमण करती है[९] क्योंकि वह सचित्त अर्थात्

---

५ (क) 'तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो दु देहिणं ।
तत्थ परो झाइज्ज्इ अंतोबाएण चइवि बहिरप्पा ।। ४ ।।' -मोक्षपाहुड ।

(ख) 'अक्खाणि बहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्म कलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ।। ५ ।।' -वही ।

(ग) 'आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ।। ७ ।।' -वही ।

६ 'णियदेहसरिच्छं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण ।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभावेण ।। ६ ।। ' -मोक्षप्राभृतम् ।

७ 'सद्दवरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ।। १४ ।।' -वही ।

८ 'दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं ।। १८ ।।' -वही ।

९ 'परदव्वादो दुगई सद्दव्वादो हु सुग्गई होइ ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ।। १६ ।।' -वही ।

पुत्र, पत्नी आदि अचित्त अर्थात् वस्त्र, आभरण आदि और मिश्र अर्थात् वस्त्राभूषण से युक्त स्त्री आदि को परद्रव्य मानती है अर्थात् उन्हें अपना नहीं मानती है। क्योंकि ये सभी आत्मा से भिन्न हैं।[१०]

इस प्रकार वह अन्तरात्मा बहिर्मुखता का परित्याग कर अपने निजस्वरूप (अर्थात् शुद्धात्मा) में ही निमग्न रहती है और अपनी इस साधना के फलस्वरूप अन्त में परमात्मपद को प्राप्त कर लेती है।[११]

## (ख) नियमसार में आत्मा का स्वरूप

अन्तरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि जो श्रमण सामायिकादि आवश्यक क्रियाओं को करता है, वह निश्चयचारित्र का परिपालन करता है और ऐसा श्रमण मुनिचर्या में अभ्युपस्थित होता है। वचनमय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, नियम, आलोचन सभी स्वाध्याय के रूप हैं। इनके माध्यम से आत्मा अपने स्वरूप का अध्ययन करती है। अतः जब तक शरीर में शक्ति है तब तक साधक ध्यान, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करे और यदि शक्ति न रहे तब भी उन पर श्रद्धान तो अवश्य ही करे। क्योंकि भगवान् ने कहा है कि मौनभाव से भी प्रतिक्रमण आदि के द्वारा आत्मस्वरूप का परीक्षण करता हुआ योगी निज कार्य को साध लेता है अर्थात् परमपद को प्राप्त कर लेता है। इसलिए साधक को स्वसमय अर्थात् स्वधर्मियों और परसमय अर्थात् अन्यधर्मियों के साथ विवाद में नहीं पड़ना चाहिये। वस्तुतः यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द का निर्देश यही है कि तर्क-वितर्क आदि के माध्यम से विचार विकल्प ही बनते हैं और उसके परिणामस्वरूप न तो परमात्मस्वरूप का बोध होता है और न उसमें अवस्थिति। अन्त में आचार्य कुन्दकुन्द का निर्देश यही है कि साधक आवश्यकादि क्रियाओं को अवश्य करे; क्योंकि भगवान् ने कहा है

---

१० 'आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि ।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहिं ।। १७ ।।' -वही ।

११ 'जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं ।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ।। २० ।।' -वही ।

कि मौनभाव से प्रतिक्रमण आदि के द्वारा आत्मस्वरूप का परीक्षण करता हुआ योगी निज कार्य को साध लेता है अर्थात् परमपद की प्राप्ति कर लेता है।[१२] आचार्य कुन्दकुन्द ने साधक को आत्म उन्मुख रहने का सन्देश देते हुए कहा है कि संसार में अनेक प्रकार के जीव हैं; उनके अनेक प्रकार के कर्म हैं और उन कर्मों के जन्य अनेक प्रकार की उपलब्धियाँ हैं। इसलिए साधक को स्वसमय अर्थात् स्वधर्मियों और परसमय अर्थात् अन्यधर्मियों के साथ विवाद में नही पड़ना चाहिये। अन्त में आचार्य कुन्दकुन्द का निर्देश यही है कि साधक आवश्यकादि क्रियाओं को अवश्य करे; क्योंकि सभी पुराण पुरुष इन आवश्यकादि क्रियाओं को करते हुए ही अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त करके कैवल्य को प्राप्त हुए हैं।

अन्तरात्मा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द पुनः कहते हैं कि जो अन्तर और बाह्य रूप से जल्प अर्थात् विषय विकल्पों से युक्त है, वह बहिरात्मा है। इसके विपरीत जो विषय विकल्पों से रहित है, उसे अन्तरात्मा कहा गया है।[१३] इस गाथा की टीका में मलधारी पद्मप्रभुदेव लिखते हैं कि निज आत्मध्यान में लीन अन्तर्मुखी होकर जो साधक प्रशस्त-अप्रशस्त विकल्पजालों में नहीं वर्तता है, वह परम तपोधन श्रमण साक्षात् अन्तरात्मा है। प्रस्तुत प्रसंग में टीकाकार पद्मप्रभुदेव ने आचार्य अमृतचन्द्र की समयसार की आत्मख्याति टीका के उस कलश को भी उद्धरित किया है जिसमें कहा गया है कि जो विकल्पों से ऊपर उठकर समतारसरूपी स्वभाव में रमण करता है वही अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए पद्मप्रभुदेव पुनः लिखते

---

१२ (क) 'पडिकमणापहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं ।
तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि ।। १५२ ।।' -नियमसार ।
(ख) 'वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च ।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं ।। १५३ ।।' -वही ।
(ग) 'जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ।। १५४ ।।' -वही ।
(घ) 'जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं ।
मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहए णिच्चं ।। १५५ ।।' -वही ।

१३ 'अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टई सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टई सो उच्चइ अन्तरंगप्पा ।। १५० ।।' -नियमसार ।

हैं कि जो संसार परिभ्रमण के कारणभूत बाह्य एवं आभ्यन्तर सभी जल्पों अर्थात् विकल्पों को छोड़कर समतारसमय चैतन्यस्वरूप ज्ञानज्योति का अनुभव करता है; ऐसा अन्तरात्मा मोह के क्षीण होने पर अपने परमात्मस्वरूप को अपने अन्तर में देखता है। अग्रिम गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने धर्म और शुक्लध्यान के आधार पर अन्तरात्मा और बहिरात्मा का वर्गीकरण किया है। वे लिखते हैं कि जो श्रमण धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत होता है अर्थात् अपनी चित्तवृत्तियों को धर्मध्यान और शुक्लध्यान में निवेशित करता है वह अन्तरात्मा है। इसके विपरीत जो श्रमण इस प्रकार के धर्मध्यान और शुक्लध्यान से रहित है; वह बहिरात्मा है। यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने स्पष्ट रूप से यह बताया है कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान में ही निरत रहना अन्तरात्मा का लक्षण है। इसकी टीका में पद्मप्रभ मलधारीदेव लिखते हैं कि वस्तुतः क्षीणकषाय आत्मा ही अन्तरात्मा है। सोलह कषायों का अभाव होने पर वह दर्शनमोहरूपी शत्रुओं को विजित कर चुकी है। वह सहज चिद्विलास लक्षण से युक्त सदैव ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान में निरत रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने नियमसार गाथा क्रमाँक १४९, १५० एवं १५१ में अन्तरात्मा के तीन लक्षण प्रतिपादित किये हैं।[१४] अन्तरात्मा आवश्यक कर्तव्यों का सम्यक्रूप से परिपालन करती है। वह विषयासक्ति से परे होती है। उसके चित्त में विषय विकल्प नहीं जगते हैं और वह सदैव ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान में निरत रहती है अर्थात् उसमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान का अभाव होता है।

## ४.२.२ स्वामी कार्तिकेय के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

स्वामी कार्तिकेय अन्तरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जहाँ जन्म है वहाँ मृत्यु है; जहाँ सम्पत्ति है वहाँ विपत्ति है और जहाँ यौवन है वहाँ जरा भी है। इस प्रकार के इष्ट

---

[१४] नियमसार गाथा १४९-१५०।

संयोगों की प्राप्ति को जो क्षणभंगुर समझती है वह अन्तरात्मा है।[१५] यहाँ पर स्वामी कार्तिकेय कहते हैं कि अन्तरात्मा की दृष्टि से परिवार, बन्धुवर्ग, पुत्र, पुत्री, मित्र, शरीर की सुन्दरता, गृह, गोधन इत्यादि समस्त वस्तुएँ नवीन मेघ के समान अस्थिर हैं। धन और यौवन भी जलकण के बुन्द-बुन्द के समान क्षणभंगुर है।[१६] वे आगे अन्तरात्मा को उपदेश देते हुए कहते हैं कि समस्त विषयों को विनाशशील जानकर मोह का त्याग करो और मन को विषय भोगों से हटाकर उत्तम आत्मसुख अर्थात् ज्ञानानन्दमय शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करो।[१७] पुनः वे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही अपना स्वरूप है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से वही शरणरूप है। अन्य सब अशरण हैं। आगे वे देह की अशुचिता का विवरण देते हुए कहते हैं कि इस देह पर लगाये हुए अत्यन्त पवित्र, सरस एवं सुगन्धित पदार्थ भी कुछ काल बाद दुर्गन्धित हो जाते हैं।[१८] अपने शरीर में अनुराग नहीं करना चाहिये। वे कहते हैं कि अन्तरात्मा इन्द्रिय एवं कषायों का निग्रह करके वीतराग भाव में लीन होकर बार बार आत्मा का स्मरण करती है और इस प्रकार उत्कृष्ट निर्जरा करती है।[१९] वस्तुतः जो आत्मा जिन वचन में प्रवीण है तथा आत्मा और शरीर के भेद को जानती है और जिसने आठ भेदों को जीत लिया है, वही अन्तरात्मा है।[२०]

---

१५ 'अथिरं परियण-सयणं, पुत्त-कलत्तं सुमित्त-लावण्णं ।
गिह-गोहणाइ सव्वं, णव-घण-विंदेण सारिच्छं ।।६।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा (अ. अध्रुवानुप्रेक्षा) ।

१६ 'जल बुब्बुय-सारिच्छं, धणजोव्वण जीवियं पि पेच्छंता ।
मण्णंति तो वि णिच्चं, अइ-बलिओ मोह आहप्पो ।। २१ ।।' -वही ।

१७ 'चइऊण महामोहं, विसऐ मुणिऊण भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं, जेण सुहं उत्तमं लहइ ।। २२ ।।' -वही ।

१८ 'अइलालिओ वि-देहो, ण्हाण सुयंधेहि विविह-भक्खेहिं ।
खणमित्तेण वि विहडइ, जल भरिओ याम-घडओ व्व ।। ६ ।।' -वही ।

१९ 'जा सासया ण लच्छी, चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं ।
सा किं बधेर रइं, इयर जणाणं अपुण्णाणं ।। १० ।।' -वही ।

२० (क) 'जो पुण विसयविरत्तो, अप्पाणं सव्वदा वि संवरइ ।
मणहरविसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि ।।१०१।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा (निर्जरानुप्रेक्षा) ।
(ख) 'बारसविहेण तवसा, णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि ।
वेरग्गभावणादो, णिरहंकारस्स णाणिस्स ।। १०२ ।।' -वही ।

स्वामी कार्तिकेय ने अन्तरात्मा के तीन भेद किये हैं :[२१]

(१) जघन्य अन्तरात्मा;[२२]
(२) मध्यम अन्तरात्मा;[२३] और
(३) उत्कृष्ट अन्तरात्मा।[२४]

जो जिनेन्द्र परमात्मा और उनकी आज्ञानुसार आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ गुरू की भक्ति में तत्पर रहती है और त्यागवृत्ति स्वीकार करने में असमर्थता का अनुभव करते हुए आत्मालोचन करती है, वह जघन्य अन्तरात्मा है। स्वामी कार्तिकेय मध्यम अन्तरात्मा की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि जो आत्मा जिनेश्वर परमात्मा के वचनों में अनुरक्त हो, जिसका मन्दकषायरूप (उपशमभाव) स्वभाव हो, जो महापराक्रमी हो, जो परीषहादि के सहन करने में सुदृढ़ हो, उपसर्ग आने पर प्रतिज्ञा से चलायमान न हो, ऐसा व्रती श्रावक तथा प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनि मध्यम अन्तरात्मा है। आगे वे कहते हैं कि जो आत्मा पंचमहाव्रतों से युक्त हो, जो प्रतिदिन धर्मध्यान और शुक्लध्यान में स्थित रहती हो, जिसने निद्रा आदि सर्व प्रमादों को जीत लिया हो, वही उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाती है। संक्षेप में उन्होंने चौथे गुणस्थानवर्ती आत्मा को जघन्य अन्तरात्मा, पाँचवें एवं छट्टे गुणस्थानवर्ती आत्मा को मध्यम अन्तरात्मा और सातवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा को उत्कृष्ट अन्तरात्मा माना है। स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि जो साधु अपने दुष्कृत की निन्दा करता है, गुणवान पुरुषों का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष बड़ा आदर करता है एवं अपने मन और इन्द्रियों को जीतनेवाला होता है, उसे अन्तरात्मा कहा जाता है। अन्तरात्मा की साधना को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि निदान और अहंकार रहित बारह प्रकार के तप एवं वैराग्य भावना से अन्तरात्मा अपने

---

२१ 'जे जिणवयणे कुसलो, भेयं जाणंति जीवदेहाणं ।
णिज्जियदुट्ठट्ठमया, अन्तरअप्पा य ते तिविहा ।। १९४ ।।' –वही (लोकानुप्रेक्षा) ।

२२ 'अविरयसम्मद्दिट्ठी, होंति जहण्णा जिणंदपयभत्ता ।
अप्पाणं णिंदंता, गुणगहणे सुट्ठु अणुरत्ता ।। १९७ ।।' –वही ।

२३ 'सावयगुणेहिं जुत्ता, पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति ।
जिणवयणे अणुरत्ता, उवसमसीला महासत्ता ।। १९६ ।।' –वही ।

२४ 'पंचमहव्वयजुत्ता, धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं ।
णिज्जियसयलपमाया, उक्किट्ठा अन्तरा होंति ।। १९५ ।।' –वही ।

कर्मों की निर्जरा करती है।[२५] वह शरीर को भी मोह का कारण और अपवित्र मानती है। सदैव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना[२६] और अपने निर्मल व शुद्ध स्वरूप का ध्यान करते हुए कर्मों की निर्जरा करती है।[२७] स्वामी कार्तिकेय आगे अन्तरात्मा के द्वारा की जाने वाली निर्जरा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो मुनि निर्जरा के कारण तप, संयम आदि में प्रवृत्ति करता हो उसी के मिथ्यात्वादि पापों की निर्जरा होती है[२८] और पुण्यकर्म का अनुभाग बढ़ता है।[२९] वह अन्त में निज शुद्धात्मा अथवा उत्कृष्ट सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति करती है; क्योंकि जो अन्तरात्मा इन्द्रियों और कषायों का निग्रह करके आत्मध्यान में लीन होती है, वही उत्कृष्ट निर्जरा के द्वारा परम वीतरागदशा अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करती है।[३०]

---

२५ 'वारसविहेण तवसा, णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि ।
वेयग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ।। १०२ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा (लोकानुप्रेक्षा) ।

२६ 'रयणत्तयसंजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं ।
संसारं तरइ जदो रयणत्तय-दिव्वणावाए ।। १९१ ।।' -वही ।

२७ (क) 'सव्वेसि कम्माणं, सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ ।
तदणंतरं तु सडणं, कम्माणं णिज्जरा जाण ।। १०३ ।।' -वही ।
(ख) 'सा पुण दुविहा णेया, सकालपत्ता तवेण कयमाणा ।
चादुगदीणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे बिदिया ।।१०४।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा (निर्जरानुप्रेक्षा) ।

२८ (क) 'उवसमभावतवाणं, जह जह वड्ढी, हवेइ साहूणं ।
तह तह णिज्जर वड्ढी, विसेसदो धम्मसुक्कादो ।। १०५ ।।' -वही ।
(ख) 'जो चिंतेइ सरीरं, ममत्तजणयं विणस्सरं असुइ ।
दंसणणाणचरित्तं, सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं ।। १११ ।।' -वही ।
(ग) 'अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेदि बहुमाणं ।
मणइंदियाण विजई, स सरूवपरायणो होउ ।। ११२ ।।' -वही ।

२९ 'तस्स य सहलो जम्मो, तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि ।
तस्स वि पुण्णं वड्ढदि, तस्स वि सोक्खं परं होदि ।। ११३ ।।' -वही ।

३० 'जो समसोक्खणिलीणो, वारंवारं सरेइ अप्पाणं ।
इंदियकसायविजई, तस्स हवे णिज्जरा परमा ।। ११४।।' -वही ।

## ४.२.३ आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप

आचार्य पूज्यपाद अन्तरात्मा का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ दिखाई देते हैं, वे सब रूपी पदार्थ जड़ हैं, अचेतन हैं, कुछ जानते नहीं और जो जाननेवाली चेतन आत्मा है, वह अरूपी होने से मुझे दिखाई नहीं देती। तब अन्तरात्मा यह चिन्तन करती है कि मैं किसके साथ बातचीत करूं? इस प्रकार अन्तरात्मा अन्तरोन्मुख वृत्ति द्वारा निश्चल होकर स्वसम्वेदन करने का प्रयास करती है।[३१]

वे आगे लिखते हैं कि जिस कर्मोदय के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न हुए क्रोधादि अग्राह्यभाव हैं, उन्हें अन्तरात्मा ग्रहण नहीं करती, क्योंकि ज्ञानादि जो गुण आत्मा ने अनादिकाल से ग्रहण किये हैं, उन्हें वह कभी छोड़ नहीं सकती। आचार्य पूज्यपाद अन्तरात्मा को व्याख्यायित करते हुए आगे लिखते हैं कि आत्मा आनन्दस्वरूप है, शुद्ध चेतन्य स्वभाववाली है। अन्तरात्मा उसी शुद्ध चेतन्य आत्मा की अनुभूति करती है। वे अन्तरात्मा के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए आगे कहते हैं कि कोई व्यक्ति भ्रम से ठूंठ को पुरुष समझकर उससे अपने राग-द्वेष, मोहादि की कल्पना करता हुआ सुखी-दुःखी होता है तो यह मात्र भ्रान्ति है – अज्ञानता है। ऐसा अन्तरात्मा चिन्तन करती है।[३२] वे आगे लिखते हैं कि अन्तरात्मा स्वसम्वेदन ज्ञान द्वारा स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करती है। अन्तरात्मा अन्तर की गहराई से चिन्तन करती है कि आत्मा न नपुंसक है, न स्त्री है, न पुरुष है, न एक है, न दो है, न बहुत है। वे आत्मा को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं कि अन्तरात्मा को इतने दिन शुद्ध स्वरूप की पहचान नहीं होने के कारण वह गहरी नींद में सोई हुई थी। अब अन्तरात्मा यथावत्

---

३१ 'यन्मया दृष्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृष्यते रूपं ततः केन् ब्रवीम्यहम् ।। १८ ।। –समाधितन्त्र ।

३२ 'अद्ग्राह्यं न गृहणाति, गृहीतं नापि मुंचति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ।। २० ।।' –वही ।

वस्तुस्वरूप जानने का प्रयत्न करती है।[३३] पूज्यपाद् अन्तरात्मा का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि इस आत्मा के आत्मस्वरूप की भावना के बल से राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट की कल्पना व उसके विकारी भाव नष्ट हो जाने पर शत्रु-मित्रादि का भाव भी उसमें नहीं होता। जब अन्तरात्मा की भावेन्द्रियाँ स्वभाव की ओर झुक जाती हैं, तब द्रव्येन्द्रियों का संयम सहज ही हो जाता है। अन्तरात्मा ज्ञानानन्द स्वभाव की ओर दृष्टि करके निज शुद्धात्म द्रव्य का अनुभव करती है और तब चिदानन्दस्वरूप प्रतिभाषित होता है। वही आत्मा का स्वरूप है। पांचों इन्द्रियों से हटकर अपने आनन्द स्वभाव का अनुभव करने पर शुद्धात्म स्वरूप का ख्याल आता है। वही परमात्मा का स्वरूप है। अन्तरात्मा आत्म सन्मुख रहती है। वह यह चिन्तन करती है कि "जो मैं , वही परमात्मा है। जो परमात्मा है, वही मैं । परमात्मा आराध्य हैं, मैं आराधक । मुझमें और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। उन परमात्मा के जैसा मेरा स्वरूप है।" आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रहे हुए हैं। उसी आनन्द से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा को अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किया जा सकता है। यह आत्मा अविनाशी चैतन्यस्वरूप है। शरीर और इन्द्रियाँ अचेतन एवं जड़ हैं। पूज्यपाद देवनन्दी अन्तरात्मा का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि अन्तरात्मा आत्मा और शरीर का भेद विज्ञान करती हुई चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होकर अतीन्द्रिय आनन्द में झूमती रहती है। अन्तरात्मा ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववाली होने से उसका मनरूपी जल रागादि तरंगों से चंचल नहीं होता है। इस आत्मा की परसन्मुख दृष्टि नहीं होती। वह आत्मा परम वीतरागता को प्राप्त होकर निर्विकल्प निरामूल आनन्द का अनुभव करती है। जैसे केंचुली सर्प नहीं है, उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप बहिरात्मा पर राग-द्वेष-मोहरूप जो केंचुली है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। बहिरात्मा राग-द्वेष-मोहरूप केंचुली के कारण अज्ञानतावश चारों गतियों में भ्रमण करती है। जब आत्मा बहिरात्मा से अन्तरात्मा की ओर अग्रसर हो जाती है, तब वह अपने वास्तविक स्वरूप को

---

३३ 'उत्पन्न पुरुष भ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ।। २१ ।।' -वही ।

पहचानती है तथा भव-भ्रमण की भूल को टालकर मुक्ति को प्राप्त करने का प्रयास करती है।[३४]

## ४.२.४ योगीन्दुदेव के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

### (क) परमात्मप्रकाश में आत्मा का स्वरूप

अन्तरात्मा के लक्षणों को व्यक्त करते हुए योगीन्दुदेव कहते हैं कि अन्तरात्मा वीतराग, निर्विकल्प, स्वसंवेदन ज्ञानरूप परिणमन करती हुई सम्यग्दर्शनादि का उपार्जन करती है।[३५] वे कहते हैं कि चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्वमोह एवं अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय का अभाव होने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। किन्तु कषाय की तीन चौकड़ी (प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और संज्वलन) शेष रहने से द्वितीया के चन्द्रमा के समान विशेष प्रकाश नहीं होता तथा पाँचवें गुणस्थान में श्रावक के दो चौकड़ी (अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यानी) का अभाव होने से रागभाव भी कुछ कम होता है। वीतराग भाव बढ़ने से स्वसंवेदन ज्ञान प्रबल होता है। किन्तु दो चौकड़ी (प्रत्याख्यानी और संज्वलन) रहने से मुनिसम प्रकाश नहीं होता। रागभाव के निर्बल होने से वीतरागभाव होता रहता है। किन्तु चौथी चौकड़ी (संज्वलन) - छठे गुणस्थान वाले सराग संयमी हैं। उनके सातवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी (संज्वलन) मन्द हो जाती है। तब वे ध्यानारूढ़ होकर छठे से सातवें गुणस्थान में आते हैं, जिसका काल अन्तर्मुहूर्त माना है। आठवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय (चौथी चौकड़ी) अत्यन्त मन्द हो जाता है। तब रागभाव की अत्यन्त क्षीणता होने से वीतरागभाव पुष्ट होता है एवं श्रेणी का

---

३४ समाधितन्त्र २५-६९।

३५ (क) 'मूढु वियक्खणु बंभु परू अप्पा ति-विहु हवेइ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ॥ १३ ॥' -परमात्मप्रकाश १।
(ख) 'पज्जय-रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ।
बंधइ बहु-विह-कम्मडा जें संसारु भमेइ ॥ ७७ ॥' -वही।
(ग) 'जेण कसाय हवंति मणि सो जिय मिल्लहि मोहु।
मोह-कसाय विवज्जयउ पर पावहि सम-बोहु ॥ ४२ ॥' -वही २।

आरोहण करने से शुक्लध्यान उत्पन्न होता है। यहाँ पर योगीन्दुदेव ने आत्मा की दो श्रेणियाँ स्वीकारी हैं - एक क्षपकश्रेणी और दूसरी उपशमश्रेणी। क्षपकश्रेणी वाले उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं और उपशमश्रेणी वाले ८वें, ९वे, १०वें एवं ११वें गुणस्थान का स्पर्श करते हैं किन्तु उपशमित कषायों का उदय होने से पुनः पतित हो जाते हैं। वे यदि प्रयत्न या पुरुषार्थ करते रहें तो कुछ भवों में क्षपक श्रेणी से आरोहण करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। जब क्षपक श्रेणी वाले ८वें व ९वें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं तब कषायों का सर्वथा नाश करते हैं। दसवें गुणस्थान में मुनि का संज्वलन लोभ शेष रहने से सरागचारित्र होता है एवं इसके अन्त में सूक्ष्म लोभ के भी नष्ट हो जाने से वीतराग चारित्र की प्राप्ति होती है। वे १२वें गुणस्थान में जाते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते। वे १२वें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय - इन तीनों घातीकर्मों का नाश करते हैं। तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रकट होता है। तब अन्तरात्मा शुद्ध परमात्मा बन जाती है। इस प्रकार ४थे से १२वें गुणस्थान तक आत्मा अन्तरात्मा रहती है।[३६] परमात्मप्रकाश में त्रिविध आत्मा का स्वरूप स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। योगीन्दुदेव ने अन्तरात्मा पर सर्वाधिक बल दिया है। उन्होंने अन्तरात्मा को विचक्षण कहा है। वस्तुतः जिनका वीतराग, निर्विकल्प स्वसंवेदन रूप परिणमन है, वे अन्तरात्मा हैं।[३७] अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा उपादेय है। किन्तु यह परमात्मा की अपेक्षा से कहा गया है। योगीन्दुदेव परमात्मप्रकाश में अन्तरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वह मोक्ष के निमित्तभूत परमात्मदेव के केवलज्ञानमय स्वरूप का ध्यान करती है; क्योंकि परमात्मा के अतिरिक्त कोई ध्येय नहीं है।[३८]

---

३६ 'अप्पा ति विहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ ।
मुणि सण्णणें णाणमउ जो परमप्प-सहाउ ।। १/१२ ।।'
-परमात्मप्रकाश के विस्तृत विवेचन पर आधारित पृ. १९-२० ।

३७ 'मूढु वियक्खणु बंभु परू अप्पा ति-विहु हवेइ ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ।। १३ ।।' -परमात्मप्रकाश १ ।

३८ 'देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ ।
परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ।। १४ ।।' -वही।

अन्तरात्मा (साधक आत्मा) : जैनदर्शन में साधना का मुख्य लक्ष्य भेदविज्ञान माना गया है। इस भेदविज्ञान की प्रक्रिया क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए योगीन्दुदेव परमात्मप्रकाश में लिखते हैं कि पाँचों इन्द्रियाँ, मन और सकल विभावरूप परिणति कर्म-जनित है। इसलिए आत्मा अन्य है और इन्द्रियाँ, मन और विभावजन्य परिणमन अर्थात् राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया आदि आत्मा से भिन्न हैं। पुनः चतुर्गतियों के दुःख भी अन्य हैं और आत्मा अन्य है।[३९] ये सभी सांसारिक सुख-दुःख कर्मजनित ही हैं। आत्मा इनकी द्रष्टा है। लेकिन निश्चय से वह इनसे भिन्न है।[४०] यही नहीं बन्धन और मोक्ष भी कर्मों की अपेक्षा से कहे गये हैं। अतः आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में बन्धन और मोक्ष से भी परे है, ऐसा निश्चय नय से जानना चाहिये।[४१] आगे इसी भेदविज्ञान को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि आत्मा आत्मा है। वह देहादि पर-पदार्थों से भिन्न है और न पर-द्रव्य आत्मरूप होता है।[४२] अतः पर-द्रव्य के निमित्त से होने वाली आत्मा की विभाव पर्यायें निश्चयनय से आत्मा की नहीं कही जा सकतीं। निश्चयनय से तो, न आत्मा उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है।[४३] इसलिए जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग, वर्ण और लिंग - ये सब आत्मा के नहीं हैं।[४४] देह के जन्म, मरण, रोग और वृद्धावस्था को देखकर तू भयभीत मत हो क्योंकि ये सभी पुद्गल के निमित्त से होनेवाली परिणतियाँ हैं। आत्मा तो अजर अमर

---

३९ 'पंच वि इंदिय अण्णु मणु अण्णु वि सयल-विभाव ।
जीवहँ कम्मइँ जणिय जिय अण्णु वि चउगर-ताव ।। ६३ ।।' -वही ।

४० 'दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ ।। ६४ ।।' -वही ।

४१ 'बन्धु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ बउँ भणेइ ।। ६५ ।।' -वही ।

४२ 'अप्पा अप्पु जि परू जि परू अप्पा परू जि ण होइ ।
परू जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमें पभणहिं जोइ ।। ६७ ।।' -वही ।

४३ 'ण वि उप्पज्ज्इ ण वि मरइ बन्धु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थें जोइया जिणवरू एउँ भणेइ ।। ६८ ।।' -वही ।

४४ 'अत्थि ण उब्भउ जर-मरणु रोय वि लिंग वि वण्ण ।
णियमिं अप्पु वियाणि तुहुँ जीवहुँ एक्क वि सण्ण ।। ६९।।' -वही ।

परब्रह्म रूप शुद्ध स्वभाव है।[४५] निश्चय ही कर्मजन्य रागादि सभी भाव और शारीरादिक विभिन्न पर्यायें पुद्गलजन्य होने के कारण निश्चय से आत्मा से भिन्न हैं।[४६]

योगीन्दुदेव ने अन्तरात्मा के स्वरूप का निर्वचन करते हुए कहा है कि अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि को प्राप्त करके यह मानती है कि यह आत्मा गोरी नहीं है, काली नहीं है, लाल नहीं है, स्थूल नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है।[४७] वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भी नहीं है। वह स्त्री नहीं है, पुरुष नहीं है। न वह नपुंसक है[४८], न तरूण है, न श्वेताम्बर है और न दिगम्बर है। वह बौद्ध या अन्य किसी लिंग को धारण करने वाली नहीं है।[४९] न वह गुरू है, न

---

४५ (क) 'देहहँ ण पेक्खिवि जर-मरणु मा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरू बंभु परू सो अप्पाणु मुणेहि ।। ७१ ।।' -परमात्मप्रकाश १ ।
(ख) 'देहहँ उब्भउ जर-मरणु देहहँ वण्णु विचित्तु ।
देहहँ रोय वियाणि तुहुँ देहहँ लिंगु विचित्तु ।। ७० ।।' -वही ।

४६ (क) 'कम्महँ केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु ।
जीव सहावहँ भिण्णु जिय णियमिं बुज्झहि सव्वु ।। ७३ ।।' -वही ।
(ख) 'छिज्ज्उ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरू ।
अप्पा भावहि णिम्मलउ जिं पावहि भव तीरू ।। ७२ ।।' -वही ।
(ग) 'अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ।
सो छंडेविणु जीव तुहुँ भावहि अप्प-सहाउ ।। ७४।।' -वही ।
(घ) 'अट्ठहँ कम्महँ बाहिरउ सयलहँ दोसहं चत्तु ।
दंसण-णाण-चरित्तमउ अप्पा भावि णिरुत्तु ।। ७५ ।।' -वही ।

४७ 'हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ।। ८० ।।' -वही ।

४८ 'हउँ वरू बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।
पुरिसु णउँसर इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ।। ८१ ।।' -वही ।

४९ (क) 'तरूणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ।। ८२ ।।' -वही ।
(ख) 'अप्पा गोरउ किण्हु ण वि अप्पा रत्तु ण होइ ।
अप्पा सुहुमु वि थूलु ण वि णाणिउ जाणैं जोइ ।। ८६ ।।' -वही ।
(ग) 'अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण खत्तिउ ण वि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि णाणिउ मुणइ असेसु ।। ८७ ।।' -वही ।
(घ) 'अप्पा वंदउ खवणु ण वि अप्पा गुरउ ण होइ ।
अप्पा लिंगिउ एक्कु ण वि णाणिउ जाणइ जोइ ।। ८८ ।।' -वही ।

शिष्य है, न सेवक है और न स्वामी है। न वह शूरवीर है और न ही कायर है। न वह उच्चकुल वाली है और न निम्नकुल वाली ही है।[५०] न वह मनुष्य है, न नारक है और न ही तिर्यंच है।[५१] क्योंकि ये सभी तो कर्मों अथवा शरीर, वेश आदि के निमित्त से होने वाली अवस्थाएँ हैं। आगे वे पुनः कहते हैं कि आत्मा न पण्डित है, न मूर्ख है, न निर्धन है, न धनी है, न जवान है, न बूढ़ी है और न ही बालक है।[५२] इसी प्रकार न वह पुण्यरूप है और न पापरूप है। वह धर्मादि द्रव्यों से भी भिन्न है।[५३] आत्मा तो निज गुणपर्याय की धारक चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप, संयमशील और तपस्वरूप है । वह शाश्वत् शुद्धस्वरूप और ज्ञाता स्वभाव वाली है।[५४] इस प्रकार जो विभावरूप परिणतियों को अपना नहीं मांनती है और शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मा को अपना मानती है उसे अन्तरात्मा कहा जाता है।[५५]

योगीन्दुदेव अन्तरात्मा के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हैं कि वह आत्मा संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर, वीतराग परमानन्द के सुखामृत से राग-द्वेष से परे हटकर तथा अपने शुद्धात्मस्वरूप में अनुरागी होकर अन्तरात्मा में रमण करती है। जब वैराग्य भावना प्रबल हो जाती है, तब संसाररूपी बेल छूट

---

५० 'अप्पा गुरू णवि सिस्सु णवि णवि सामिउ णवि भिच्चु ।
सूरउ कायरू होइ णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ।। ८९ ।।' -वही ।

५१ 'अप्पा माणुसु देउ ण वि अप्पा तिरिउ ण होइ ।
अप्पा णरउ कहिं वि णवि णाणिइ जाणइ जोइ ।। ९० ।।' -वही ।

५२ 'अप्पा पंडिउ न मुक्खु णवि णवि ईसरू णवि णीसु ।
तरूणउ बूढ़उ बालु णवि अण्णु वि कम्म-विसेसु ।। ९१ ।।' -वही ।

५३ 'पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ ।
एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयण-भाउ ।। ९२ ।।' -परमात्मप्रकाश १ ।

५४ 'अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु ।
अप्पा सासय-मोक्ख-पउ जाणंतउ अप्पाणु ।। ९३ ।।' -वही ।

५५ 'अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु ।
अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय मेल्लिवि अप्पा जाणु ।। ९४ ।।' -वही ।

जाती है।[५६]

योगीन्दुदेव लिखते हैं कि अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप का ध्यान करता हुआ मुनि उस अनन्तसुख को प्राप्त करता है, जिसे इन्द्र भी प्राप्त नहीं कर पाता। योगी अर्थात् अन्तरात्मा अपने निर्मल मन के द्वारा अपने रागादिक भाव से रहित परमात्मस्वरूप का अनुभव करता है।[५७] अपने परमात्मस्वरूप का अनुभव निर्मल मन में ही होता है।[५८] इसलिए योगीन्दुदेव ने इस बात पर बार-बार बल दिया है। विषय-वासनाओं से ऊपर उठकर निर्मल मन से ही शुद्ध आत्मतत्त्व की आराधना सम्भव है। वे कहते हैं कि परमात्मा समत्वपूर्ण चित्त में ही स्थित हैं। अतः साधना के लिए मन की निर्मलता आवश्यक है। जो विषय-कषायों की ओर भागते हुए मन को निज परमात्मस्वरूप में स्थिर करता है, वही मोक्ष या परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है।[५९] अन्य कोई भी तन्त्र या मन्त्र ऐसा नहीं है जो परमात्मस्वरूप की अनुभूति करवा सके। जैनधर्म में आत्मा और पुद्गल दोनों वास्तविक हैं।[६०] आत्माएँ अनन्त हैं

---

५६ (क) 'अप्पा-दंसणि जिणवरहँ जँ सुहु होइ अणंतु ।
तं सुहु लहइ विराउ जिउ जाणंतउ सिउ संतु ।। ११८ ।।' -वही ।
(ख) 'जं मुणि लहइ अणंत-सुहु णिय-अप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिँ कोडि रमंतु ।।११७ ।।' -वही ।
(ग) 'णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि ।
मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि ।। ४७ ।।' -वही ।

५७ 'जीवहँ सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पय-लाहु ।
कम्म-कलंक विमुक्काहँ णाणिय बोल्लहिँ साहू ।। १० ।।' -वही २ ।

५८ 'गयणि अणंति वि एक्कु उडु जेहउ भुयणु विहाइ ।
मुक्कहँ जसु पए बिंबियउ सो परमप्पु अणाइ ।। ३८ ।।' -वही १ ।

५९ (क) 'जो णिय-करणहिँ पंचहिँ वि पंच वि विसय मुणेइ ।
मुणिउ ण पंचहिँ पंचहिँ वि सो परमप्पु हवेइ ।। ४५ ।।' -परमात्मप्रकाश १ ।
(ख) 'पंच वि इंदिय अण्णु मणु अण्णु वि सयल-विभाव ।
जीवहँ कम्मइँ जणिय जिय अण्णु वि चउगइ-ताव ।। ६३ ।।' -वही ।

६० 'जहिँ मइ तहिँ गइ जीव तहुँ मरणु वि जेण लहेहि ।
तेँ परबंभु मुएवि मइँ मा पर-दव्वि करेहि ।। ११२ ।।' -वही ।

और मुक्तावस्था में भी प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है;[६१] किन्तु उपनिषदों में आत्मा के अतिरिक्त जो ब्रह्म का नामान्तरण है, उसमें कुछ भी सत्य नहीं है।[६२] जैनधर्म में उपनिषदों की तरह आत्मा एक विश्वव्यापी तत्त्व का अंश नहीं है अपितु उसके अन्दर परमात्मतत्त्व के बीज विद्यमान रहते हैं। जब वह कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिये प्रयासरत होती है या अन्तर्मुखी होकर भी संसार में निर्लिप्त होकर रहती है; तब वह यह जानती है कि राग-द्वेष आदि मानसिक भावों के निमित्त से परमाणु आत्मा से सम्बद्ध हैं एवं आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है।[६३] कर्मों के कारण ही आत्मा की अनेक दशायें होती हैं और आत्मा को शरीर में रहना पड़ता है। वे कर्म-कलंक ध्यान रूपी अग्नि में जल कर नष्ट हो जाते हैं।[६४] वह अन्तरात्मा शुद्ध स्वरूपी आत्मा के

---

६१ 'मेल्लिवि सयल अवक्खडी जिय णिचिंत्तउ होइ ।
चित्तु णिवेसहि परमपए देउ णिरंजणु जोइ ।। ११५ ।।' -परमात्मप्रकाश १ ।

६२ 'जं सिवदंसणि परम सुहु पावहि झाणु करँतु ।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु ।। ११६ ।।' -वही ।

६३ 'कम्म-णिबद्धु वि जोइया देहि वसंतु वि जो जि ।
होइ ण सयलु कया वि कुडु मुणि परमप्पउ सो जि ।। ३६ ।।' -वही ।

६४ (क) 'अप्पा-दंसणि जिणवरहँ जं सुहुहोइ अणंतु ।
तं सुहु लहइ विराउ जिउ जाणंतउ सिउ संतु ।। ११८ ।।' -वही ।
(ख) 'दंसणु णाणु अणंत सुहु समउ ण तुट्टइ जासु ।
सो पर सासउ मोक्ख-फल बिज्जउ अत्थि ण तासु ।। ११ ।।' -वही २ ।

ध्यान में संलग्न हो जाती है।[६५] मुनि श्री योगीन्दुदेव अन्तरात्मा को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि छः द्रव्यों में केवल यही एक चेतन द्रव्य है – शेष जड़ हैं। यह अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्द का भण्डार है एवं अनादि और अनन्त है। दर्शन और ज्ञान उसके मुख्य गुण हैं। ऐसी अन्तरात्मा चिन्तन करती है कि "जब तक संसार की ओर से मुख नहीं मोड़ूंगी; तब तक आत्मा का साम्राज्य उपलब्ध नहीं हो सकता। आत्मा का साम्राज्य प्राप्त करने के लिए अन्तर्मुखी दृष्टि करनी होगी।" अन्तरात्मा बाह्य संसार से विमुख होकर अन्तर्मुखी होता है। अतः योगीन्दुदेव ने आत्मा में जो परमात्मा विराजमान है, उस शुद्ध आत्मा की अनुभूति को ही अन्तरात्मा का मुख्य लक्ष्य कहा है।

आगे योगीन्दुदेव आत्मा के स्वरूप का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र आत्मा से भिन्न नहीं हैं। अतः अन्तरात्मा केवल शुद्ध आत्मस्वरूप का ही ध्यान करती है। वे लिखते हैं कि जो आत्मा के निर्मल स्वभाव का ध्यान करता है, वह उस ध्यान के द्वारा एक क्षण में ही परमपद को प्राप्त हो जाता है।

---

६५ (क) 'जोइय-विंदहिँ णाणमउ जो झाइज्जइ झेउ ।
मोक्खहँ कारणि अणवरउ सो परमप्पउ देउ ।। ३६ ।।' -वही १ ।
(ख) 'जो जिउ हेउ लेहवि विहि जगु बहु विहउ जणेइ ।
लिंगत्तय-परिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ ।। ४० ।।' -वही ।
(ग) 'देहि वसंत वि हरि-हर वि जं अज्ज वि ण मुणंति ।
परम-समाहि-तवेण विणु सो परमप्पु भणंति ।। ४२ ।।' -वही ।
(घ) 'जो णिय-करणहिँ पंचहिँ वि पंच वि विसय मुणेइ ।
मुणिउ ण पंचहिँ पंचहिँ वि सो परमप्पु हवेइ ।। ४५ ।।' -वही ।
(च) 'कम्महिँ जासु जणंतहिँ वि णिउ णिउ कज्जु सया वि ।
किं पि ण जणियउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि ।। ४८ ।।' -वही ।
(छ) 'कम्म-णिबद्धु वि होइ णवि जो फुडु सो कम्मु कया वि ।
कम्मु वि जो ण कया वि फुडु सो परमप्पउ भावि ।। ४६ ।।' -वही ।
(ज) 'जे णिय-बोह-परिट्ठियहँ जीवहँ तुट्टइ णाणु ।
इंदिय-जणियउ जोइया तिं जिउ वि वियाणु ।। ५३ ।।' -वही ।
(झ) 'एयहिँ जुत्तउ लक्खणहिँ जो परु णिक्कलु देउ ।
सो तहिँ णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहँ झेउ ।। २५ ।।' -वही ।

उनका कथन है कि जो आत्मस्वरूप में निवास करता है, वह परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है। जिसका मन निर्मल आत्मस्वभाव में निवास नहीं करता है, उसके लिए शास्त्र, पुराण, तप और चारित्र का पालन, ये सभी मोक्ष के साधन नहीं हो सकते।[६६] योगीन्दुदेव का कथन है कि वस्तुतः आत्मा ही अपने शुद्ध स्वरूप में आराधन करने योग्य है। जब तक साधक अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में निवास नहीं करता, तब तक वह बाह्य साधनों के द्वारा परमात्मपद को प्राप्त नहीं कर सकता। वास्तव में दृष्टि का अन्तर्मुखी होना ही साधना का मुख्य लक्ष्य है, क्योंकि वे कहते हैं कि जो आत्मस्वभाव में प्रतिष्ठित है, उसे आत्मा में प्रतिबिम्बित होने वाले लोकालोक के स्वरूप का शीघ्र ही बोध हो जाता है। इसलिए ध्येयतत्त्व तो आत्मा ही है।[६७] जिस आत्मा को जानने से आत्मा और समस्त पर-पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, तू उसी आत्मा का ध्यान कर। आगे वे कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानवान् आत्मा को ही सम्यग्ज्ञान के द्वारा जब तक नहीं जानता, तब तक वह ज्ञानी होने से भी परमात्मपद को कैसे प्राप्त कर सकेगा।[६८] इस प्रकार योगीन्दुदेव के अनुसार आत्माभिमुख होना ही अन्तरात्मा का स्वरूप है और इसी के माध्यम से वह परमात्मपद को प्राप्त कर

---

६६ 'अप्पा णिय-मणि णिम्मलउ णियमें वसइ ण जासु ।
सत्य-पुराणइँ तव-चरणु मुक्खु वि करहिँ कि तासु ।। ६८ ।।' -परमात्मप्रकाश २ ।

६७ (क) 'जोइय अप्पें जाणिएण जगु जाणियउ हवइ ।
अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ ।। ६६ ।।' -वही १ ।

(ख) 'अप्प-सहावि परिट्ठियह एहउ होइ विसेसु ।
दीसइ अप्प-सहावि लहु लोयालोउ असेसु ।। १०० ।।' -वही ।

६८ (क) 'अप्पु पयासइ अप्पु परू जिम अंबरि रवि-राउ ।
जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ।। १०१ ।।' -वही ।

(ख) 'तारायणु जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम ।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम ।। १०२ ।।' -वही ।

(ग) 'अप्पु वि परू वि वियाणइ जें अप्पें मुणिएण ।
सो णिय-अप्पा जाणि तुहुँ जोइय णाण-बलेण ।। १०३ ।।' -वही ।

(घ) 'णाणु पयासहि परमु महु किं अण्णें बहुएण ।
जेण णियप्पा जाणियइ सामिय एक्क खणेण ।। १०४ ।।' -वही ।

(च) 'अप्पा णाणु मुणेहि तुहुँ जो जाणइ अप्पाणु ।
जीव-पएसहिँ तितिडउ णाणें गयण-पवाणु ।। १०५ ।।' -वही ।

लेता है। उनकी दृष्टि में अन्तरात्मा वही है जो अपने चित्त को शुद्ध आत्मतत्त्व में निवेशित करती है। ऐसी आत्मा अपने समस्त कर्मों को उसी प्रकार भस्म कर देती है, जिस प्रकार लकड़ी के पहाड़ को अग्नि की एक चिणगारी। उनके अनुसार जिसका मन परमपद अर्थात् परमात्मपद में निवेशित है, वह निश्चय ही शुद्ध आत्मस्वरूप का अवलोकन कर परम आनन्द की प्राप्ति करता है। इस प्रकार योगीन्दुदेव ने निर्मल मन से शुद्ध आत्मतत्त्व की उपासना को ही सम्यक् उपासना या साधना कहा है। अन्तरात्मा इसी साधना के द्वारा परमात्मपद को प्राप्त करती है।[६९]

## (ख) योगसार में आत्मा का स्वरूप

योगीन्दुदेव ने योगसार में अन्तरात्मा के लिए पण्डित आत्मा शब्द का प्रयोग किया है।[७०] वे कहते हैं कि जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानता है, वह 'पर' के ऊपर रही हुई ममत्वबुद्धि का त्याग करता है; वह पण्डित आत्मा या अन्तरात्मा है।[७१] अन्तरात्मा यह मानती है कि देहादि जो पदार्थ हैं, वे मेरे नहीं हैं। योगीन्दुदेव की दृष्टि में आत्मानुभूति का प्रयत्न ही अन्तरात्मा का प्रमुख लक्ष्य होता है। वे लिखते हैं कि परम आत्मतत्व का दर्शन ही मोक्ष का कारण है, क्योंकि समस्त धर्मक्रियाओं को करते हुए भी यदि आत्मतत्त्व का बोध नहीं होगा, तो संसार का परिभ्रमण भी समाप्त नहीं होगा। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि व्रत, तप, संयम और मुनि-जीवन के मूल गुणों के पालन से जब तक परम शुद्ध आत्मतत्त्व का बोध नहीं होता, तब तक ये मोक्ष के साधन नहीं बनते। वे लिखते हैं कि एक आत्मा ही चेतन तत्त्व है – शेष सभी अचेतन हैं। उस आत्मतत्त्व को जानकर ही मुक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। वे लिखते हैं कि यदि तू सर्व बाह्य व्यवहार का

---

६९ 'मेल्लिवि सयल अवक्खडी जिय णिचिंतउ होइ ।
चित्तु णिवेसहि परमपए देउ णिरंजणु जोइ ।। ११५ ।।' –वही ।

७० 'तिपयारो अप्पा मुणहि परू अंतरू बहिरप्पु ।
पर सायहि अंतर-सहिउ बाहिरू चयहि णिमंतु ।। ६ ।।' –योगसार ।

७१ 'जो परियाणइ अप्पु परू जो परभाव चएइ ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहु सो संसारू मुएइ ।। ८ ।।' –योगसार ।

परित्याग करके निर्मल आत्मतत्त्व को जानेगी तभी संसार से मुक्त हो सकेगी। उनकी दृष्टि से आत्म-अनात्म का विवेक ही प्रमुख तत्त्व है।[७२] वे कहते हैं कि जो आत्म-अनात्म के भेद को जानता है, वही सब कुछ जानता है और ऐसा योगी (अन्तरात्मा) मोक्ष को प्राप्त करता है। इसीलिए यदि मोक्ष को पाने की इच्छा है तो केवलज्ञान स्वभाव वाले आत्मतत्त्व को जान।[७३] आत्मतत्त्व के ज्ञान के बिना समग्र साधना निरर्थक है। वे लिखते हैं कि कौन तो समाधि करे, कौन पूजन-अर्चन करे, कौन स्पर्शास्पर्श का विचार करे, किसके साथ कलह करे और किसके साथ मैत्री करे; क्योंकि सर्वत्र ही आत्मा दृष्टिगोचर होती है।[७४] वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि यह आत्मा देहरूपी देवालय में विराजमान है। उनके शब्दों में जिनदेव या परमात्मा देहरूपी देवालय में विराजमान हैं। धर्म वहीं है, जहाँ आत्मा राग-द्वेष को छोड़कर अपने में निवास करती है।[७५] इस प्रकार हम देखते हैं कि योगीन्दुदेव ने साधना के क्षेत्र में आत्मज्ञान को ही सर्वाधिक महत्व दिया है। वे लिखते हैं कि जो शास्त्रों को पढ़ते हैं किन्तु आत्मा को नहीं जानते वे मूर्ख ही हैं,

---

७२ (क) 'णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु ।
सो परमप्पा जिण-भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ।। ९ ।।' -वही ।
(ख) 'देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पाणु मुणेइ ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुणु संसारू भमेइ ।। १० ।।' -वही ।
(ग) 'देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पाणु ण होहिं ।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ अप्पा अप्प मुणेहि ।। ११ ।।' -वही ।

७३ (क) 'अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तो णिव्वाणु लहेहि ।
पर अप्पा जइ मुणहि तुहुँ तो संसार भमेहि ।। १२ ।।' -वही ।
(ख) 'इच्छा रहियाउ तव करहि अप्पा अप्पु मुणेहि ।
तो लहु पावहि परम-गई फुडु संसारू ण एहि ।। १३ ।।' -वही ।
(ग) 'परिणामें बंधु जि कहिउ मोक्ख वि तह वियाणि ।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ तहभाव हु परियाणि ।। १४ ।।' -वही ।

७४ 'को सुसमाहि करउ को अंचउ-छोपु अछोपु करिवि को वंचउ ।
हल सहि कलहु केण समाणउ जहिँ कहिँ जोवउ तहिँ अप्पाणउ ।। ४० ।।' -वही ।

७५ 'राय-रोस बो परिहरिवि बे अप्पाणि बसेइ ।
सो धम्मु वि जिण-उत्तियउ जो पंचमगइ णेइ ।। ४८ ।।' -वही ।

क्योंकि आत्मज्ञान के बिना निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं है।[७६] उनकी दृष्टि में आत्मा के द्वारा आत्मा को जानने से शाश्वत् सुख या मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। जो मुनि (अन्तरात्मा) परभाव का त्याग करके अपनी आत्मा से अपनी आत्मा को पहिचानते हैं, वे केवलज्ञान को प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि योगीन्दुदेव ने बाह्य कर्मकाण्डों की अपेक्षा आत्मानुभूति को ही अन्तरात्मा का लक्षण माना है।

## ४.२.५ मुनि रामसिंह की दृष्टि में अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

मुनिरामसिंह अन्तरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सर्वप्रथम यह बताते हैं कि जो घर, परिजन एवं ऐन्द्रिक विषयों को अपना नहीं मानता है वही आत्मज्ञानी साधक है।[७७] जो शरीर एवं तद्जन्य रोग, वृद्धावस्था आदि से अपने को भिन्न समझता है, वही आत्मज्ञानी साधक है। वे लिखते हैं – "न तो तुम पण्डित हो, न मूर्ख, न ईश्वर हो, न नरेश, न तुम सेवक हो, न स्वामी हो, न शूरवीर हो, न कायर हो, न तुम श्रेष्ठ हो और न नीच, न तुम पुण्य हो, न पाप, न काल, न आकाश, न धर्म, न अधर्म और न शरीर ही हो।"[७८] इस प्रकार जो देह और देहजन्य विभिन्न

---

७६ 'सत्थ पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति ।
तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ।। ५३ ।।' -वही ।

७७ (क) 'जो मुणि छंडिवि विसयसुह पुणु अहिलासु करेइ ।
लुंचणु सोसणु सो सहइ पुणु संसारू भगेइ ।। १७ ।।' -पाहुडदोहा ।
(ख) 'विसया-सुह दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म बाहि तुहं अप्पाखंधि कुहाडि ।। १८ ।।' -वही ।
(ग) 'देहहो पिक्खिवि जरमरणु भा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरू बंभु परू सो अप्पाण मुणेहि ।। ३४ ।।' -वही ।

७८ (क) 'णवि तुहुँ पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरू णवि णीसु ।
णवि गुरू कोइ वि सीसु णवि सव्वइं कम्मविसेसु ।। २८ ।।' -वही ।
(ख) 'णवि तुहुं कारणु कज्जु णवि णवि सामिउ णवि भिच्चु ।
सूरउ कायरू जीव णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ।। २९ ।।' -वही ।
(ग) 'पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु, धम्मु अहम्मु ण काउ ।
एक्कु वि जीव ण होहि तुहुं मेल्लिवि चेयणभाउ ।। ३० ।।' -वही ।

अवस्थाओं एवं इन्द्रियों के विषयों को अपना नहीं मानता है, जो जीव आत्मा के ज्ञानमय स्वरूप को छोड़कर अन्य सभी को परभाव मानता है और अपने सिद्ध स्वरूप का ही ध्यान करता है, वही अन्तरात्मा है; इस प्रकार जिसने ज्ञानस्वरूप आत्मा को देहादि से भिन्न जान लिया है, वही अन्तरात्मा है।[७९] जब मन परमात्मा से मिल जाता है अर्थात् परमात्मा में लीन हो जाता है और परमात्मा मन से मिल जाता है, जब दोनों ही समरस भाव को प्राप्त हो जाते हैं, तब उनके लिए अन्तरात्मा और परमात्मा का भेद भी समाप्त हो जाता है। उस समय पूज्य-पूजक या अराध्य-आराधक, ऐसा भेद भी समाप्त हो जाता है। साधक आत्मा वह है जो अपनी साधना के अन्तिम चरण में अपने शुद्ध परमात्मस्वरूप की अनुभूति करने लगती है। आध्यात्मिक गुणों की दृष्टि से उन्होंने कहा है कि बहिरात्मा से अधिक निर्मल एवं श्रेष्ठ अन्तरात्मा है। इस प्रकार बहिरात्मा का विसर्जन कर तथा परमात्मा में अन्तरात्मा का समर्पण कर परमात्म-अवस्था को प्राप्त करना ही साधक की आत्मा का मुख्य साध्य माना गया है। किन्तु अन्तरात्मा से ही आध्यात्मिक विकास सम्भव है।[८०]

मुनिरामसिंह अन्तरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जिसने मरकतमणि की पहिचान करली है, उसे काँच से क्या प्रयोजन है?[८१] उसी प्रकार जिसने केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय से युक्त आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, उसे सांसारिक पदार्थों से

---

७९ (क) 'देहहं उब्भउ जरमरणु देहहं वण्ण विचित्त ।
देहहं रोया जाणि तुहुं देहहं लिंगइं मित्त ।। ३५ ।।' -वही ।
(ख) 'अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अवरू परायउ भाउ ।
सो छंडेविणु जीव तुहुं झायहि सुद्धसहाउ ।। ३८ ।।' -वही ।

८० (क) 'वण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ ।
संतु णिरंजणु सो लि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ ।। ३६ ।।' -वही ।
(ख) 'बुज्झहु बुज्झहु जिणु भणइ को बुज्झइ हलि अण्णु ।
अप्पा देहहं णाणमउ छुडु बुज्झियउ विभिण्णु ।। ४१ ।।' -वही ।

८१ (क) 'अप्पा मेल्लिवि जगतिलउ मूढ म झायहि अण्णु ।
जइ मरगउ परियाणियउ तहु किं कच्चहु गण्णु ।। ७२ ।।' -पाहुडदोहा ।
(ख) 'णिल्लक्खणु इत्थीबाहिरउ अकुलीणउ महु मणि ठियउ ।
तासु कारण झाणी माहुर जेण गवंमउ संठियउ ।। १०० ।।' -वही ।

कोई प्रयोजन नहीं होता है अर्थात् उसका चित्त आत्मानुभूति में लग गया है।[८२] उसे अन्य पदार्थों की इच्छा या आकाँक्षा नहीं होती। ऐसी अन्तरात्मा निज शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का ध्यान नहीं करती। वस्तुतः परमात्मस्वरूप का ध्यान निज शुद्धात्मा का ही ध्यान कहा जाता है और वही परमात्मस्वरूप की उपलब्धि कराता है।[८३]

बहिरात्मा को अन्तरात्मा बनने के लिए प्रेरित करते हुए मुनिरामसिंह कहते हैं – "तू समस्त विकल्पों को समाप्त कर अपने चित्त को अपने स्वस्वभाव में स्थित कर। वहीं तुझे आत्मिक सुख प्राप्त होगा और उसके द्वारा संसार से पार हो जायेगा।" आगे वे पुनः कहते हैं कि मन को परमात्मा में केन्द्रित कर विषय-कषायों का त्याग करो।[८४] इस प्रकार ही तुम दुःखों को तिलांजलि देकर उन्हें समाप्त कर सकोगे। प्रकारान्तर से मुनिरामसिंह यह बताते हैं कि जो विषय-कषायों का त्यागकर और समस्त विकल्पजाल को तोड़कर अपने परमात्मस्वरूप में चित्त को निवेशित करता है, वही परमात्मा है और वही परमपद को प्राप्त करने में सक्षम होता है।[८५]

आगे वे पुनः लिखते हैं कि तुमने अपना सिर तो मुँडा लिया अर्थात् मुनिपद को धारण कर लिया, किन्तु जब तक चित्त को मुण्डित नहीं किया, तब तक उस सिर को मुण्डित करने का कोई लाभ नहीं। जो मन को मुण्डित कर लेता है, वही संसार का खण्डन कर सकता है। यहाँ मुनिरामसिंह ने अन्तरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि वस्तुतः अन्तरात्मा वही है

---

८२ 'केवलु मलपरिवज्जियउ जहिं सो ठाइ अणाइ ।
तस उरि सवु जगु संचरइ परइ ण कोइ वि जाइ ।। ९० ।।' –वही ।

८३ 'सव्वहिंयहिं छहरसहिं पंचहिं रूवहिं चित्तु ।
जासु ण रंजिउ भुवणयलि सो जोइय करि मित्तु ।। १०२ ।।' – वही ।

८४ 'तोडिवि सयल वियप्पडा अप्पहं मणु वि धरेहि ।
सोक्खु णिरंतरू तहिं लहहि लहु संसारू तरेहि ।। १३४ ।।' –वही ।

८५ 'अरि जिय जिणवरि मणु ठवहि विसयकसाय चएहि ।
सिद्ध महापुरि पइसरहि दुक्खहं पाणिउ देहि ।। १३५ ।।' –वही ।

जो अपने मन को मुण्डित करती है।[८६] अन्तरात्मा विषय-भोग से तो निवृत्त होती ही है किन्तु उसकी रूचि बाह्य कर्मकाण्ड और लोकेषणा में भी नहीं होती। यहाँ मुनिरामसिंह लिखते हैं कि पुण्य से वैभव की प्राप्ति होती है; वैभव से अभिमान या गर्व होता है; गर्व से बुद्धिभ्रम होता है और बुद्धिभ्रम से पाप होता है और पाप से नरक की प्राप्ति होती है। इस तथ्य को लक्षित करते हुए वे आगे कहते हैं कि "अन्तरात्मा पुण्य और पाप के झमेले में नहीं पड़ती। वह तो शुद्ध आत्मतत्त्व को उपलब्ध करती है।

मुनिरामसिंह साधक आत्मा अर्थात् अन्तरात्मा को उपदेश देते हैं: "हे योगी! तुम योग को धारण करो। यदि तुम संसाररूपी प्रपंच में नहीं पड़ोगे तो इस देहरूपी कुटिया के नष्ट होने पर भी अक्षयपद अर्थात् मोक्षपद को उपलब्ध कर लोगे।" वे पुनः कहते हैं - "हे मनरूपी करभ (ऊँट), इन्द्रियों के विषयसुख से आसक्त मत बनो, क्योंकि ये इन्द्रियजन्य विषयसुख क्षणिक हैं। अतः जिससे शाश्वत् सुख प्राप्त नहीं होता, उसे क्षणभर में ही छोड़ देना चाहिये। तुम आक्रोश और क्रोध भी मत करो, क्योंकि क्रोध से धर्म नष्ट होता है। धर्म के नष्ट होने पर नरकगति की प्राप्ति होती है और ऐसी स्थिति में मनुष्य जन्म व्यर्थ ही चला जाता है।"[८७] यहाँ मुनिरामसिंह ने अन्तरात्मा को विषय-सुखों से विमुख होने के साथ-साथ क्रोधादि कषायों से भी ऊपर उठने का निर्देश दिया है अर्थात् परमात्मा का प्रतिदिन ध्यान करने की अन्तरात्मा को प्रेरणा

---

८६ 'मुडियमुंडिय मुंडिया, सिरू मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया ।
चित्तहं मुंडणु जे कियउ, संसारहं खंडणु ते कियउ ।। १३६ ।।' -वही ।

८७ (क) 'सहजअवत्थहिं करहुलउ जोइय जंतउ वारि ।
अखइ णिरामर पेसियउ सइं होसइ संहारि ।। १७१ ।।' -पाहुडदोहा ।
(ख) 'अखइ णिरामइ परमगइ मणु घल्लेप्पिणु मिल्लि ।
तुट्टेसइ मा भंति करि आवागमणहं वेल्लि ।। १७२ ।।' -वही ।
(ग) 'देहादेवलि सिउ वसइ तुहु देवलइं णिएहि ।
हासउ महु मणि अत्थि इहु सिद्धें भिक्ख भमेहि। । १८७ ।।' -वही ।

दी है।[८८]

## ४.२.६ आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के २८वें सर्ग में आसनजय की चर्चा के प्रसंग में न केवल अन्तरात्मा किन्तु उसके तीन भेदों का भी संकेत किया है। वे लिखते हैं कि धर्मध्यान के ध्यान (अन्तरात्मा के ध्याता) तीन प्रकार के कहे गये हैं, जो आत्मा की विशुद्धि के स्तर पर होते हैं।[८९] इसके पूर्व उन्होंने गुणस्थान की अपेक्षा से चार प्रकार की अन्तरात्मा का भी उल्लेख किया है :

१. अविरतसम्यग्दृष्टि; २. देशविरत;
३. प्रमत्तसंयत; और ४. अप्रमत्तसंयत।

सामान्यतः गुणस्थानों की अपेक्षा से अन्तरात्मा के प्रकारों की जो चर्चा हुई है, उसमें सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणमोह तक सभी गुणस्थानों की आत्माओं को सम्मिलित किया गया है। पुनः उनके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ऐसे तीन भेद किये गए हैं और उसमें अविरतसम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है; देशविरत और प्रमत्तसंयत मध्यम तथा अप्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। चाहे इन दो गाथाओं में स्पष्ट रूप से अन्तरात्मा का उल्लेख नहीं हुआ हो, किन्तु पहले सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक की चार अवस्थाओं का उल्लेख करके फिर उन्हें तीन भागों में विभाजित करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुभचन्द्र ने यहाँ अन्तरात्मा के तीन भेदों का ही उल्लेख किया है।[९०]

---

८८ (क) विसयकसाय चएवि वढ अप्पहं मणु वि धरेहि ।
चूरिवि चउगइ णित्तुलउ परमप्पउ पावेहि ।। १९९ ।।' -वही ।
(ख) 'इंदियविसय चएवि वढ करि मोहहं परिचाउ ।
अणुदिणु झावहि परमपउ तो एहउ ववसाउ ।। २०३।।' -वही ।

८९ 'ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ।
लेष्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धिरूदाहृता ।। २९ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग २८ ।

९० 'किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः ।
सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ।। २८ ।।' -वही ।

अन्तरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि जो मुनि (अन्तरात्मा) इन्द्रियों के सोते हुए भी जागता है तथा आत्मा के द्वारा उस शुद्ध आत्मतत्त्व का दर्शन करता है, जो समस्त विकल्पों से रहित है, वही अन्तरात्मा कहलाता है।[६१] विद्वज्जन भी उसे ही आत्मदर्शी मानते हैं। आगे वे लिखते हैं – "तू अपनी आत्मा में स्थित होकर जो समस्त क्लेशों से रहित अमूर्तिक, परम उत्कृष्ट, निवृत्त, अविनाशी, निष्कलंक, निर्लेप एवं निर्विकल्प है, उस अतीन्द्रिय आत्मा के दर्शन कर।"[६२]

आचार्य शुभचन्द्र अन्तरात्मा के लिए सामान्यतः मुनि शब्द का प्रयोग करते हैं। वे लिखते हैं कि जहाँ संसार के प्राणी सोते हैं, वहाँ संयमी मुनि जागता है और अपनी आत्मा के द्वारा ही निर्विकल्प तथा निष्पन्द आत्मतत्त्व को जानता है। वे गीता के एक श्लोक को यथावत् ग्रहण करते हुए लिखते हैं कि जो समस्त

---

६१ (क) 'निःशेषक्लेश निर्मुक्तममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
निष्प्रपंच व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वामनि स्थितम् ।। ३४ ।।' –ज्ञानार्णव सर्ग १८ ।
(ख) 'इति प्रतिज्ञां प्रतिपद्य धीरः समस्तरागादि कलंक मुक्तः ।
आलम्बते धर्म्यमचंचलात्मा शुक्लं च यद्यस्ति बलं विशालं ।। १६ ।।' –वही सर्ग ३१ ।
(ग) 'स एव नियतं ध्येयः स विज्ञेयो मुमुक्षुभिः ।
अनन्यशरणीभूय तद्गतेणान्तरात्मना ।। ३२ ।।' –वही ।
(घ) 'यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरम् ।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम् ।। २७ ।।' –वही सर्ग ३२ ।
(च) 'संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः ।
बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम् ।। ११ ।।' –वही ।

६२ (क) 'निर्लेपो निष्कलः शुद्धोनिष्पन्नोऽयन्तनिवृतः ।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः ।। ८ ।।' –वही ।
(ख) 'कथं तर्हि पृथक् कृत्वा देहाद्यर्थकदम्बकात् ।
आत्मानमभ्यसेद्योगी निर्विकल्पमतीन्द्रियम् ।। ६ ।।' –वही ।
(ग) 'अपास्य बहिरात्मानं सुस्थिरेणान्तरात्मना ।
ध्यायेद्वि शुद्धमत्यन्तं परमात्मानमव्ययम् ।। १० ।।' –वही ।
(घ) 'बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः ।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्त भास्करैः ।। ७ ।।' –वही ।
(च) 'बाह्यात्मान पास्यैवमन्तरात्मा ततस्त्यजेत् ।
प्रकाशयत्ययं योगः स्वरूपं परमेष्ठिनः ।। २४ ।।' –वही ।

प्राणियों की दृष्टि में रात्रि है, उसमें संयमी मुनि जागता है और जब संसार के प्राणी जागते हैं तब वह उसे रात्रि समझता है।[६३] तात्पर्य यह है कि जहाँ संसार के प्राणी बाह्य विषयों में जाग्रत रहते हैं, वहाँ मुनि उन बाह्य विषयों से विमुख रहता है और जहाँ आत्मतत्त्व की अनुभूति में संसार के प्राणी प्रमाद करते हैं अर्थात् सोते हैं, वहाँ मुनि जागता है। इस प्रकार आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में अन्तरात्मा की प्रवृत्ति बहिरात्मा से बिलकुल भिन्न होती है।[६४] अन्तरात्मा यह मानती है कि मेरी आत्मा ही ज्ञानमय है, वही दर्शन है और वही चारित्र भी है – अन्य सभी बाह्य पदार्थ सांयोगिक हैं।[६५]

अन्तरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि जिसने यमादि का अभ्यास किया है एवं जो परिग्रह और ममता से रहित है; ऐसा रागादि क्लेशों से विमुक्त मुनि ही अपने मन को वश में करता है। क्योंकि जिसने मन को वशीभूत कर लिया है, उसने सम्पूर्ण विश्व को वशीभूत कर लिया है; किन्तु जिसने अपने मन को वशीभूत नहीं किया है, उसका अपनी इन्द्रियों

---

६३ (क) 'या निषा सर्वभूतेषु तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। ३७ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग १८ ।
(ख) 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ४४७ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।
(ग) भगवद्गीता ८/१७ ।

६४ (क) 'यद्यद्दृष्यमिदं रूपं तत्तदन्यन्न चान्यथा ।
ज्ञानवच्च व्यतीताक्षमतः केनाऽत्र वचयहम् ।। २५ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ३२ ।
(ख) 'यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरम् ।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम् ।। २७ ।।' -वही ।
(ग) 'यद्बोधे मया सुप्तं यद्बोधे पुनरूत्थितम् ।
तद्रूपं मम प्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमहं किल ।। ३१ ।।' -वही ।

६५ 'आत्मैव मम विज्ञानं दृगवृत्तं चेति निष्चयः ।
मत्तः सर्वेऽप्यमी भावा बाह्याः संयोगलक्षणाः ।। २६ ।।' -वही सर्ग १८ ।

को रोकना भी व्यर्थ है।[६६] क्योंकि मन की शुद्धता से ही दोषों का विलय होता है। जब मन राग-द्वेष में परिवर्तित नहीं होता है तभी वह अपने आत्मस्वरूप में लीन होता है और उससे ही आत्मा की सिद्धि होती है। वे कहते हैं कि मन की शुद्धि से ही जीवन की शुद्धता होती है। मन की शुद्धता के बिना तप आदि बाह्य क्रियाएँ वृथा हैं। उससे केवल काय को क्षीण करना है। वस्तुतः जिस मुनि का मन अपने आत्मस्वरूप में लीन हो गया हो, उसके चरण-कमल में तीनों ही जगत् सम्यक् प्रकार से लीन हो गये हैं। जिसने मन की निःशंकता को प्राप्त कर लिया है, वही मुनि मुक्ति-रूपी रमणी

---

६६ (क) 'सुसंवृतेन्द्रियग्रामे प्रसन्ने चान्तरात्मनि ।
क्षणं स्फुरति यत्तत्त्व तद्रूपं परमेष्ठिनः ।। ४४ ।।' - ज्ञानार्णव सर्ग ३२ ।
(ख) 'पृथगित्थं न मां वेत्ति यस्तनोर्वीतविभ्रमः ।
कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं न स मुच्येत बन्धनैः ।। ४७ ।।' -वही ।
(ग) 'मयि सत्यपि विज्ञानप्रदीपे विष्वदर्शिनि ।
किं निमज्जत्ययं लोको वराको जन्मकर्दमे ।। ४० ।।' -वही ।
(घ) 'यः सिद्धात्मा परः सोऽहं योऽहं स परमेष्वरः ।
मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन न चाप्यहम् ।। ४५ ।।' -वही ।
(च) निर्विकल्पं मनस्तत्त्वं न विकल्पैरभिद्रुतम् ।
निर्विकल्पमतः कार्यं सम्यक्तत्त्वस्य सिद्धये ।। ५० ।।' -वही ।
(छ) 'रागादिमल विष्लेषाद्यस्य चित्तं सुनिर्मलम् ।
सम्यक् स्वं स हि जानाति नान्यः केनापि हेतुना ।। ४९ ।।' -वही ।
(ज) 'आत्मानं सिद्धमाराध्य प्राप्नोत्यात्मापि सिद्धताम् ।
वर्तिः प्रदीपमासाद्य यथाभ्येति प्रदीपताम् ।। ६४ ।।' -वही ।
(झ) 'इति साधारणं ध्येयं ध्यानयोर्धर्मशुक्लयोः ।
विषुद्धिस्वामिभेदेन भेदः सूत्रे निरुपितः ।। १०४।।' -वही ।
(ट) 'अजिताक्षः कषायाग्निं विनेतुं न प्रभुर्भवेत् ।
अतः क्रोधादिकं जेतुमक्षराधः प्रषस्यते ।। १ ।।' -वही सर्ग २० ।

का वरण कर सकता है।[६७] चित्त की विशुद्धि ध्यान है; वही ज्ञान है और वही ध्येय है, जिसके प्रभाव से अविद्या को समाप्त कर जिनस्वरूप में स्थिर हुआ जाता है।[६८] मन की शुद्धता ही मोक्षमार्ग में गमन करानेवाली है। उस निर्मल दीपक को प्राप्त नहीं करने पर अनेक व्यक्ति मोक्षमार्ग से च्युत हो जाते हैं। जिन मुनियों के मन के विषय विलीन हो गये हैं, जो शान्त और अनासक्त हैं, वे अपने मन को अपनी आत्मा में स्थित करके अव्यय पद अर्थात् मोक्ष पद

---

६७ (क) 'मनोरोधे भवेद्रुद्धं विश्वमेव शरीरिभः ।
प्रायोऽसंवृतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः ।। ६ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग २२ ।
(ख) 'कलंकविलयः साक्षान्मनः शुद्ध्यैव देहिनाम् ।
तस्मिन्नपि समीभूते स्वार्थसिद्धिरुदाहृता ।। ७ ।।' -वही ।
(ग) 'ध्यानशुद्धि मनः शुद्धिः करोत्येव न केवलम् ।
विच्छिनत्त्यपि निःशंकः कर्मजालानि देहिनाम् ।। १५ ।।' -वही ।
(घ) 'मनः शुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः ।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ।। १४ ।।' -वही ।
(च) 'पृथक्करोति यो धीरः स्वपरावेकतां गतौ ।
स चापलं निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मनः ।। १३ ।।' -वही ।
(छ) 'तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्धयेयं तत्त्वमेव वा ।
येनाविद्यामतिक्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरीभवेत् ।। २० ।।' -वही ।
(ज) 'विभ्रमद्विषयारण्ये चलच्चेतोबलीमुखः ।
येन रूद्धो ध्रुवं सिद्धं फलं तस्यैव वांछितम्। । २३ ।।' -वही ।
(झ) 'असन्तोऽपि गुणाः सन्ति यस्यां सत्यां शरीरिणाम् ।
सन्तोऽपि यांविना यान्ति सा मनः शुद्धिः शस्यते ।। ३० ।।' -वही ।
(ट) 'यदसाध्यं तपोनिष्ठैर्मुनिभिर्वीतमत्सरैः ।
तत्पदं प्राप्यते धीरैश्चित्तप्रसरबन्धकैः ।। २५ ।।' -वही ।
(ठ) 'अनन्तजन्मजानेक कर्मबन्ध स्थितिर्दृढा ।
भावशुद्धिं प्रपन्नस्य मुनेः प्रक्षीयते क्षणात् ।। २६ ।।' -वही ।
(ड) 'यस्य चित्तं स्थिरीभूतं प्रसन्नं ज्ञानवासितम् ।
सिद्धमेव मुणेस्तस्य साध्यं किं कायदण्डनैः ।। २७ ।।' -वही ।
(ढ) 'तपः श्रुतयमज्ञान-तनुक्लेषासंश्रयम् ।
अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुषखण्डनम् ।। २८ ।।' -वही ।

६८ 'एकैव हि मनः शुद्धिर्लोकाग्रपथदीपिका ।
स्खलितं बहुभिस्तत्र तामनासाद्य निर्मलाम् ।। २६।।' -वही ।

को प्राप्त होते हैं।[९९]

## ४.२.७ अमितगति के योगसार के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

अमितगति ने योगसार में चाहे अन्तरात्मा शब्द का स्पष्ट प्रयोग न किया हो, किन्तु उसे ज्ञानी या योगी के रूप में अभिव्यक्त किया है और इसी आधार पर उसके लक्षणों का भी चित्रण किया है। वे लिखते हैं कि ज्ञानी पुरुष विषयों का सम्पर्क होने पर भी उनसे लिप्त नहीं होता है – जैसे कीचड़ के मद में पड़ा हुआ सोना उससे लिप्त नहीं होता। विषयों के प्रति राग से रहित योगी उनको जानता हुआ भी उनसे कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता।[१००] ज्ञानी सकल द्रव्यों को जानते हुए भी उनका वेदन नहीं करता, जबकि अज्ञानी उन सबका वेदन करते हुए भी उन सबको नहीं जानता है। इस प्रकार अमितगति की दृष्टि में ज्ञान और अज्ञान में अन्तर है। उनके अनुसार वस्तु जिस रूप में स्पष्ट है, उसे उस रूप में जानना ज्ञान है और रागादि भाव से उससे जुड़ना या वेदन करना अज्ञान है।[१०१] अमितगति यह मानते हैं कि पर-पदार्थ आत्मा का उपकार या अपकार करने में असमर्थ हैं। अतः ज्ञानीजनों को उन पर-पदार्थों के प्रति राग-द्वेष नहीं करना चाहिये। उसे यह विचार करना चाहिए कि शत्रु-मित्र, माता-पिता, पत्नी, भाई और स्वजन

---

९९ 'विलीनविषयं शान्तं निःसंग त्यक्तविक्रियम् ।
स्वस्थं कृत्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम् ।। ३३ ।।' –वही ।

१०० (क) 'दुरितानीव न ज्ञानं निर्वृतस्यापि गच्छति ।
कांचनत्य मले नष्टे कांचनत्वं न नश्यति ।। २१ ।।' –योगसारप्राभृत अ. ७ ।
(ख) 'ज्ञानादि-गुणाभावे जीवस्यास्ति व्यवस्थितः ।
लक्षणापगमे लक्ष्यं न कुत्राप्य वतिष्ठते ।। २२ ।।' –वही ।
(ग) 'ज्ञानी विषयसंगेऽपि विषयैर्नैवलिप्यते ।
कनकं मलमध्येऽपि न मलैरूपलिप्यते ।। १९ ।।' –वही अ. ४ ।

१०१ (क) 'निग्रहानुग्रहो कर्तुं कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मनः ।
रोष-तोषौ न कुत्रापि कर्तव्याविति तात्त्विकैः ।। १० ।।' –वही अ. ५ ।
(ख) 'परस्याचेतनं गात्रं दृष्यते न तु चेतनः ।
उपकारेऽपकारे क्व रज्यते क्व विरज्यते ।। ११ ।।' –वही ।

सब मेरे शरीर के प्रति निग्रह, अनुग्रह अथवा उपकार या अपकार करते हैं, मेरी आत्मा के प्रति नहीं और यह शरीर आत्मा से भिन्न है। अतः शत्रुओं के प्रति द्वेष और स्वजनों के प्रति राग करना उचित नहीं है।[१०२] वस्तुतः जो मिथ्याज्ञान को छोड़कर सम्यग्ज्ञान में तत्पर होता है और आत्मा के द्वारा आत्मा को जानता है, वही कर्मबन्ध का निरोध करता है और ऐसी आत्मा ही योगी या अन्तरात्मा की कोटि में आती है। आत्मा के लक्षणों का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं कि जो योगी (अन्तरात्मा) राग रहित होकर आत्मतत्त्व तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप मोक्षमार्ग को सम्यक् प्रकार से जानता है, वही अपनी आत्मा को पापों से बचा लेता है।[१०३] इस प्रकार जो योगी आत्मतत्त्व में होकर कषाय आदि कल्मषों को दूर करके सदैव आत्मा के ध्यान में ही निरत रहता है, वही अन्तरात्मा है। जो योगी आत्मतत्त्व में स्थित होकर संयम का परिपालन करता है, वह कर्म-निर्जरा करते हुए मुक्ति को प्राप्त होता हैं।[१०४] जो आत्मा परद्रव्य से सर्वथा विमुख है, उसे परद्रव्य के त्याग की इच्छा से आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिये। इस प्रकार स्वतत्त्व में अनुरक्ति और परद्रव्यों से विरक्ति ही समस्त कर्ममल की शुद्धि का उपाय है। इसलिए शुद्धि की इच्छा रखने वाले साधक को आत्मतत्त्व की उपासना और आराधना में ही अपना पुरुषार्थ करना चाहिये।[१०५]

---

१०२ (क) 'मत्तश्च तत्त्वतो भिन्नं चेतनात्तदचेतनम् ।
द्वेषरागौ ततः कर्तुं तुं युक्तौ तेषु कथं मम ।। १३ ।।' -वही ।
(ख) 'शत्रवः पितरौ दाराः स्वजना भ्रातरोऽङ्गजाः ।
निगृह्णन्त्यनुगृह्णन्ति शरीरं, चेतनं न मे ।। १२ ।।' -वही ।

१०३ 'आत्मतत्त्वंपयहस्तित-रागं, ज्ञान-दर्शन-चरित्रमयं यः ।
मुक्तिमार्गमवगच्छति योगी, संवृणोति दुरितानि स सद्यः ।। ६२ ।।' वही ।

१०४ (क) 'स्पृश्यते शोध्यते नात्मा मलिनेनामलेन वा ।
पर-द्रव्य-बहिर्भूतः परद्रव्येण सर्वथा ।। २६ ।।' -वही अ. ६ ।
(ख) 'स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्य-जिहासया ।
न जहाति परद्रव्यआत्मरूपाभिभावकः ।। ३० ।।' -वही ।

१०५ 'ज्ञानेन वासितो ज्ञाने नाज्ञानेऽसौ कदाचन ।
यतस्ततो मतिः कार्या ज्ञाने शुद्धि विधित्सुभिः ।। ४७ ।।' -वही ।

## ४.२.८ गुणभद्र एवं प्रभाचन्द्राचार्य के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

प्रभाचन्द्राचार्य गुणभद्र के आत्मानुशासन की टीका में अन्तरात्मा का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि अन्तरात्मा को जब सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हो जाती है तब उसे 'स्व' और 'पर' का विवेक उत्पन्न होता है और उसके आचरण में भी नया परिवर्तन आता है। वह आत्म-चिन्तन और आत्महित का पुरुषार्थ करती है। अन्तरात्मा के चारित्रमोहनीय कर्म का उदय विद्यमान रहने से वह विषयोपभोग में भी प्रवृत्ति तो करती है, किन्तु उसमें लिप्त नहीं होती - आसक्ति नहीं रखती। वह रागादि भाव को हेय समझती है, उपादेय नहीं। अन्तरात्मा सांसारिक कार्यों से विरक्त होकर तप-संयम को ग्रहण करती है। वह सुन्दर संयम का परिपालन करती हुई कर्म-निर्जरा करती है एवं नये कर्मों का संवर करती हुई चार घातीकर्मों का क्षय करके अर्हन्त अवस्था को उपलब्ध करती है। तब उसे सकल परमात्मा कहा जा सकता है। पश्चात् वह शेष अघातिया कर्मों को भी नष्ट करके निकल परमात्मा (सिद्ध परमात्मा) हो जाती है। इस प्रकार अन्तरात्मा जाग्रत होते हुए परमात्मदशा की और गतिशील होती है।[१०६]

## ४.२.९ हेमचन्द्राचार्य के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप

योगशास्त्र में अन्तरात्मा का निर्वचन करते हुए हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं कि अन्तरात्मा विरक्त भावों से यह चिन्तन करती है कि यह शरीर तो किराये का मकान है। इसका क्या भरोसा? एक दिन इसे खाली करना ही होगा।[१०७] यह आत्मा पुद्गल के स्वरूप, सुख-दुःख और संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद नहीं करती है।

---

[१०६] आत्मानुशासनम् श्लोक १९३, संस्कृत टीका पृ. १८५-८६ ।

[१०७] योगशास्त्र १२/७ ।

अन्तरात्मा अनासक्त होकर बाह्य साधनों से ऊपर उठकर, भीतर की गहराई में उतरकर चैतन्य प्रभु का ध्यान करती हुई आत्मस्वरूप की अनुभूति करती है।[१०८] अन्तरात्मा की जीवनशैली को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं कि यह आत्मा निरन्तर उदासीन भाव में तल्लीन रहती हुई अपने शुद्धस्वरूप का ध्यान करती है।[१०९] वे लिखते हैं कि अन्तरात्मा यह चिन्तन करती है कि वह मंगलमय शुभ प्रभात कब आयेगा, जब मैं सभी परपदार्थों के प्रति आसक्ति का त्यागी, जीर्ण-शीर्ण वस्त्रधारी होकर मलिन शरीर की भी परवाह न करते हुए मधुकरी भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर मुनिचर्या को ग्रहण करूंगी। अन्तरात्मा अन्तर की गहराई में उतरते हुए ऐसा सोचती है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप जैन धर्म से रहित होकर मैं चक्रवर्ती भी बनना नहीं चाहती। गुरू भगवन्त के चरणरज का स्पर्श करती हुई ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप त्रिविध रत्नत्रयी योगों का बार-बार पुरुषार्थ करके जन्म-मरण के चक्र को समाप्त करने में कब मैं समर्थ बनूंगी? कब मैं मोक्षरूपी महल में प्रवेश के हेतु गुणस्थान और गुणश्रेणी रूपी निःश्रेणी पर अग्रसर होकर आनन्दरूपी लताकन्द के समान जिनधर्म के प्रति अनुराग, उत्कृष्ट चारित्र, कायोत्सर्ग आदि मनोरथों से परम समाधिरूप परमानन्द को प्राप्त करूंगी।[११०]

## ४.२.१० बनारसीदासजी की दृष्टि में अन्तरात्मा का स्वरूप एवं लक्षण

बनारसीदासजी समयसार नाटक के साध्य-साधक द्वार में अन्तरात्मा के तत्त्वों को अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं कि जैसे जलवृष्टि जगत् के जीवों के लिए हितकारी लगती है; वैसे ही अन्तरात्मा को सद्गुरूजनों का उपदेश या उनकी वाणी मेघ की जलवृष्टि की तरह हितकारी प्रतीत होती है।[१११] अन्तरात्मा सम्पत्ति

---

[१०८] वही १२/१०।

[१०९] वही १२/१९-२१।

[११०] वही ३/१४१-४६।

[१११] 'ज्यौं वरषै वरषा समै, मेघ अखंडित धार।
त्यौं सदगुरू वानी खिरै, जगत जीव हितकार ।।६।।'-समयसार नाटक (साध्य साधक द्वार)।

और परिजनों से मोह को हटाने का प्रयास करती है।[११२] वह यह मानती है कि ये सब छाया के समान हैं, ये प्रति क्षण घटते बढ़ते रहते हैं – इनका कोई भरोसा नहीं है। इनसे नेह लगाने से कभी सुख या शान्ति की प्राप्ति नहीं होती।[११३] वह यह सोचती है कि सगे सम्बन्धियों से मेरा सम्बन्ध नहीं है। ये सभी मतलब के साथी हैं। यह शरीर भी जड़ है और तू चैतन्य है। इससे पृथक् है। इसलिए आत्महित का चिन्तन करते हुए राग-द्वेष के धागों को तोड़कर मुझे अपना आत्मबल प्रकट करना ही है। तभी अव्याबाध या अक्षयसुख की उपलब्धि हो सकती है।[११४] अन्तरात्मा अज्ञानी जीव की तरह इन्द्रादि उच्च पद की अभिलाषा नहीं करती। वह तो सदैव समता रस में झूलती रहती है।[११५] वह यह सोचती है कि यदि हंसी में सुख मानूं तो हंसी में तकरार खड़ी होने की सम्भावना रहती है। यदि विद्या में सुख मानूं तो विद्या में विवाद का निवास होता है। यदि शरीर में सुख मानूं तो जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है। यदि शरीर की शुद्धि में सुख मानूं तो शरीर-शुद्धि में ग्लानि का वास है। यदि सुन्दरता में सुख मानूं तो देह क्षीण होती रहती है। यदि भोगों में सुख मानूं तो वे रोगों के कारण हैं। यदि इष्ट संयोग में सुख मानूं तो वे वियोग के कारण हैं। इसलिए अन्तरात्मा को इन सभी में दुःख एवं अशान्ति का आभास होता है। उसका

---

११२ 'चेतनजी तुम जागि विलोकहु, लागि नहे कहा मायाके तांई ।
आए कहींसौ कहीं तुम जाहुगे, माया रमेगी जह्मँकी तहांई ।।
माया तुम्हारी न जाति न पांति न, वंसकी वेलि न अंसकी झांई ।
दासी कियै विनुलातनि मारत, ऐसी अनीति न कीजै गुसांई ।। ७ ।।' -वही ।

११३ 'माया छाया एकहै, घटे बढ़े छिन मांहि ।
इन्हकी संगति जे लगै, तिन्हहि कहूं सुख नांहि ।। ८ ।।' -वही ।

११४ 'लोकनिसौं कछु जातौ न तेरौ न, तोसौं कछु इह लोककौ नातौ ।
ए तौ रहै रमि स्वारथके रस, तु परमारथके रस मातौ ।।
ये तनसौ तनमै तनसे जड़, चेतन तू तिनसौं नित हांतौ ।
होहु सुखी अपनौ बल के फेरिकै, राग अवरोधकौ तांतौ ।। ९ ।।' -वही ।

११५ 'जे दुरबुद्धि जीव, ते उतंग पदवी चहैं ।
जे समरसी सदीव, तिनकौ कछू न चाहिये ।। १० ।।' -वही ।

मानना है कि समताभाव में ही सुख का उपाय है।"[११६] यहाँ पर बनारसीदासजी अन्तरात्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि जिसके हृदय मे मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का नाश हो गया है और सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य प्रकाशित हो चुका है; जिनकी मोह-निद्रा लुप्त हो गई है; जो संसार दशा से विरक्त हो गए हैं, स्वस्वरूप को जानने के लिए प्रयासरत हैं - वे ही आत्माएँ अन्तरात्मा हैं।"[११७] अन्तरात्मा सम्यग्दर्शनरूपी किरण से प्रकाशित हो मोक्षमार्ग की ओर गतिशील होती है और कर्मों का नाश करती हुई परमात्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिए तत्पर रहती है।"[११८] वह यह सोचती है कि जिस घर में दीपक जलाया जाता है, उसी घर में प्रकाश होता है। ठीक वैसे ही अन्तरात्मा विभाव दशा को त्यागकर आध्यात्मिक विकास करती हुई सम्यग्दर्शन के दीप को जलाकर आत्मपथ को प्रकाशित

---

११६ 'हांसीमैं विषाद बसै विद्यामैं विवाद बसै, कायामैं मरन गुरू वर्तनमैं हीनता ।
सुचिमैं गिलानि बसै प्रापतिमैं हानि बसै, जैमैं हारि सुंदर दसामैं छबि छीनता ।।
रोग बसै भोगमैं संजोगमैं वियोग बसै, गुनमैं गरब बसै सेवा मांहि हीनता ।
और जग रीति जेती गर्भित असाता सेती,साताकी सहेली है अकेली उदासीनता।।११।।'
-वही ।

११७ 'जाकौ अधो अपूरब अनिवृति करनकौ, भयौ लाभ भई गुरूवचनकी बोहनी ।
जाकै अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, अनादि मिथ्यात मिश्र समकित मोहनी ।।
सातौं परकिति खपां किंवा उपसमी जाके, जगी उर मांहि समकित कला सोहनी ।
सोई मोख साधक कहायौ ताकै सरवंग, प्रगटी सकति गयन थानक अरोहनी ।।४।।' -वही ।

११८ (क) 'ग्यान द्रिष्टि जिन्हके घट अंतर, निरखै दरव सुगुन परजाइ ।
जिन्हकैं सहजरूप दिन दिन प्रति, स्यादवाद साधन अधिकाइ ।।
जै केवलि प्रनीत मारग मुख, चितैं चरन राखैं ठहराइ ।
ते प्रवीन करि खीन मोहमल, अविचल होहिं परमपद पाइ ।। ३५ ।।'
-समयसार नाटक (साध्य साधक द्वार) ।

(ख) 'चाकसौं फिरत जाकौ संसार निकट आयौ, पायौ जिन सम्यक मिथ्यात नास करिकै ।
निरदुंद मरसा सूभूमि साधि लीनी जिन, कीनी मोखकारन अवस्था ध्यान धरिकै ।।
सो ही सुद्ध अनुभौ अभ्यासी अविनासी भयौ, गयौ ताकौ परम भरम रोग गरिकै ।
मिथ्यामती अपनौ सरूप न पिछानै तातैं, डोलै जगजालमैं अनंत काल भरिकै ।।३६।।'
-वही ।

करती है।"[११९]

## ४.२.११ आनन्दघनजी के अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप

जैनदर्शन में साधना के क्षेत्र में अन्तरात्मा की विशिष्ट महत्ता है। अन्तरात्मा साधक है; उसका साध्य अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति है। आज तक जितने भी जीवों ने परमात्मपद प्राप्त किया है, उन सभी ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना की है। उन सभी ने निज अन्तरात्मा से ही परमात्मा को प्राप्त किया है। अतः ध्यान करने से पूर्व परम ध्येय रूप निज आत्मा के भगवान् स्वरूप को अन्तरात्मा कहा गया है। आनन्दघनजी ने बहिरात्मा को अन्तरात्मा की ओर अग्रसर बनने की प्रेरणा देते हुए कहा है कि -

'या पुद्गल का क्या विश्वासा है सुपने का वास रे,
चमत्कार बिजली दे जैसे - पानी बिच पतासा।
या देही का गर्व न करना जंगल होयगा वासा।।
जूठे तन धन जूठे जीवन जूठे हैं घर वासा।
आनन्दघन कहे सबजी जूठे साचा शिवपुर बासा।।'[१२०]

अर्थात् इस देह का क्या भरोसा! यह जीवन तो स्वप्नवत् विद्युत की क्षणिक चमक के समान है। जैसे पानी में डाला गया बताशा समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार यह पुद्गल निर्मित देह भी क्षणभंगुर है। चाहे हमारी आत्मा अजर-अमर हो, अविनाशी हो, किन्तु यह जीवन अमर नहीं है। किसी भी दिन देखते ही देखते कब यह देह विलीन हो जाती है, चलते-चलते श्वासों का धागा कब टूट जाय, कब प्राण-पखेरू उड़ जाय, कब जीवन का यह दीप बुझ जाय, इसका कोई निश्चय नहीं है। पुनः वे कहते हैं कि यदि शरीर नश्वर है तो इस पर गर्व करना या इसे अपना मानना वृथा

---

[११९] 'जगी सुद्ध समकित कला, बगी मोख मग जोइ।
वहै करम चूरन करै, क्रम क्रम पूरन होइ।। ३९।।
'जाके घठ ऐसी दसा, साधक ताकौ नाम।
जैसे जो दीपक धरै, सो उजियारौ धाम।। ४०।।' -वही।

[१२०] आनन्दघन ग्रन्थावली पद १०७।

है। अन्तरात्मा इस प्रकार चिन्तन करती हुई संसार से विरक्त होकर आत्म उपलब्धि के लिये शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान करती है। यहाँ पर आनन्दघनजी ने संसार की असारता बताकर जीव को अन्तर्मुखी बनने की प्रेरणा दी है। यहाँ आनन्दघनजी बहिरात्मा को अन्तरात्मा बनने के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं कि पुद्गल की अनित्यता एवं शरीर की क्षण भंगुरता को जाने बिना सम्यग्दर्शन सम्भव नहीं है। जब शरीर आदि की अनित्यता की प्रतीति होती है, तब ही अन्तर्दृष्टि जाग्रत होती है और आत्म-अनात्म विवेकरूपी दीपक प्रज्वलित होता है। जिसमें ऐसी विवेक दृष्टि जाग्रत हो गई है, वही अन्तरात्मा है।

आनन्दघनजी ऋषभजिन स्तवन में अन्तरात्मा के लक्षण की अभिव्यक्ति करते हुए लिखते हैं :

'चित्त प्रसन्न रे पूजन फल कह्यु रे पुजा अखंडित एह,
कपट रहित थई आतम अरपणा रे, आनन्दघन पद रेह।।'[१२१]

अर्थात् कपट रहित होकर अपने शुद्ध स्वस्वरूप में निमग्न होना, यही परमात्मा की उपासना का प्रतिफल है। उसी व्यक्ति की पूजा या आराधना सार्थक है, जिसने अपनी अन्तरात्मा को परमात्मा के चरणों में अर्पित कर दिया हैं। ऐसा व्यक्ति ही चित्त की स्थिरता के द्वारा परमानन्द को प्राप्त करता है। यहाँ आनन्दघनजी यह बता रहे हैं कि जब अन्तरात्मा अपने शुद्ध परमात्मस्वरूप में निमग्न होती है, तभी उसकी आराधना सफल होती है और वह आत्मिक आनन्द को प्राप्त करती है :

'युंजन करणे हो अंतर तुझ पड़यो रे, गुण करणे करि भंग।
ग्रन्थ उक्ते करि पंडित जन कह्यो रे अन्तर भंग सुअग।।'[१२२]

अर्थात् हे भगवन्! आपमें और मुझमें जो अन्तर है वह कर्मबन्ध के हेतुओं की उपस्थिति के कारण है। यदि कर्मबन्ध के हेतु रूप मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को समाप्त कर दिया जाय, तो आपमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं रह पायेगा अर्थात् मैं परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लूंगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि एक दिन यह अन्तर अवश्य समाप्त हो जायेगा, मंगल ध्वनि

---

[१२१] आनन्दघन चौवीसी - ऋषभजिन स्तवन १/६ ।

[१२२] वही - पद्मप्रभुजिन स्तवन ६/५ ।

होगी और यह आत्मा परमात्मस्वरूप में निमग्न होकर परम आनन्द की अनुभूति करेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आनन्दघनजी की दृष्टि में अन्तरात्मा की साधना की सार्थकता परमात्मपद की प्राप्ति में निहित है। उनके अनुसार जो परमात्मस्वरूप की उपलब्धि में सतत् रूप से साधनारत है, वही अन्तरात्मा है।

## ४.२.१२ देवचन्द्रजी के अनुसार आत्मा का स्वरूप

देवचन्द्रजी अन्तरात्मा का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि अन्तरात्मा इन्द्रिय-विषयों के राग-द्वेष का त्याग करती है। वह संसार को हेय और आत्म-रमणता को ध्येय मानती है। अन्तरात्मा स्वयं को जानती है।[१२३] देवचन्द्रजी के अनुसार देह-वृद्धि से बन्धन होता है और आत्म-वृद्धि से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अन्तरात्मा निम्न रूप से चिन्तन करती है :

'निज अज्ञानेज कर्म जाय निज ज्ञान थी,
कर्म तूटे तपथी, ते गले ध्यान थी।
देह बुद्धि थी बन्ध, मोक्ष आतम गुणे।'[१२४]

अर्थात् जिस साधक ने आत्मज्ञान की ज्योति जाग्रत कर ली है, वह साधक परम आनन्द में झूलता है। प्रतिकूल परिस्थिति में वह समभाव से जीता है। अन्तरात्मा संशय का त्यागकर एकाग्रचित्त से आत्मचिन्तन करती है। अध्यात्मगीता में उनका कथन है कि -

'आत्म ज्ञान गुण ज्योति सदा आनंद छे
कर्म उदय वश दुःख तोहि सुख कन्द छे
ज्ञेय, ध्येय निज देह जाणि संशय हरी
देवचन्द्र सुप्रीतिधरो मन थिर करी।।'[१२५]

अर्थात् हे अन्तरात्मा! जिस आत्मा ने अपने निर्मल शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष कर लिया है - जिस सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में सम्पूर्ण लोकालोक झलकता है, उसी परमात्मा का तू ध्यान कर। देवचन्द्रजी

---

१२३ ध्यान-दीपिका चतुष्पदी ४/८/३-६ ।
१२४ वही ४/८/१५-१६ ।
१२५ ध्यान-दीपिका चतुष्पदी ४/८/१८-१९ ।

अन्तरात्मा को जाग्रत करते हुए रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देते हैं। जो आत्मा बाह्यदशा का त्याग कर अन्तर आत्मा में रमण करती है, वही अन्तरात्मा है।

## ४.२.१३ श्रीमद् राजचन्द्रजी के अनुसार अन्तरात्मा

श्रीमद् राजचन्द्रजी 'श्रीसद्गुरूभक्तिरहस्य' में अन्तरात्मा की आत्म-पीड़ा की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि हे प्रभु! मैं अनन्तकाल से अज्ञानतावश संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ, जिसका कोई ओर-छोर नहीं है। मैं कर्मों के अधीन होकर जन्म-मरण के जाल में उलझकर दुःखी हो रहा हूँ। फिर भी मुझे सत्-स्वरूप का भान नहीं हुआ अर्थात् उस शुद्धस्वरूपी परमात्मा की मैंने अभी तक पहचान नहीं की एवं समकितरूपी बोधि-बीज को भी प्राप्त नहीं किया। ज्ञानी पुरुषों की आज्ञानुसार मैंने निज स्वरूप को पाने हेतु प्रयत्न भी नहीं किया। न मुझे वैराग्य हुआ और न ही पर को अपना मानने का अहंकार छूटा।[१२६]

अन्तरात्मा यह चिन्तन करती है कि ज्ञानी सन्त जिन्होंने मुझे बोध देकर ज्ञान प्राप्ति का मार्गदर्शन कराया, उनकी सेवा भी मैंने पूर्ण समर्पणभाव से नहीं की अर्थात् गुरू सेवा से मैं वंचित रहा। वे आगे लिखते हैं - "हे प्रभु! मैं बार-बार तुम से यही प्रार्थना करता हूँ कि सद्गुरू सन्त एवं परमात्मा में मेरी अटूट दृढ़ श्रद्धा हो, आप दोनों में मैं किसी प्रकार का भेद ही नहीं मानूं। जो आत्मज्ञानी सद्गुरू हैं, वे ही परमात्मस्वरूप हैं। मैं निशंकभाव से उनकी शरण में रहूं।" ऐसे सद्गुरू के चरणों की सेवा से ही परमात्मपद की प्राप्ति सम्भव होती है। पुनः अन्तरात्मा यह भी चिन्तन करती है कि हे प्रभु! शुद्ध परमात्मस्वरूप में मेरी दृढ़ श्रद्धा हो।[१२७]

श्रीमद् राजचन्द्रजी लिखते हैं कि अन्तरात्मा सद्गुरू की भक्ति

---

१२६ 'अनन्त कालथी आथड्यो, विना भान भगवान।
सेव्या न - हि गुरू सन्तने, मूक्यूं नहि अभिमान ।। १५ ।।' -श्रीसद्गुरूभक्तिरहस्य।

१२७ 'पडी-पडी तुज पदपंकजे, मांगु अे ज।
सद्गुरू संत स्वरूप तुज, अे दृढ़ता करी दे ज ।। २० ।।' -वही।

के परिणामस्वरूप आत्मबोध को प्राप्त करती है। जिन ज्ञानियों ने देह और आत्मा का भेदज्ञान अर्थात् अन्तरात्मा को देह से भिन्न समझ लिया है, उन्होंने अपने परमात्मस्वरूप को ही जान लिया है। वे लिखते हैं कि जब आत्मस्वरूप की यथार्थ रूप से पहचान होती है, तब सर्वप्रथम दर्शनमोह चला जाता है एवं सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति से चारित्रमोह का वर्चस्व स्वतः ही घट जाता है। उस समय अन्तरात्मा अपने शुद्धस्वरूप का ध्यान करती है।[१२८] विक्षेपों को उत्पन्न करने वाले अनेक निमित्त या भयंकर परीषह आने पर भी वह न तो घबराती है और न ही उसकी आत्म-निर्भरता टूटती है। वह न तो संकल्प-विकल्प करती है और न ही हर्ष विषाद करती है, अपितु स्वस्वरूप में निमग्न रहती हुई निर्विकल्प दशा को प्राप्त करती है।[१२९] अन्तरात्मा मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को आत्म-उपयोगयुक्त करती है। वह शुद्ध-स्वरूपी आत्मा को साध्य बनाकर जिनाज्ञानुसार अपना उपयोग बाह्य विषयों में न लगाकर अन्तरात्मा में लगाती है। वह निज शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिर होती है।[१३०] श्रीमद् राजचन्द्रजी अन्तरात्मा का विवेचन करते हुए लिखते हैं : हे प्रभु! मुझे ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा जब मैं बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रन्थिभेद करूंगा अर्थात् धन-धान्य आदि बाह्य विषयों तथा अभ्यान्तर मिथ्यामान्यता, वासना, कषायादि से मुक्त होउँगा। इस प्रकार अन्तरात्मा सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र रूप मोक्षपथ का वरण करती है। वस्तु का स्वरूप जैसा है, उसे वैसा जानकर वह उसमें स्थिर होती है।[१३१] अन्तरात्मा जगत् के सर्व पदार्थों के प्रति उदासीन होती है। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखती है। वह देह को

---

१२८ 'दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोधजे देहभिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारित्र मोह विलोकिये, वर्ते एवं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो ।।३।।'-अपूर्वअवसर ।

१२९ 'आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी, मुख्यपले तो वर्ते देहपर्यन्त जो;
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी, आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो ।। ४ ।।' -वही ।

१३० 'संयमना हेतुथी योगप्रवर्तना, स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;
ने पण क्षण-क्षण घटती जाती स्थितिमां अंते थाय निज स्वरूपमां लीन जो ।। ५ ।।'
-अपूर्वअवसर ।

१३१ 'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे? क्यारे थईशुं बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रंथ जो;
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने, विचरशुं देवचन्द्रजी महत्पुरूषने पंथ जो ।। १ ।।' -वही ।

साधन रूप मानती है, क्योंकि उससे मोक्ष के कार्य को सिद्ध कर लेना चाहती है। अन्तरात्मा की रुचि संयम में होती है – देह में उसका ममत्व नहीं होता।"[१३२]

## ४.३ अन्तरात्मा के प्रकार

आत्मिक गुणों के विकास की दृष्टि से कार्तिकेयानुप्रेक्षा,[१३३] द्रव्यसंग्रह टीका[१३४] एवं नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका[१३५] में अन्तरात्मा के तीन भेद उपलब्ध होते हैं :

१. जघन्य अन्तरात्मा (अविरतसम्यग्दृष्टि नामक ४था गुणस्थान);
२. मध्यम अन्तरात्मा (५वें देशविरत से लेकर ११वें उपशान्तमोह गुणस्थान तक); और
३. उत्कृष्ट अन्तरात्मा (क्षीण कषाय नामक १२वां गुणस्थान)।

आचार्य पूज्यपाद ने सत्यशासन परीक्षा में क्षीणकषाय को ही उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने तो नियमसार की गाथा क्रमाँक १४९ में अन्तरात्मा और बहिरात्मा के अन्तर को स्पष्ट करते हुए मात्र यह कहा है कि जो श्रमण आवश्यक क्रियाओं से युक्त है, वही अन्तरात्मा है।[१३६] प्रस्तुत गाथा की तात्पर्यवृत्ति में मलधारीदेव पद्मप्रभ ने अन्तरात्मा के प्रकारों का वर्णन किया है पर मूलगाथा में इस सम्बन्ध में कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं होता। मूलगाथा तो केवल आवश्यक क्रियाओं की अपेक्षा से अन्तरात्मा और बहिरात्मा के लक्षणों का निरूपण करती है। फिर भी पद्मप्रभदेव यहाँ पर परम्परा के अनुसार तीन प्रकार की अन्तरात्माओं का उल्लेख करते हैं। वे लिखते हैं कि अभेद एवं अनौपचारिक दृष्टि से रत्नत्रयात्मक स्वात्मानुष्ठान में नियत परमावश्यक कर्म से अनवरत युक्त परम

---

१३२ 'सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी, मात्रं देह ते संयम हेतु होय जो;
अन्यकारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं, देहे पण किंचित्मूर्च्छा नव जोयजो ।। २ ।।' –वही ।

१३३ कार्तिकेयानुप्रेक्षा १९७ ।

१३४ द्रव्यसंग्रह टीका गा. १४ ।

१३५ नियमसार तात्पर्यवृत्ति टीका गा. १४९ ।

१३६ 'जोधम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा ।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ।। १५१ ।।' -नियमसार तात्पर्यवृत्ति टीका ।

श्रमण सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा होती है। वह सोलह कषायों से रहित और क्षीणमोहपद (गुणस्थान) की धारक होती है। अविरतसम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थानवर्ती) को जघन्य अन्तरात्मा कहा गया है। इन दोनों के मध्य रहे हुए सभी मध्यम अन्तरात्मा कहे जाते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत विवेचन में गुणस्थानों के आधार पर अन्तरात्मा का त्रिविध विभाजन किया गया है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है। देशविरतसम्यग्दृष्टि नामक पंचम से लेकर उपशान्तमोह नामक ११वें गुणस्थान तक स्थित आत्माएँ मध्यम अन्तरात्मा कही गईं हैं। बारहवें क्षीणमोह नामक गुणस्थान में स्थित आत्मा को सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा कहा गया है।

जैन परम्परा में साधना का प्रवेशद्वार सम्यग्दर्शन है। साधना के क्षेत्र में में गतिमान साधक के दो प्रकार हैं – श्रमण एवं साधक। साधक का विभाजन चारित्र के आधार पर किया गया है। आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान एवं धर्म पर अविचल श्रद्धा रखना श्रमण और श्रावक दोनों के लिए अनिवार्य है। श्रावकाचार श्रावक के लिए आचार आगार धर्म तथा श्रमणाचार श्रमण के लिए आचार अनगार धर्म कहलाता है।

## ४.३.१ अविरतसम्यग्दृष्टि तथा देशविरत श्रावक का स्वरूप एवं लक्षण :

(क) अविरतसम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा कैसे है?

अविरतसम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं जिसका दृष्टिकोण तो सम्यक् होता है किन्तु आचार सम्यक् नहीं होता। उसके आगे लगा हुआ अविरत विशेषण इसी तथ्य को सूचित करता है कि वह सत्य को जानते हुए भी उसका आचरण नहीं कर सकता है। गुणस्थानों की अपेक्षा से अन्तरात्मा के इन उप-प्रकारों में सर्वप्रथम अविरतसम्यग्दृष्टि का क्रम आता है। अविरतसम्यग्दृष्टि को जघन्य अन्तरात्मा कहा गया है क्योंकि उसका दृष्टिकोण सम्यक् होते हुए भी आचार सम्यक् नहीं होता है। वह सत्य को जानते हुए उसे जी नहीं सकता है। आचार की अपेक्षा से वह अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय, उपशम या क्षयोपशम तो करता है, किन्तु अप्रत्याख्यानी आदि

कषायों पर नियन्त्रण रखने में असमर्थ होता है। वह पाप प्रवृत्तियों से पूरी तरह ऊपर उठ नहीं पाता है। उसको अन्तरात्मा केवल इसीलिए कहा जाता है कि उसमें आत्माभिरुचि होती है। वह अपने आचार पक्ष की कमियों को अपनी आचार सम्बन्धी कमजोरी के रूप में ही देखता है। यही कारण है कि उसे जघन्य अन्तरात्मा कहा जाता है।

अन्तरात्मा की इन चर्चाओं के प्रसंग में गुणस्थानों की अपेक्षा से भी विचार किया गया है। अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा को जघन्य अन्तरात्मा और देशविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर उपशान्तमोह गुणस्थानवर्ती तक की सभी आत्माओं को मध्यम अन्तरात्मा कहा गया है। इसी क्रम में क्षीणकषाय नामक १२वें गुणस्थानवर्ती आत्माओं को उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जघन्य अन्तरात्मा और उत्कृष्ट अन्तरात्मा में एक ही गुणस्थान होता है किन्तु मध्यम अन्तरात्मा में सात गुणस्थानों की सत्ता है। इस आधार पर हमें यह मानना होगा कि मध्यम अन्तरात्मा के भी अनेक उपविभाग हैं। यहाँ हम मध्यम अन्तरात्मा के तरतमता की दृष्टि से तीन भेद कर सकते हैं। इसमें अविरतसम्यग्दृष्टि को जघन्य-जघन्य अन्तरात्मा कह सकते हैं। देशविरत को जघन्य-मध्यम अन्तरात्मा और सर्वविरत को मध्यम-मध्यम अन्तरात्मा कहा जा सकता है। अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर उपशान्तमोह गुणस्थान तक श्रेणी आरोहण करनेवाली आत्मा को उत्कृष्ट-मध्यम और १२वें गुणस्थानवर्ती क्षीणकषाय को उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहा जा सकता है। यहाँ हम मध्यम अन्तरात्मा के इन तीन रूपों की संक्षेप में चर्चा करेंगे। वे इस प्रकार हैं :

१. जघन्य-मध्यम अन्तरात्मा;
२. मध्यम-मध्यम अन्तरात्मा; और
३. उत्कृष्ट-मध्यम अन्तरात्मा।

### (ख) जघन्य-मध्यम अन्तरात्मा : देशविरतसम्यग्दृष्टि

इसमें देशविरतसम्यग्दृष्टि पंचम गुणस्थानवर्ती आत्मा को जघन्य-मध्यम अन्तरात्मा कहा गया है। देशविरतसम्यग्दृष्टि उस

आत्मा को कहते हैं, जिसकी जीवनदृष्टि सम्यक् होते हुए भी वह सम्पूर्ण पाप प्रवृत्तियों से विरत नहीं हो पाती है। किन्तु वह अविरत भी नहीं होती है क्योंकि वह आंशिक रूप से सम्यक् आचार का पालन करती है।

## ४.३.२ देशविरत श्रावक का स्वरूप

श्रावक शब्द का अर्थ – "जो 'श्र' से श्रद्धा; 'व' से विवेक तथा 'क' से क्रिया को ग्रहण करता है, उसे श्रावक कहा जाता है।" वह विशिष्ट गुणों से युक्त होने पर श्रावक कहलाने का अधिकारी होता है। श्रावक व्रतों का पालन करनेवाला श्रावक नैष्ठिक कहलाता है। सभी गृहस्थ श्रावक साधना की दृष्टि से समान नहीं होते हैं। उनमें श्रेणी भेद होता है। जैनाचार्यों ने गृहस्थ साधक के लिए आचार का एक सरलतम प्रारूप भी निर्धारित किया है। उसी अनुरूप गृहस्थ श्रावक द्वारा आचारों का परिपालन करना माना गया है, यद्यपि पूर्ववर्ती आगमों में इसका विवेचन उपलब्ध नहीं है। इसके सम्बन्ध में सभी जैनाचार्यों में मतैक्य नहीं है। वसुनन्दी श्रावकाचार में सप्त-व्यसनों के त्याग का विधान है। वर्तमान में वसुनन्दी श्रावकाचार के विधान को सामान्यतः स्वीकार किया जाता है।[१३७] श्रावक के आचार को चार भूमिकाओं में विभाजित किया जा सकता है :

१. सप्त-व्यसन का त्याग;
२. मार्गानुसारी के पैंतीस गुण;
३. श्रावक के बारह व्रत; और
४. श्रावक की ग्यारह प्रतिमा।

### *१. सप्तव्यसन का त्याग*

सप्तव्यसन निम्न हैं[१३८] –

१. जुआ; २. मांसाहार; ३. सुरापान (मदिरापान);
४. वेश्यागमन; ५. शिकार; ६. चौर्यकर्म; और ७. परस्त्रीगमन।

---

[१३७] 'जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २६८।
–डॉ. सागरमल जैन।

[१३८] वसुनन्दी श्रावकाचार गा. ५६।

## २. मार्गानुसारी के ३५ गुण

आचार्य हेमचन्द्राचार्य, अचार्य नेमिचन्द्र एवं आशाधरजी ने सद्गृहस्थ के जीवन में सद्गुणों का उल्लेख किया है। आचार्य हरिभद्र एवं हेमचन्द्र ने इन्हें मार्गानुसारी गुण कहा है। ये गुण श्रावक की आध्यात्मिक साधना हेतु व्यवहारिक-सामाजिक जीवन जीने के लिए प्राथमिक शर्त के परिचायक हैं – तभी वह अणुव्रतों की साधना का अधिकारी है। धर्मबिन्दु प्रकरण[१३९] एवं योगशास्त्र[१४०] में ३५ गुणों का उल्लेख होता है। वे निम्न हैं :

१. न्याय नीतिपूर्वक धन का उपार्जन करना;

२. शिष्ट पुरुषों के आचरण की प्रशंसा करना;

३. कुल एवं शील में अपने समान स्तर वालों से सम्बन्ध करना;

४. पापों से भय रखना अर्थात् पापाचार का त्याग करना;

५. अपने देश के आचार का पालन करना;

६. दूसरों की निन्दा नहीं करना;

७. ऐसे घर में निवास करना जो सुरक्षावाला तथा वायु, प्रकाशादि से युक्त हो;

८. घर के द्वार अधिक नहीं रखना;

९. सत्पुरुषों की संगति करना;

१०. माता-पिता की सेवा करना;

११. चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थानों से दूर रहना;

१२. निन्दनीय कार्यों का त्याग करना;

१३. आय के अनुसार व्यय करना;

१४. देश एवं कुल के अनुकूल वस्त्र धारण करना;

१५. बुद्धि के निम्न ८ गुणों से सम्पन्न होना :
(१) धर्म श्रवण की इच्छा रखना;
(२) अवसर मिलने पर धर्म श्रवण करना;

---

१३९ धर्मबिन्दुप्रकरण १/४-५८ ।

१४० योगशास्त्र १/४७-५६ ।

(३) शास्त्रों का अध्ययन करना;
(४) उन्हें स्मृति में रखना;
(५) जिज्ञासा से प्रेरित होकर शास्त्र चर्चा करना;
(६) शास्त्र विरूद्ध अर्थ नहीं करना;
(७) वस्तु स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना;
(८) तत्त्वज्ञ बनना।

१६. अजीर्ण होने पर भोजन नहीं करना;
१७. नियत समय पर भोजन करना;
१८. धर्म, अर्थ एवं काम का अवसरोचित सेवन करना; गृहस्थ जीवन में अर्थ एवं काम पुरुषार्थ का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता है। अतः उनका सेवन इस प्रकार करना चाहिये जिससे धर्म पुरुषार्थ उपेक्षित न हो।
१९. अतिथि, साधु आदि का सत्कार करना;
२०. आग्रह से दूर रहना;
२१. गुणानुरागी होना;
२२. अयोग्य देश और काल में गमन नहीं करना;
२३. स्व-सामर्थ्य के अनुसार कार्य करना;
२४. सदाचारी पुरुषों को उचित सम्मान देना-उनकी सेवा करना;
२५. अपने आश्रितों का पालन-पोषण करना;
२६. दीर्घदर्शी होना;
२७. विवेकशील होना अर्थात् अपने हित-अहित को समझना;
२८. कृतज्ञ होना अर्थात् उपकारी के उपकार का विस्मरण नहीं करना;
२९. सदाचार एवं सेवा के द्वारा जनता का प्रेम-पात्र बनना;
३०. लज्जाशील होना;
३१. करूणाशील होना;
३२. सौम्य होना;
३३. यथाशक्ति परोपकार करना;
३४. काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्यादि आन्तरिक शत्रुओं से बचने का प्रयत्न करना;
३५. इन्द्रियों को वश में रखना।

## *३. श्रावक के बारह व्रत*

ये आचार भूमिका के हैं। इनका संक्षिप्त विवरण आगे प्रस्तुत करेंगे।

देशविरत सम्यग्दृष्टि को सामान्यतः व्रतधारी श्रावक कहा जाता है। वह पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों - इस प्रकार श्रावक के बारह व्रतों का पालन करता है; जो निम्न हैं :

१. अहिंसा अणुव्रत;
२. सत्य अणुव्रत;
३. अचौर्य अणुव्रत;
४. स्वपत्नी सन्तोष अणुव्रत;
५. परिग्रह परिमाण अणुव्रत;
६. दिग्परिपाण गुणव्रत;
७. उपभोग परिभोग परिमाण गुणव्रत;
८. अनर्थदण्ड विरमण गुणव्रत;
९. सामायिक शिक्षाव्रत;
१०. देशावगासिक शिक्षाव्रत;
११. पौषधोपवास शिक्षाव्रत; और
१२. अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत।

अग्रिम पृष्ठों में हम इनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

## १. अहिंसा-अणुव्रत

स्थानांगसूत्र में इस अणुव्रत को 'स्थूलप्राणातिपात विरमणव्रत' कहा है।[१४१] श्रावकधर्म को देशसंयत, देशविरत और देशचारित्र भी कहा जाता है। श्रावक (साधक) गृहस्थाश्रम में रहकर गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ संकल्पपूर्वक त्रस जीवों की हिंसा से विरत होता है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार,[१४२] कार्तिकेयानुप्रेक्षा,[१४३] अहिंसा-अणुव्रत,[१४४] आदि ग्रन्थों में संकल्पपूर्वक त्रसजीवों की हिंसा से विरति को अहिंसा अणुव्रत कहा गया है। ज्ञातव्य है कि श्रावक (गृहस्थ) जीवन में त्रस जीवों का पूर्णतः त्याग नहीं करता। कभी उसे देह, देश, समाज, परिवार एवं धर्म आदि की रक्षा हेतु

---

१४१ स्थानांगसूत्र ५/१-२।
१४२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार ५३।
१४३ कार्तिकयानुप्रेक्षा ३०-३२।
१४४ वंदित्तुसूत्र ७५।

प्रतिकार करना पड़ सकता है। गृहस्थ जीवन के अन्तर्गत श्रावक संकल्पजा, विरोधजा, उद्योगजा और आरम्भजा – इनमें से वह केवल संकल्पजा त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है। अहिंसा अणुव्रत को स्थिर रखने हेतु निम्न पाँच अतिचारों से बचना होता है –

१. बन्धन; २. वध; ३. छविच्छेद;
४. अतिभार; और ५. अन्नपान निरोध।

## २. सत्य-अणुव्रत

सत्य-अणुव्रत का दूसरा नाम स्थूलमृषावाद विरमणव्रत भी मिलता है। योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र स्थूलमृषावाद के पाँच प्रकार बताते हैं :[१४५]

१. वर-कन्या सम्बन्धी; २. पशु सम्बन्धी; ३. भूमि सम्बन्धी;
४. असत्य वचन बोलना न्यासापहार; एवं ५. झूठी गवाही देना।

उपासकदशांगसूत्र में सत्य-अणुव्रत के पाँच अतिचार उपलब्ध होते हैं :[१४६]

१. बिना सोचे समझे किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना;
२. एकान्त में वार्तालाप करने पर किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना;
३. स्वस्त्री या स्वपुरुष की गुप्त बात प्रकट करना;
४. मिथ्या उपदेश या झूठी सलाह देना; और
५. झूठे दस्तावेज लिखना।

वंदित्तुसूत्र में भी पाँच अतिचारों का वर्णन उपलब्ध होता है।[१४७]

## ३. अचौर्य-अणुव्रतः

इस अणुव्रत का दूसरा अपर नाम 'स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत' प्राप्त होता है। अदत्त अर्थात् किसी वस्तु का दिये बिना ग्रहण करना – इसे ही चोरी कहा गया है। उपासकदशांगसूत्र[१४८],

---

१४५ योगशास्त्र २/५४।
१४६ उपासकदशांगसूत्र १/३३ (लाडनूं)।
१४७ वंदित्तुसूत्र १४।
१४८ उपासकदशांगसूत्र १/३४।

वंदित्तुसूत्र[१४९] आदि में अदत्तादान के पाँच भेदों की चर्चा उपलब्ध है:

१. चोरी का माल खरीदना;
२. चोर को सहायता देना;
३. राज्य के नियमों के विरूद्ध व्यापार आदि करना;
४. नाप-तौल में हेर-फेर करना; और
५. मिलावट करके बेचना।

## ४. ब्रह्मचर्य-अणुव्रत

इसका दूसरा नाम 'स्वदारा सन्तोषव्रत' या 'स्वपति संतोषव्रत' भी मिलता है। यह श्रावक का चौथा अणुव्रत है। इस अणुव्रत का पालन करने वाला श्रावक स्वस्त्री के सम्बन्ध में भी मैथुन की मर्यादा निर्धारित करता है।[१५०] श्रमण की तरह श्रावक पूर्णतः कामवासना से विरत तो नहीं होता, अपितु वह संयत होता है। इस अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं :

१. इत्वरपरिगृहीतागमन; २. अपरिगृहीतागमन;
३. अनंगक्रीड़ा; ४. परविवाहकरण; और
५. कामभोग-तीव्राभिलाषा।

## ५. अपरिग्रह-अणुव्रत

इसे 'परिग्रह परिमाणव्रत' भी कहते हैं। श्रावक श्रमण की तरह पूर्णतः निष्परिग्रही नहीं होता, क्योंकि गृहस्थ जीवन में अर्थ की आवश्यकता होती है। वंदित्तुसूत्र में परिग्रह परिमाणव्रत में जो मर्यादाएँ निर्धारित की गई हैं, उनके उल्लंघन को अतिचार कहा गया है।[१५१] इसके पाँच अतिचार निम्न हैं :

१. धन-धान्यादि के परिमाण का अतिक्रमण करना;
२. भूमि, मकान आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना;
३. स्वर्ण-रजत, मणि-मुक्ता आदि के परिमाणका अतिक्रमण करना;
४. द्विपद, चतुष्पद के परिमाण का अतिक्रमण करना; और
५. गृहस्थ जीवन के लिए आवश्यक सामग्री की सीमा का अतिक्रमण करना।

---

१४९ वंदित्तुसूत्र १४ ।
१५० आवश्यकसूत्र (परिषिष्ट पृ. २२) ।
१५१ वंदित्तुसूत्र १८ ।

## ६. दिग्परिमाणव्रत

इस व्रत में श्रावक दसों दिशाओं में व्यवसाय एवं भोगोपभोग के निमित्त गमनागमन की सीमा का परिमाण करता हैं।"[१५२] यह श्रावक का प्रथम गुणव्रत होता है। दिग्परिमाणव्रत में दिशाओं की मर्यादा को निश्चित करना होता है। इसके पाँच अतिचार निम्न हैं:

१. ऊर्ध्वदिशा के परिमाण का अतिक्रमण;
२. अधोदिशा के परिमाण का अतिक्रमण;
३. तिर्यक् (मध्य) दिशा के परिणाम का अतिक्रमण;
४. क्षेत्र (दिशा) दिशा के परिणाम का अतिक्रमण; और
५. स्मृति भंग – निर्धारित सीमा की विस्मृति।

## ७. उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत

इसमें भोग और उपभोग में आनेवाली वस्तुओं का परिमाण कर श्रावक को उनका यथाशक्ति त्याग करना होता है। अभिधानराजेन्द्रकोश[१५३] में भगवतीसूत्र के आधार पर उपभोग का अर्थ बार-बार उपयोग में आने वाली सामग्री किया गया है। आवश्यकसूत्र[१५४] और धर्मसंग्रह[१५५] में भी यही अर्थ उपलब्ध होता है। योगशास्त्र[१५६] एवं रत्नकरण्डक श्रावकाचार[१५७] में भोग और उपभोग शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस व्रत में २२ अभक्ष्य, ३२ अनन्तकाय तथा १५ कर्मादान का त्याग करना होता है।

सातवें व्रत के पाँच अतिचार :

१. सचित आहार – मर्यादा से अतिरिक्त सचित आहार करना;
२. सचित प्रतिबद्ध – सचित-अचित ऐसी मिश्र वस्तु का आहार करना;
३. अपक्वाहार – बिना पका हुआ आहार करना;
४. दुष्पक्वाहार – पूरी तरह नहीं पका हुआ आहार करना; और

---

१५२ योगशास्त्र ३/१ ।
१५३ अभिधानराजेन्द्रकोष, द्वितीय भाग पृ. ८६६ ।
१५४ उद्धृत 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' पृ. ४२० । – देवेन्द्रमुनि शास्त्री ।
१५५ धर्मसंग्रह भाग ३३० ।
१५६ योगशास्त्र ५/३ ।
१५७ रत्नकरण्डकश्रावकाचार ३/३७ ।

५. तुच्छोषधिभक्षण - ऐसी औषधि भक्षण करना जो खाने योग्य न हो।

श्रावक के लिए निम्न १५ कर्मादान निषिद्ध हैं :

(१) अंगारकर्म; (२) वनकर्म; (३) शकटकर्म;
(४) भाटकर्म; (५) स्फोटकर्म; (६) दन्तवाणिज्य;
(७) लाक्षावाणिज्य; (८) रसवाणिज्य; (९) केशवाणिज्य;
(१०) विषवाणिज्य; (११) यंत्रपीड़नकर्म; (१२) निर्लांछनकर्म;
(१३) दावाग्निदापन; (१४) सरद्रहतडागशोषणकर्म; और
(१५) असतीजनपाषणकर्म।

## ८. अनर्थदण्ड

अनर्थदण्ड शब्द का अर्थ - अनर्थ (निष्प्रयोजन) में दण्ड का भागी बनना। जब व्यक्ति स्वयं या परिवार के जीवन निर्वाह के लिए कुछ सार्थक और कुछ निरर्थक क्रियाएँ करता है, तो उनमें से सार्थक सावद्य क्रिया करना अर्थदण्ड है और निरर्थक पापपूर्ण प्रवृत्तियों का करना अनर्थदण्ड है।[१५८]

इसके चार प्रकार निम्न हैं -

(१) अपध्यान : योगशास्त्र[१५९] तथा सागारधर्मामृत[१६०] में आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानरूप अशुभ चिन्तन को अपध्यान कहा है।

(२) प्रमादाचरण : श्रावक यदि प्रत्येक कार्य जागरूकता या सजगता के अभाव में करता है, तो वह आचरण प्रमादाचरण कहा जाता है।[१६१] डॉ. सागरमल जैन ने आगम के अनुसार इसके पाँच भेद किये हैं : १.अहंकार; २.कषाय; ३.विषय चिन्तन; ४. निद्रा; और ५. विकथा।[१६२]

(३) हिंसादान : हिंसा के साधन - शस्त्रादि क्रोधाविष्ट व्यक्ति का

---

[१५८] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २८६। -डॉ. सागरमल जैन।

[१५९] योगशास्त्र ३/७५।

[१६०] सागारधर्मामृत ५/६।

[१६१] तत्त्वार्थसूत्र ७/२१ की सर्वार्थसिद्धि की टीका।

[१६२] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २६०। -डॉ. सागरमल जैन।

देना हिंसा दान है।

(४) पापकर्मोपदेश : पापकर्म हेतु उपदेश देना पापकर्मोपदेश है।

(५) दुःश्रुति : दुःश्रुति प्रमादाचरण का एक भेद है।

अनर्थदण्ड के पाँच अतिचार

१. कन्दर्प; २. कौत्कुच्य; ३. मौखर्य;
४. संयुक्ताधिकरण; और ५. उपभोगपरिभोगातिरेक।

## ९. सामायिकव्रत

सामयिक समत्व (समभाव) की साधना है। यह जैनदर्शन का केन्द्र बिन्दु है। श्रावक इस सामायिक को प्रथम स्थान देता है, क्योंकि यह शिक्षाव्रत अन्य सभी व्रतों को बलवान बनाता है। श्रावक द्वारा नियत समय तक हिंसादि पाप कार्यों का मन, वचन और काया के व्यापार करने, कराने तथा करने के अनुमोदन करने का त्याग करना ही सामायिकव्रत है। सामायिक में निम्न ४ प्रकार की विशुद्धि अनिवार्य है :

१. कालविशुद्धि; २. क्षेत्रविशुद्धि;
३. द्रव्यविशुद्धि ; और ४. भावविशुद्धि।

सामायिकव्रत के पाँच अतिचार निम्न हैं :

१. मनोदुष्प्रणिधान; २. वाचोदुष्प्रणिधान ;
३. कायेदुष्प्रणिधान ; ४. स्मृत्यकरण; और
५. अनवस्थान।

## १०. देशावकाशिकव्रत

इस व्रत में दिशा का परिमाण एवं उपभोग परिभोग की सामग्री की मात्रा को एक दिवस के लिए और भी सीमित किया जाता है। श्रावक उस निश्चित क्षेत्र-सीमा के बाहर न स्वयं जाता है और न कोई पाप प्रवृत्ति करता है और न किसी से करवाता है। वह अहिंसक वृत्ति का पालन करता है। इस व्रत के पाँच अतिचार निम्न हैं :

१. आनयन प्रयोग; २. प्रेष्य प्रयोग; ३. शब्दानुपात;
४. रूपानुपात; और ५. पुद्गल प्रक्षेप।

## ११. पौषधोपवासव्रत

पौषधोपवास शब्द का अर्थ अपने आप के समीप रहना अर्थात् स्वस्वरूप में स्थित रहना है।[१६३] श्रावक अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वकाल में चारों प्रकार के आहार का त्याग करके पौषध करता है। वह उसमें उपवास के साथ-साथ ही पापमय प्रवृत्तियों का त्याग भी करता है।[१६४] पौषधोपवास के पाँच अतिचार निम्न हैं :

१. अप्रतिलेखित – दुष्प्रतिलेखित शय्या संस्तारक;
२. अप्रमार्जित – दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक;
३. अप्रतिलेखित – दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रसवण भूमि;
४. अप्रमार्जित– दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रसवण भूमि का उपयोग करना;
५. पौषध का अनुपालन नहीं करना।

## १२. अतिथिसंविभागव्रत

अतिथि वह होता है जिसके आने की तिथि या समय निश्चित नहीं होता। ऐसे अतिथि का अर्थ सामान्यतः साधु किया जाता है। किन्तु श्रावकप्रज्ञप्ति में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका – इन चारों को भी अतिथि कहा गया है।[१६५] संविभाग अर्थात् श्रद्धाभावना से भावविभोर होकर अहोभावपूर्वक अत्यन्त सम्मान से अपने अधिकार की वस्तुओं में से अतिथि का समुचित विभाग करना – उसे अपेक्षित वस्तु का दान देकर प्रतिलाभित करना है। यह श्रावक का १२वाँ अतिथिसंविभागव्रत कहलाता है। इसके निम्न पाँच अतिचार हैं :

१. सचित्त निक्षेपण; २. सचित्त पिधान; ३. कालातिक्र
४. परव्योपदेश; और ५. मत्सरिता।

बहिरात्मा से मध्यम अन्तरात्मा की ओर गतिशील होने के लिए ये बारह व्रत बन्धन नहीं, अपितु आत्मोत्कर्ष एवं जीवन विकास के लिए अनुपम साधन के रूप में उपयोगी हैं।

---

[१६३] वही पृ. २९७।
[१६४] उपासकदशांगसूत्र १/४१ (लाडनूं ४०६)।
[१६५] अभिधानराजेन्द्रकोष भाग ७ पृ. ८१२।

## ४. श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

जैनधर्म में देशविरत श्रावक के लिए बारह व्रतों के साथ-साथ ग्यारह प्रतिमाओं का पालन भी आवश्यक माना गया है। प्रतिमा का तात्पर्य विशिष्ट नियम को ग्रहण करना है। प्रतिमाएँ वस्तुतः व्यक्ति के गृहस्थ जीवन से मुनि-जीवन की ओर आगे बढ़ने के लिए क्रमिक चरण हैं। इन प्रतिमाओं की चर्चा प्रायः श्रावक आचार सम्बन्धी सभी ग्रन्थों में मिलती है।[१६६]

### १. दर्शन-प्रतिमा

दर्शन-प्रतिमा यह श्रावक की प्रथम प्रतिमा है। दर्शन-प्रतिमा का धारक श्रावक अध्यात्म में रूचि रखता हुआ स्वस्वरूप की प्रतीति करता है। इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक सर्वप्रथम क्रोध, मान, माया और लोभ - इस कषायचतुष्क की तीव्रता कम करता है; क्योंकि जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय समाप्त नहीं होते, तब तक दर्शनविशुद्धि नहीं हो सकती। दर्शन-प्रतिमा का साधक इन कषायों की तीव्रता को कम करके सम्यग्दर्शन की उपलब्धि करता है। उपासकदशांगसूत्र में भी शंका, आकाँक्षादि दोषों से रहित होकर सम्यग्दर्शन की साधना को ही दर्शन-प्रतिमा कहा गया है।[१६७] इस प्रतिमा में साधक शुभ को शुभ और अशुभ को अशुभ के रूप मे सम्यक् प्रकार से जान लेता है। यह दर्शन या दृष्टि की विशुद्धि की स्थिति होती है।

### २. व्रत-प्रतिमा

जब साधक दृष्टि की विशुद्धि कर लेता है एवं सम्यक् आचरण के क्षेत्र में चारित्रविशुद्धि की ओर अग्रसर हो जाता है; तब वह अहिंसा, सत्य, आस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रहादि व्रतों को अपने गृहस्थ जीवन की मर्यादाओं सहित आंशिक रूप से पालन करने का प्रयत्न करता है। इस प्रतिमा में श्रावक अपनी साधना के अन्तर्गत पाँच

---

१६६ (क) उत्तराध्ययनसूत्र की टीका ३१/११। -गणिवर भावविजयजी।
(ख) वही ३०/१७।

१६७ उपासकदशांगसूत्र पत्र १५।

अनुव्रतों और तीन गुणव्रतों का परिपालन तो करता है किन्तु सामायिक आदि शिक्षाव्रतों का सम्यक् रूप से पालन नहीं करता। यह व्रत-प्रतिमा श्रावक की दूसरी प्रतिमा है।"[१६८]

## ३. सामायिक-प्रतिमा

यह श्रावक की तीसरी भूमिका है। इस सामायिक प्रतिमा में साधक समत्व की साधना करता है। श्रावक के द्वारा समत्व की साधना के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह सामायिक कहलाती है। इस सामायिक की साधना को जीवन-व्यवहार में उतारने के लिए उसे सतत् प्रयास करना आवश्यक होता है। इस सामायिक प्रतिमा में साधक को तीनों समय - प्रातः, मध्याण्ह एवं संध्या में मन, वचन और काया से निर्दोषपूर्ण समत्व की साधना करनी चाहिये।"[१६९] जो श्रावक दर्शन-प्रतिमा और व्रत-प्रतिमा का पालन करते हुए गृहस्थ जीवन के क्रिया-कलापों में से प्रतिदिन नियम से समत्व की साधना में लगा रहता है, वह सामायिक-प्रतिमा का धारक होता है।"[१७०]

## ४. पौषध-प्रतिमा

पर्व तिथि के दिनों में साधक गुरू के सांनिध्य में धर्मध्यान में रह कर, धर्माराधना में संलग्न होकर निरतिचारपूर्वक दिन-रात का पौषध करता है,"[१७१] उसे पौषध-प्रतिमा कहते हैं। यह पौषधोपवास प्रतिमा निवृत्ति की दिशा की ओर अग्रसर होने वाला एक चरण है। इसे एक दिन का श्रमणत्व भी कहा जा सकता है। यह गृहस्थ (श्रावक) की चौथी प्रतिमा है, जिसमें प्रवृत्तिमय जीवन जीते हुए भी कुछ दिनों में निवृत्ति का आनन्द लिया जा सकता है।

---

१६८ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३०१७ ।
(ख) 'पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति पुण तिण्णि ।
सिक्खावदाणि चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणम्मि ।। २०७ ।।' वसुनन्दिश्रावकाचार ।

१६९ उपासकदषांगसूत्र टीका पत्र १५ ।

१७० वसुनन्दिश्रावकाचार २७६ ।

१७१ वही २८० ।

## ५. नियम-प्रतिमा

यह गृहस्थ के विकास की पाँचवीं भूमिका है। इस प्रतिमा को कायोत्सर्ग प्रतिमा एवं दिवा-मैथुनविरत-प्रतिमा भी कहा जाता है।[१७२] इस प्रतिमा का दोष-रहित पालन करने के पाँच नियम हैं :

१. स्नान नहीं करना;
२. रात्रि-भोजन नहीं करना;
३. धोती में एक लांग नहीं लगाना;
४. दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना और रात्रि में मैथुन की मर्यादा निश्चित करना; और
५. अष्टमी-चतुर्दशी को कायोत्सर्ग करना।

## ६. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा

यह गृहस्थ की छठी अवस्था है। इसमें श्रावक कामासक्ति, भोगासक्ति या देहासक्ति पर विजय प्राप्त कर आध्यात्मिक विकास की दिशा में अग्रसर होने के लिए मैथुन से सर्वथा विरत होकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है एवं निवृत्तिमय जीवन की ओर गतिशील बनता है। यही ब्रह्मचर्य-प्रतिमा है।[१७३]

## ७. सचित्त आहारवर्जन-प्रतिमा

साधक पूर्व की समस्त प्रतिमाओं का दृढ़तापूर्वक पालन करता हुआ भोगासक्ति पर विजय प्राप्त करके सचित्त (सजीव) वस्तुओं के आहार का त्याग करता है। उष्ण या अचित्त जल का उपयोग करता है। गृहस्थ साधक स्वयं भी सचित्त पदार्थों को अचित्त कर ग्रहण कर सकता।[१७४]

---

[१७२] वही २९६।

[१७३] 'पुव्वुत्तणवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो।
इत्थिकहाइ णिवित्तो सत्तमगुण बंभचारी सो ।। २९७ ।।' -वसुनन्दिश्रावकाचार।

[१७४] 'जं वज्जिज्जइ हरियं तुयं, पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं ।। २९५ ।।' -वही।

## ८. आरम्भत्याग-प्रतिमा

इस प्रतिमा में आरम्भ-त्याग की भूमिका है। इसमें साधक आरम्भ अर्थात् हिंसा का पूर्णतः त्याग कर देता है। वह अपने पारिवारिक, सामाजिक एवं व्यवसायिक कार्य अपने उत्तराधिकारी को सौंप देता है। स्वयं निवृत्त होकर अपना अधिकांश समय धर्म-साधना में लगाता है; किन्तु सम्पत्ति पर से अपने स्वामित्व के अधिकार को नहीं छोड़ता है।[१७५]

## ९. परिग्रहविरत-प्रतिमा

इसे 'प्रेष्यारम्भवर्जन-प्रतिमा' भी कहते हैं। इसमें प्रवेश करने पर गृहस्थ (साधक) सेवक (प्रेष्य) आदि के द्वारा कार्य करवाने का भी त्याग कर देता है। साथ ही वह सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार भी त्याग देता है, पर वह अपने उत्तराधिकारी को मार्गदर्शन दे सकता है। इस प्रतिमा में गृहस्थ (साधक) न तो स्वयं आरम्भ करता है और न करवाता है।

## १०. उद्दिष्टभक्तवर्जन-प्रतिमा

इसमें गृहस्थ स्वयं के निमित्त से बने भोजन का भी त्याग कर देता है। वह सिर मुण्डन करवाता है, किन्तु शिखा रखता है। ऐसा साधक लौकिक कार्यों में भी रूचि नहीं रखता है और न ही उनकी अनुमोदना करता है। वह अनुमति-त्यागी अद्दिष्टभक्तवर्जन-प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

## ११. श्रमणभूत-प्रतिमा

इस अवस्था में गृहस्थ (साधक) श्रमण के सदृश बन जाता है। उसके समस्त अनुष्ठान श्रमण के समकक्ष होते हैं, जैसे केशलुंचन करवाना, श्रमण के सदृश संयमोपकरण रखना, भिक्षा द्वारा क्षुधा निवृत्ति करना आदि। श्रमण के सदृश जीवनचर्या का पालन करने पर भी उसमें उससे कुछ भिन्नता होती है। यदि उसकी शक्ति न हो

---

[१७५] 'जं किंचि गिहारंभं बहु थोवं वा सया विवज्जेइ ।
आरम्भणियत्तमई सो अट्ठसु सावओ भणिओ ।। २६८ ।।' -वही ।

तो वह उस्तरे से केश उतार सकता है।

इस प्रकार गृहस्थ (साधक) क्रमशः इन ११ प्रतिमाओं का पालन करता हुआ आध्यात्मिक विकास करता है। अन्त में अन्तरात्मा की दशा को प्राप्त कर परमात्मदशा को उपलब्ध करने के लिए श्रमण जीवन के निकट पहुँच जाता है।

## ४.३.३ सर्वविरत अन्तरात्मा

### मध्यम-मध्यम अन्तरात्मा किसे कहते हैं?

मध्यम अन्तरात्मा का दूसरा विभाग मध्यम-मध्यम अन्तरात्मा है। इस वर्ग के अन्तर्गत सर्वविरत मुनिवर्ग को समाहित किया जाता है। गुणस्थान सिद्धान्त की अपेक्षा से सर्वविरत के दो विभाग किये जाते हैं :

१. प्रमत्तसंयत; और २. अप्रमत्तंयत।

सर्वविरत मुनि इन दोनों अवस्थाओं में संक्रमण करता रहता है। वह सर्वकाल स्थायी रूप से किसी एक अवस्था में नहीं रहता है। आत्माभिमुख होकर कभी अप्रमत्तदशा में रहता है, तो कभी देहादिभाव जाग्रत होने पर प्रमत्त अवस्था में आ जाता है। कोई भी सर्वविरत जीवनपर्यन्त न तो सर्वथा अप्रमत्त रह पाता है और न सर्वथा प्रमत्त ही रहता है। इसी कारण दोनों ही गुणस्थानवर्ती मुनि मध्यम-मध्यम अन्तरात्मा के वर्ग में ही समाहित किये जाते हैं। इस अवस्था में मुनि-जीवन के आवश्यक कर्त्तव्यों में पंचमहाव्रतों, पंच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन अनिवार्य है। मुनि के पंच महाव्रत निम्न हैं :

१. अहिंसा महाव्रत; २. सत्य महाव्रत; ३. अचौर्य महाव्रत;
४. ब्रह्मचर्य महाव्रत; और ५. अपरिग्रह महाव्रत।

इन पंच महाव्रतों की साधना निम्न नवकोटियों सहित की जाती है :

१. मनसा-अकृत; २. मनसा-अकारित; ३. मनसा-अनुमोदित;
४. वचसा-अकृत; ५. वचसा-अकारित; ६. वचसा-अनुमोदित;
७. कायसा-अकृत; ८. कायसा-अकारित; तथा ९. कायसा-अनुमोदित।

मुनि हिंसा, झूठ, असत्य, मैथुन और परिग्रह – इन पाँच पाप प्रवृत्तियों से पूर्णतः विरक्त रहता है। इनके अतिरिक्त वह निम्न पाँच समितियों का भी पालन करता है :

१. ईर्यासमिति; २. भाषासमिति; ३. एषणासमिति; ४. आदान निक्षेपसमिति; और ५. उच्चारप्रस्रवन समिति।

साथ ही उसे निम्न तीन गुप्तियों का पालन करना होता है :

१. मनोगुप्ति; २. वचनगुप्ति; ३. कायगुप्ति।

## *१. मुनि का स्वरूप एवं लक्षण*

जैनपरम्परा को श्रमणपरम्परा भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें श्रमणजीवन को प्रधान माना जाता है। बृहद्कल्पसूत्र में बताया गया है कि प्रथम प्रत्येक आगन्तुक को यतिधर्म का बोध कराना चाहिये। यदि वह उसका पालन करने में असमर्थ हो तो उसे गृहस्थधर्म की प्रेरणा देनी चाहिये।[१७६] बौद्धपरम्परा में भी श्रमण परम्परा स्वीकार की गई है। उसमें भी श्रमणजीवन को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। वैदिक परम्परा में भी जीवन का अन्तिम साध्य सन्यास ही माना गया है। गीता सन्यासमार्ग और गृहस्थजीवन के मध्य समन्वय करती है। जैनदर्शन के अनुसार श्रमणजीवन का उद्देश्य पापपूर्ण या हिंसक प्रवृत्तियों से बचना एवं साथ ही राग-द्वेषात्मक प्रवृत्तियों से विरक्त होना है। जैनपरम्परा के अनुसार श्रमण जीवन का सार विरति है। प्राकृत में श्रमण को समण कहते हैं। प्राकृत 'समण' शब्द के निम्न तीन रूप बनते हैं :

१. श्रमण; २. समन; और ३. शमन।

डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि :

१. श्रमण शब्द 'श्रम' धातु से बना है। इसका अर्थ है – परिश्रम या प्रयत्न करना अर्थात् जो व्यक्ति अपने आत्म-विकास के लिए परिश्रम करता है, वह श्रमण है।

---

[१७६] (क) बृहद्कल्पसूत्र ११३६।
(ख) सुत्तनिपात १२/१४-१५।
(ग) गीता ५/२।

२. समन शब्द के मूल में 'सम्' है, जिसका अर्थ है समत्वभाव। जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है, वह श्रमण कहलाता है।
३. शमन शब्द का अर्थ है - अपनी वृत्तियों को शान्त रखना अथवा मन और इन्द्रियों पर संयम रखना। अतः जो व्यक्ति अपनी वृत्तियों को संयमित रखता है, वह श्रमण है।[१७७]

वस्तुतः जैनपरम्परा में श्रमण शब्द का मूल तात्पर्य समत्वभाव की साधना ही है। भगवान् महावीर ने केवल मुण्डित व्यक्ति को श्रमण न कहकर समत्व की साधना करने वाले साधक को ही श्रमण कहा है।[१७८] सूत्रकृतांगसूत्र में श्रमणजीवन की चर्चा उपलब्ध होती है - जो प्राणी सदैव हिंसा से रहित हो; सत्य वचन बोलता हो; मैथुन, परिग्रह तथा राग-द्वेष से रहित हो; इन्द्रियों का विजेता हो; और मोक्षमार्ग का पथिक हो, उसे ही सच्चा श्रमण कहा जाता है।[१७९] दिगम्बर परम्परा के अनुसार मूलाचार में श्रमण के निम्न २८ गुण बताये गए हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार २७ मूलगुण इस प्रकार माने गये हैं :[१८०]

१-५. पंचमहाव्रत;
६-१०. पाँचों इन्द्रियों का संयम;
११. आन्तरिक पवित्रता;
१२. भिक्षु उपधि की पवित्रता;
१३. क्षमा;
१४. अनासक्ति;
१५. मन की सत्यता;
१६. वचन की सत्यता;
१७. काया की सत्यता;
१८-२३. छः प्रकार के प्राणियों के प्रति संयम या उनकी हिंसा न करना;

---

[१७७] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ३२६। -डॉ. सागरमल जैन।

[१७८] उत्तराध्ययनसूत्र २५/३२।

[१७९] सूत्रकृतांगसूत्र १/१६/२ (उद्धृत श्रमणसूत्र पृ. ५४-५७)।

[१८०] बोल संग्रह भाग ६ पृ. २२८।

२४–२६. तीन गुप्ति;
२७. सहनशीलता और
२८. संलेखना।

श्वेताम्बर परम्परा में आन्तरिक विशुद्धि पर अधिक बल दिया है।

## २. *श्रमण के पंचमहाव्रत*

श्रमण के पंचमहाव्रत निम्न हैं :

१. अहिंसा; २. सत्य; ३. अस्तेय;
४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह।

### १. अहिंसा (सर्वप्राणातिपातविरमण) महाव्रत

जैन श्रमण का अहिंसा प्रथम महाव्रत है। इस महाव्रत की चर्चा स्थानांगसूत्र में भी उपलब्ध है। 'सव्वाओ पाणाइवायो वेरमणं' अर्थात् हिंसा से पूर्णतः विरत होना है।[१८१] उत्तराध्ययनसूत्र में अहिंसा महाव्रत का इस प्रकार विवेचन मिलता है – मन, वचन और काया के त्रिविध योग के द्वारा तथा कृत, कारित एवं अनुमोदित रूप से त्रस एवं स्थावर जीवों को पीड़ा या कष्ट नहीं पहुँचाना अहिंसा महाव्रत है।[१८२] मन से किसी भी जीव को पीड़ा पहुँचाने का चिन्तन या किसी के कहने पर उसका समर्थन करना भी हिंसा है। दशवैकालिकसूत्र में भी बताया गया है कि भिक्षु जगत् में जितने भी प्राणी हैं, उनकी जाने या अनजाने में भी हिंसा न करता है, न करवाता है और न उसकी अनुमोदना करता है।[१८३] श्रमण को आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी – इन चारों ही हिंसा का त्याग होता है। श्रमण पूर्णरूप से हिंसा से बचने हेतु प्रत्येक कार्य सजगतापूर्वक करता है, जिससे किसी प्रकार की हिंसा

---

[१८१] स्थानांगसूत्र ४/१३१ (अंगसुत्ताणि लाडनूं खण्ड ३ पृ. २८५)।
[१८२] उत्तराध्ययनसूत्र ८/१०।
[१८३] दशवैकालिकसूत्र ६/१०।

न हो। आचारांगसूत्र, समवायांग और प्रश्नव्याकरणसूत्र[१८४] में अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाओं का विवेचन निम्न मिलता है। आचारांगसूत्र और समवायांग के अनुसार इनके नाम निम्न हैं :

१. ईर्यासमिति; २. मनोगुप्ति; ३. वचनसमिति; ४. आलोकित पानभोजन और ५. आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति।

प्रश्नव्याकरणसूत्र के अनुसार इनके नाम निम्न हैं :

१. ईर्यासमिति; २. मनःसमिति; ३. भाषासमिति; ४. एषणासमिति; और ५. आदाननिक्षेपणसमिति।

## २. सत्य (सर्वमृषावादविरमण) महाव्रत

सत्य महाव्रत के पालन में श्रमण मन, वचन और काया के त्रिविध योगों तथा कृत-कारित, अनुमोदन की नवकोटियों सहित अतत्त्व सम्भाषण का त्याग करता है। इस महाव्रत में वचन सत्यता पर अधिक बल दिया गया है। जैनागमों में असत्य के चार प्रकार निम्न रूप से बताये गए हैं :

१. होते हुए नहीं कहना;
२. नहीं होते हुए उसका अस्तित्व बताना;
३. वस्तु कुछ है और उसे कुछ और बताना;
४. हिंसाकारी, पापकारी और अप्रिय वचन बोलना।

जैन आगमों के अनुसार भाषा के चार प्रकार हैं :

१. सत्य; २. असत्य; ३. मिश्र; और ४. व्यावहारिक।[१८५]

प्रश्नव्याकरणसूत्र में सत्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है - सत्य ही भगवान् है (तं सच्चं भगवं)। वही समस्त लोक में सारभूत है।[१८६] उत्तराध्ययनसूत्र की अपेक्षा से क्रोध, हास्य, लोभ तथा भयादि से प्रेरित होकर असत्य वचन का प्रयोग नहीं करना सत्य महाव्रत

---

१८४ (क) आचारांगसूत्र २/१५/४४ से ४६ (अंगसुत्ताणि लाडनूं खण्ड १ पृ. २४२-४३)।
(ख) समवायांग २५/१ (अंगसुत्तणि लाडनूं खण्ड ३ पृ. ८६२)।
(ग) प्रश्नव्याकरणसूत्र ६/१/१६ (अंगसुत्तणि लाडनूं खण्ड ३ पृ. ६८६)।

१८५ पुरूषार्थसिद्धयुपाय ९१।

१८६ प्रश्नव्याकरणसूत्र २/२।

है।[१८७] मुनि सदैव ही मृषावाद का त्याग करता है। वह सावधानीपूर्वक हितकारी एवं सत्य वचन ही बोलता है।

## ३. अस्तेय (सर्वअदत्तादानविरमण) महाव्रत

यह अस्तेय महाव्रत श्रमण की तीसरी भूमिका है। 'सव्वाओ अदिन्ताणाओ वेरमणं' अर्थात् सर्वथा अदत्तादान का त्याग करना अस्तेय महाव्रत है। इस अस्तेय महाव्रत का पालन श्रमण को मन, वचन और काया तथा कृत-कारित एवं अनुमोदन की नवकोटियों सहित करना चाहिये। वस्त्र, भोजन, शय्या, औषध, निवास आदि स्वामी के देने पर ही श्रमण को स्वीकार करना चाहिये। उनकी आज्ञा के बिना स्वीकार नहीं करना चाहिये। जैनदर्शन में इस चौर्यकर्म को भी हिंसा कहा गया है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में बताया है कि यह अदत्तादान (चोरी) है। भय, सन्ताप और मरणादि पातकों को पैदा करता है।[१८८] दशवैकालिकसूत्र में इस महाव्रत की विस्तृत जानकारी उपलब्ध होती है। उसमें कहा गया है कि अचित्त या सचित्त, छोटी या बड़ी - चाहे दाँत साफ करने का तिनका भी क्यों न हो, फिर भी उसे स्वयं न ले। उनका स्वामी दे तभी स्वीकार करे। इस महाव्रत का तीन योग और तीन करण से परिपालन करने के लिए आचारांगसूत्र में इसकी निम्न पाँच भावनाएँ उपलब्ध हैं :[१८९]

१. विचारपूर्वक वस्तु या स्थान की याचना - श्रमण विचारपूर्वक परिमित परिमाण में ही वस्तु एवं स्थान आदि की याचना करे;
२. गुरू की आज्ञा से याचित आहारादि वस्तुओं का उपभोग भी गुरू को दिखाकर उनकी आज्ञा से करे;
३. श्रमण स्वयं के लिए निश्चित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करे;
४. श्रमण को जितनी आवश्यकता हो उतनी मात्रा का परिमाण निश्चित करके याचना करे;
५. अपने सहयोगी श्रमणों के लिए भी विचारपूर्वक परिमित परिमाण में ही याचना करे।

---

[१८७] उत्तराध्ययनसूत्र २५/२४।
[१८८] प्रश्नव्याकरणसूत्र ३।
[१८९] आचारांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध पृ. १४३७-३८।

## ४. ब्रह्मचर्य महाव्रत

श्रमण का यह चतुर्थ महाव्रत है। इस ब्रह्मचर्य महाव्रत की विस्तृत चर्चा जैनागमों में उपलब्ध होती है। श्रमणजीवन की साधना में यह महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया है कि श्रमण को मन, वचन और काया एवं कृत-कारित और अनुमोदित रूप से नवकोटि सहित सर्व प्रकार के मैथुनसेवन का त्याग करना चाहिये।[१६०] प्रश्नव्याकरणसूत्र में बताया गया है कि ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व एवं विनय का मूल है - यम नियम रूप प्रधान गुणों से युक्त कहलाता है। ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने से देव, दानव और यक्षादि प्रसन्न होकर नमस्कार करते हैं। जैनदर्शन में ब्रह्मचर्यव्रत की विशिष्ट महत्ता है। ब्रह्मचर्य का भंग होने पर सभी व्रत-नियम, शील, तप गुणादि चूर चूर हो जाते हैं। अब्रह्मचर्य के कारण आसक्ति और मोहादि रहते हैं, जिससे आत्मा पतन के गर्त में गिर जाती है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा हेतु श्रमण को अपने बाह्य जीवन में जो संयोग प्राप्त होते हैं, उनके प्रति हमेंशा सजग रहना आवश्यक है; क्योंकि साधक के अन्तर में दबी हुई वासना कभी भी बाह्य निमित्त को पाकर प्रकट हो सकती है। ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ निम्न हैं:

१. स्त्रीकथा त्याग; २. मनोहर क्रियावलोकन त्याग;
३. पूर्व रति-विलास स्मरण त्याग; ४. प्रणीत रस-भोजन त्याग; और
५. शयनासन त्याग।[१६१]

इस प्रकार मन, वचन एवं काया से मैथुन नहीं करना ही ब्रह्मचर्य महाव्रत है। श्रमण के लिए इसका सर्वथा पालन आवश्यक है।

## ५. सर्वपरिग्रहविरमण (अपरिग्रह) महाव्रत

श्रमण का पाँचवां अपरिग्रह महाव्रत है। श्रमण अन्तरंग और

---

१६० उत्तराध्ययनसूत्र २५/२५।

१६१ (क) आचारांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध २/१५/१७६।
(ख) 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ३३७। -डॉ. सागरमल जैन।

बाह्य परिग्रह से विरत होता है। परिग्रह की आसक्ति के कारण मन की कलुषिता, अशान्ति, भय और तृष्णा बढ़ती है जिससे मन की स्थिरता नहीं रहती है। श्रमण परिग्रह या मूर्च्छा (आसक्ति) के कारण अहिंसादि महाव्रतों का पूर्णतः परिपालन नहीं कर पाता है। इस महाव्रत की पाँच भावनाएँ निम्न हैं :

१. श्रोत्रेन्द्रिय के विषयों में अनासक्ति;
२. चक्षुरीन्द्रिय विषयों में अनासक्ति;
३. घ्राणेन्द्रिय विषयों में अनासक्ति;
४. रसनेन्द्रिय विषयों में अनासक्ति; और
५. स्पर्शेन्द्रिय विषयों में अनासक्ति।

ये पाँचों भावनाएँ पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का निषेध रूप हैं। दशवैकालिकसूत्र में बताया है कि परिग्रह का अर्थ बाह्य पदार्थों का संग्रह नहीं करना, मात्र इतना ही नहीं है; अपितु आन्तरिक मूर्च्छाभाव अथवा आसक्ति भी है।[१६२]

जैनदर्शन में परिग्रह निम्न दो प्रकार का स्वीकार किया गया है:
१. बाह्य परिग्रह और २. आभ्यन्तरिक परिग्रह।

श्रमण को सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करना चाहिये।[१६३] जैनश्रमण के लिए वे ही वस्तुएँ रखने का विधान है, जिनसे संयम यात्रा का निर्वाह हो सके। मात्र यही नहीं, उसे उन उपकरणों पर भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

## ६. रात्रि-भोजन विरमण व्रत

श्रमण छठे व्रत के रूप में रात्रि-भोजन का त्याग करता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार रात्रि-भोजन का निषेध ६ठे महाव्रत के रूप में स्वीकृत किया गया है। दशवैकालिकसूत्र में भी आचार्य शय्यंभवसूरि ने रात्रि-भोजन को ६ठे महाव्रत के रूप में बताया है।[१६४] मुनि सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त रात्रि-भोजन का परित्याग करता है। रात्रि-भोजन का निषेध अहिंसा महाव्रत एवं संयम जीवन की

---

१६२ दशवैकालिकसूत्र ६/२१।
१६३ बहद्कल्प १/८३१ (देखिये बोलसंग्रह भाग ५ पृ. ३३)।
१६४ दशवैकालिकसूत्र ६/२१।

सुरक्षा के लिए आवश्यक माना गया है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि मुनि को सूर्यास्त के पश्चात् मन से भी आहारादि की इच्छा नहीं करनी चाहिये। महापुरुषों ने इस व्रत को नित्य का साधन माना है। रात्रि में भोजन करने से सूक्ष्म जीवों की हिंसा की सम्भावना रहती है; क्योंकि सूर्यास्त होने पर पृथ्वी पर सूक्ष्म त्रस एवं स्थावर जीव व्याप्त हो जाते हैं। अतः निर्ग्रन्थ मुनियों के लिए जीवहिंसा के बचाव हेतु रात्रि-भोजन का निषेध बताया है।[१६५] दिगम्बरपरम्परा के अनुसार श्रमण के लिए रात्रि-भोजन का त्याग आवश्यक है। आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखते हैं कि रात्रि में भोजन करने पर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन निर्विघ्नतापूर्वक सम्भव नहीं होता। रात्रि में भोजन तैयार करने हेतु अग्नि और दीपकादि को प्रज्वलित करने से उसमें अनेक जन्तु आकर जल जाते हैं तथा उनकी हिंसा होती है। इस कारण रात्रि-भोजन हिंसायुक्त है।[१६६] अतः साधु के लिए रात्रि-भोजन का निषेध किया गया है।

## *३. अष्टप्रवचन माता : समिति एवं गुप्ति*

पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियों में जिन-प्रवचन का सार समाविष्ट है। इसलिए इन्हें अष्टप्रवचन माता भी कहते हैं। मध्यम-मध्यम अन्तरात्मा इन अष्टप्रवचन माताओं का सम्यक् प्रकार से पालन करती है। समितियाँ साधु के आचार के विधेयात्मक और गुप्तियाँ उसके निषेधात्मक पक्ष को प्रस्तुत करती हैं। इन समितियों के द्वारा श्रमण की शुभ प्रवृत्ति होती है। समिति शब्द 'सम' उपसर्गपूर्वक 'इण' (गतौ) धातु में भाववाचक क्तिन प्रत्यय लगाने से समिति शब्द बनता है। जिसका अर्थ है सम्यक् प्रकार से जाना या प्रवृत्ति करना। यहाँ हम इन पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगें।

---

१६५ दशवैकालिकसूत्र ६/२१। ६/२३-२६।

१६६ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १३२।

# पाँच समितियाँ

## १. ईर्यासमिति

इसका पालन करने हेतु आवश्यक कार्यों के लिए साधु को गमनागमन में सावधानी रखनी होती है। इस समिति में गमनागमन की क्रिया का विधान है। ईर्यासमिति का अर्थ है - चलने में सम्यक् प्रवृत्ति करना। मुनि को चलते समय पाँचों इन्द्रियों के विषय एवं अध्यव्यसायों को छोड़कर मात्र चलने की क्रिया का ध्यान रखना चाहिये। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि आचारांगसूत्र में इस समिति की विस्तृत चर्चा निम्नानुसार है :

१. चलते समय सावधानीपूर्वक सामने की भूमि को देखकर चलना;
२. चलते समय हाथ-पैरों को आपस में टकराना नहीं चाहिये;
३. भय और विस्मय का त्यागकर चलना चाहिये;
४. भाग-दौड़ न करके मध्यम गति से चलना चाहिये;
५. चलते समय पैरों को एक दूसरे से अधिक अन्तर पर रखकर नहीं चलना चाहिये।[१६७]

उत्तराध्ययनसूत्र में ईर्यासमिति के नियम इस प्रकार हैं :

१. आलम्बन; २. काल; ३. मार्ग; और ४. यत्नादि।[१६८]

देवचन्द्रजी ईर्यासमिति की सज्झाय में आवागमन के चार कारण लिखते हैं :

१. जिनवन्दन; २. विहार; ३. आहार; और ४. निहार।

## २. भाषासमिति

मुनि द्वारा भाषा का संयम या वाणी का विवेक रखना भाषा समिति है। मुनि को दोषपूर्ण, कर्कश, निष्ठुर और परिताप देनेवाले वचन नहीं बोलना चाहिये। मुनि को सावधानीपूर्वक बोलना चाहिये। उसे हित-मित, प्रिय और सत्य वचन बोलना चाहिये। साथ ही मुनि को यथासमय परिमित एवं निर्दोष भाषा बोलना चाहिये।

---

[१६७] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ३५२-५६ । -डॉ. सागरमल जैन ।

[१६८] उत्तराध्ययनसूत्र २४/२, ४ एवं ५ ।

## ३. एषणासमिति

एषणा शब्द का अर्थ है खोज या गवेषणा। इसका सामान्य अर्थ चाह या आवश्यकता भी होता है। मुनि का अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आहार, स्थान आदि की याचना में विवेक रखना एषणासमिति है। मुनि को निर्दोष भिक्षा एवं आवश्यकतानुसार वस्तुएँ स्वीकार करनी चाहिये। उत्तराध्ययनसूत्र में एषणा के तीन भेद उपलब्ध होते हैं। वे निम्न हैं :

१. गवेषणा – खोज की विधि;
२. ग्रहणेषणा – ग्रहण करने की विधि; और
३. परिभोगैषणा – आहार या भोजन का उपयोग करने की विधि।[९९]

ये तीनों भेद मुनि के आहार, उपधि और शय्या के बताये गए हैं।

मुनिजीवन के अन्तर्गत आहारविशुद्धि हेतु अत्यन्त सतर्कता रखनी चाहिये। उसके निम्न दो कारण हैं :

१. मुनि का जीवन समाज पर भार न हो; और
२. मुनि के निमित्त से हिंसा न हो।

जैसे भ्रमर फूल को बिना पीड़ा पहुँचाए पराग ग्रहण करता है, वैसे ही मुनि को मधुकरीवृत्ति से या गाय की तरह घूम-घूम कर दाता को बिना कष्ट पहुँचाए थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करना चाहिये। इस एषणासमिति का विशेषरूप से सम्बन्ध मुनि-जीवन की आहारचर्या में परिलक्षित होता है।

## ४. आदानभण्ड-निक्षेपणसमिति

मुनि प्रत्येक कार्य सावधानी पूर्वक करता है। किसी भी जीव की हिंसा न हो, इस हेतु वह प्रत्येक क्रिया प्रतिलेखन एवं प्रमार्जनपूर्वक करता है। इसे ही आदानभण्ड-निक्षेपणसमिति कहते हैं। आदान शब्द का अर्थ है – संयम के उपकरण, ज्ञानोपकरण आदि को उठाना या लेना तथा निक्षेप का अर्थ है रखना। यह कार्य सजगतापूर्वक करना चाहिये। वस्तु को सर्वप्रथम उपयोगपूर्वक देखकर और प्रमार्जित करके उपयोग में लेना चाहिये।

---

[९९] उत्तराध्ययनसूत्र २४/१४।

### ५. उच्चार-प्रस्रवण-पारिष्ठापनिका समिति

आहार के साथ निहार का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। मुनि को जीव-जन्तु रहित भूमि का प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन कर मल-मूत्र, कफ, अपथ्याहार, अनुपयोगी उपधि, आँख, कान, नाक तथा केश का उत्सर्ग करना चाहिये। इसे उच्चार-प्रस्रवण समिति कहते हैं।

## तीन गुप्तियाँ

गुप्ति शब्द गोपन से बना है जिसका अर्थ खींच कर लेना होता है। इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेना गुप्ति है। ये गुप्तियाँ आत्मा की अशुभ से रक्षा करती हैं। वे निम्न हैं :

### १. मनोगुप्ति

उत्तराध्ययनसूत्र की अपेक्षा से संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त होने से मन को रोकना मनोगुप्ति है।[२००] दूसरे शब्दों में अशुभ भावों से मन को निवृत्त करना या आत्मगुणों की सुरक्षा करना मनोगुप्ति है। यह मनोगुप्ति चार प्रकार की है।

१. सत्यमनोगुप्ति; २. असत्यमनोगुप्ति;
३. सत्यासत्यमनोगुप्ति; और ४. असत्य-अमृषामनोगुप्ति।[२०१]

### २. वचनगुप्ति

असत्य, अहितकारी, कर्कश एवं हिंसाकारी भाषा से निवृत्त होना अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति है। उत्तराध्ययनसूत्र की अपेक्षा से संरम्भ, समारम्भ, और आरम्भ में प्रवर्तमान वचन का प्रयोग नहीं करना वचनगुप्ति है।[२०२] नियमसार में बताया गया है कि

---

२०० (क) उत्तराध्ययनसूत्र २४/२१;
(ख) मूलाधार ६/११८७।

२०१ 'सच्चा तहेव मोसा य, सच्चा मोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा, मणगुत्ती चउविहा ।। २० ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २४।

२०२ उत्तराध्ययनसूत्र २४/२४ एवं २५।

स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा आदि वचन की अशुभ प्रवृत्ति या अशुभ वचन का निरोध करना वचनगुप्ति है।[२०३] इसके निम्न ४ प्रकार हैं।

१. सत्य वचनयोग; २. असत्य वचनयोग;
३. मिश्र वचनयोग; और ४. व्यवहार वचनयोग।[२०४]

## ३. कायगुप्ति

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार बैठने, उठने, सोने एवं पाँचों इन्द्रियों की प्रवृत्तियों में शारीरिक क्रियाओं से निवृत्त होना कायगुप्ति है।[२०५] नियमसार के अनुसार से बन्धन, छेदन, मारण, आकुंचन और प्रसारणादि शरीर की क्रियाओं से निवृत्त होना कायगुप्ति है।[२०६] उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार संरम्भ, समारम्भ और आरम्भयुक्त कायिक प्रवृत्तियों का निरोध कायगुप्ति है।

## ४. *दस मुनिधर्म*

इसके अतिरिक्त सर्वविरत मुनि को क्षमादि निम्न दस मुनिधर्मों का पालन करनाा चाहिये :

१. क्षमा; २. मार्दव; ३. आर्जव; ४. त्याग
५. तप; ६. संयम; ७. सत्य; ८. शौच;
९. अकिंचन; और १०. ब्रह्मचर्य।

## ५. *बाईस परिषह*

साथ ही अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में निम्न २२ परिषहों को सहन करना चाहिये :

१.क्षुधापरिषह; २.पीपासापरिषह; ३.शीतपरिषह; ४.उष्णपरिषह;
५.दंशमशकपरिषह; ६.अचेलपरिषह; ७.अरतिपरिषह; ८.स्त्रीपरिषह;
९.चर्यापरिषह; १०.निषद्यापरिषह; ११.शय्यापरिषह; १२.आक्रोशपरिषह;
१३.वधपरिषह; १४.याचनापरिषह; १५.अलाभपरिषह; १६.रोगपरिषह;

---

२०३ नियमसार ६७।
२०४ उत्तराध्ययनसूत्र २४/२२ एवं २३।
२०५ वही २४/२४ एवं २५।
२०६ नियमसार ६८।

१७.तृणस्पर्शपरिषह; १८.मलपरिषह; १९.सत्कार-पुरस्कार परिषह; २०.प्रज्ञापरिषह; २१.अज्ञानपरिषह और २२. अदर्शनपरिषह।

इन २२ परिषहों को सहन करना मुनि का कर्तव्य है। इस प्रकार मुनि सभी पाप प्रवृत्तियों से पूर्णतः विरक्त रहता है और अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव में स्थित रहता है।

## ६. *पाँच चारित्र*

उत्तराध्ययनसूत्र में चारित्र के पाँच प्रकार निम्न रूप से उपलब्ध होते हैं :

१. सामायिकचारित्र; २. छेदोपस्थापनीयचारित्र;
३. परिहारविशुद्धिचारित्र; ४. सूक्ष्मसम्परायचारित्र; और
५. यथाख्यातचारित्र।[२०७]

तत्त्वार्थसूत्र में भी ये ही चारित्र पाँच के प्रकार उपलब्ध होते हैं।[२०८]

१. **सामायिकचारित्र** : उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में राग-द्वेष से रहित चित्त की अवस्था एवं सभी सावद्य/पापमय व्यापारों का अभाव हो, ऐसा आचरण सामायिकचारित्र माना गया है।[२०९] तत्त्वार्थसूत्र का विवेचन करते हुए पण्डित सुखलालजी ने समभाव में स्थित प्रवृत्तियों को सामायिकचारित्र कहा है। इसके निम्न भेद हैं :

१. इत्वरकालिक; और २. यावत्कालिक।

२. **छेदोपस्थापनीयचारित्र** : उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार से जिस चारित्र में पूर्व पर्याय का छेद करके महाव्रत प्रदान किये जाते हैं, उसे छेदोस्थापनीयचारित्र कहा जाता है। इसके निम्न भेद हैं :

१. निरतिचार छेदोस्थापनीयचारित्र; और
२. सातिचार छेदोस्थापनीयचारित्र।[२१०]

---

२०७ उत्तराध्ययनसूत्र २८/३२ एवं ३३।

२०८ तत्त्वार्थसूत्र ९/१८।

२०९ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीकापत्र २८१७ (शान्त्याचार्य);
(ख) वही २८२२ (कमलसंयम उपाध्याय)।

२१० तत्त्वार्थसूत्र पृ. ३५२ (पण्डित सुखलालजी)।

३. **परिहारविशुद्धिचारित्र** : परिहार अर्थात् अलग होना – गण या संघ से। एक विशिष्ट प्रकार के द्वारा आत्मा को विशेष शुद्ध करने की प्रक्रिया (साधना) को परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। इस परिहारविशुद्धिचारित्र में श्रमणसंघीय जीवन का परिहार करके उत्कृष्ट श्रमणों के साथ रहकर तप साधना करता है।

४. **सूक्ष्मसम्परायचारित्र** : सूक्ष्म + सम्पराय = सूक्ष्म अर्थात् कषायों का सूक्ष्मीकरण और सम्पराय अर्थात् कषाय कहा है। इस चारित्र में कषायों का सूक्ष्मीकरण होता है। जिस चारित्र में मात्र सूक्ष्मलोभ और संज्वलन कषाय रह जाते हैं – शेष सभी कषाय क्षीण हो जाते हैं, वह सूक्ष्मसम्परायचारित्र है।[२११] यह चारित्र दशम गुणस्थानवर्ती श्रमण का होता है।

५. **यथाख्यातचारित्र** : यह चारित्र की अन्तिम एवं उच्च अवस्था है। यथाख्यात अर्थात् जिनेश्वर प्रभु द्वारा निरूपित अख्यात के अनुसार विशुद्ध चारित्र का पालन। यही यथाख्यातचारित्र है। इसमें कषाय उपशान्त या क्षीण होते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार इसमें वेदनीय आदि चारों घातिकर्मों का भी क्षय हो जाता है। तत्पश्चात् आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था को प्राप्त करती है।[२१२]

## *७. षड्आवश्यक*

जैनदर्शन में आवश्यक को साधना का अंग माना गया है। जैन दृष्टिकोण से जीवन में दोषों की शुद्धि एवं सद्गुणों की अभिवृद्धि हेतु इनकी अपरिहार्य अनिवार्यता है। आवश्यक आत्मविशुद्धि के लिए नित्य करने योग्य धार्मिक अनुष्ठान है। अनुयोगद्वार में कहा गया है कि आवश्यक की साधना श्रमण और श्रावकों के लिए आवश्यक है। दिन और रात्रि के

अन्त में अवश्य करने योग्य साधना को आवश्यक कहा जाता है।[२१३] वे निम्न हैं :

---

२११ उत्तराध्ययनसूत्र टीकापत्र ५६८ (शान्त्याचार्य)।

२१२ उत्तराध्ययनसूत्र २९/६२।

२१३ आवश्यकनिर्युक्ति टीका (उद्धृत उत्तराध्ययनसूत्र पृ. ४३६)। –मधुकरमुनि।

१. सामायिक; २. चतुर्विंशतिस्तव; ३. वन्दन;
४. प्रतिक्रमण; ५. कायोत्सर्ग; और ६. प्रत्याख्यान।

## ८. *समाचारी*

सामुदायिक जीवन का व्यवस्थित रूप से निर्वाह करना बहुत बड़ी कला है। मुनियों को सामुदायिक जीवन कैसे जीना है, इसके लिए एक समाचारी अर्थात् आचार व्यवस्था बनाई गई है।[२१४] समाचारी शब्द का अर्थ करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र की टीका[२१५] में कहा गया है कि साधु जीवन की कर्त्तव्यता अर्थात् संघीय जीवन एवं व्यावहारिक साधना की आचार-संहिता समाचारी है। ओघनिर्युक्ति टीका में सम्यक् आचरण को समाचारी कहा है। अतः शिष्टजनों के द्वारा आचरित क्रिया-कलाप समाचारी है।[२१६] दिगम्बर साहित्य में समाचारी के स्थान पर समाचार शब्द उपलब्ध होता है।[२१७] मूलाचार में इसके चार अर्थ निम्न हैं :

१. समता का आचार;
२. सम्यक् आचार;
३. सम आचार; और
४. समानता का आचार।[२१८]

## *दशविध समाचारी*

उत्तराध्ययनसूत्र के २६वें अध्याय एवं अन्य ग्रन्थों में भी मुनि-आचार के सन्दर्भ में दशविध समाचारी के नाम निम्नानुसार हैं :[२१९]

---

२१४ उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिपेक्ष्य में उसका महत्त्व' पृ. ४१०-१२। -साध्वी डॉ. विनीतप्रज्ञाश्री।

२१५ उत्तराध्ययनसूत्र टीका प्र ५३४।

२१६ ओघनिर्युक्ति टीका (उद्धृत उत्तराध्ययनसूत्र पृ. ४३६ - मधुकरमुनि)।

२१७ अनुयोगद्वारसूत्र २८/६।

२१८ मूलाचार ४/२।

२१९ (क) उत्तराध्ययनसूत्र २६/२ एवं ४ से ११;
(ख) पंचाषप्रकरण १२ एवं १८ पृ. २१२;
(ग) दशवैकालिकसूत्र ६/२ एवं २२; और
(घ) आवश्यकनिर्युक्ति ६७७।

१. आवश्यकी; २. नैषेधिकी; ३. आपृच्छना; ४. प्रतिपृच्छना;
५. छंदना; ६. इच्छाकार; ७. मिथ्याकार; ८. तथाकार;
९. अभ्युत्थान; और १०. उपसम्पदा।

## ९. *दिनचर्या*

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है – *"काले कालं समाचरे"* अर्थात् सर्व कार्य समय पर करना चाहिये। मुनि-जीवन की दिनचर्या एवं रात्रिचर्या का भी निर्धारण किया गया है।[२२०] यह दिनचर्या इस प्रकार उपलब्ध होती है।

१. दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय;
२. द्वितीय प्रहर में ध्यान;
३. तृतीय में भिक्षाचर्या; और
४. चतुर्थ में स्वाध्याय।

## १०. *प्रतिलेखन*

उत्तराध्ययनसूत्र में मुनिचर्या के सम्बन्ध में प्रतिलेखन एवं आहारचर्या की चर्चा उपलब्ध होती है। यह मुनि-जीवन का अनिवार्य अंग है। द्रव्य से मुनि के उपकरण, वस्त्र, पात्र और रजोहरण आदि; क्षेत्र से उपाश्रय, स्वाध्यायभूमि, प्रतिस्थापनभूमि और विहारभूमि आदि; काल से स्वाध्याय काल और ध्यान काल आदि और भाव से मन में आने वाले शुभाशुभ भावों की प्रेक्षा करना होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार प्रतिलेखन के निम्न दोष हैं :

१. आरभटा; २. सम्मर्दा; ३. मोसली;
४. प्रस्फोटना; ५. विक्षिप्ता; ६. वेदिका;
७. प्रशिथिल; ८. प्रलम्ब; ९. लोल;
१०. एकमर्शा; ११. अनेक रूप; १२. प्रमाण प्रमाद; और
१३. गणनोपगणना[२२१]

---

[२२०] उत्तराध्ययनसूत्र १/३१।
[२२१] उत्तराध्ययनसूत्र २६/२७।

## *११. भिक्षाचारी*

मुनि की भिक्षाचारी के सम्बन्ध में उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है :

उसे गवेषणा, ग्रहणेषणा तथा परिभोगेषणा का पालन करना चाहिये। इसमें गवेषणा के अन्तर्गत उद्गम के १६ और उत्पादन के १६ तथा ग्रहेषणा के अन्तर्गत एषणा के १० और परिभोगेषणा के ५ दोष होते हैं। ये मूल ४७ दोष निम्न हैं :[२२२]

### उद्गम के दोष

१. आधाकर्म; २. औद्देशिक; ३. पूतिकर्म; ४. मिश्रजात; ५. स्थापनाकर्म; ६. प्राभृत; ७. प्रादुष्कण; ८. क्रीत; ९. प्रामिला; १०. परावर्त; ११. अभिहृत; १२. उद्भिन्न; १३. मालापहृत; १४. आच्छेद्य; १५. अनिसृष्ट; और १६. अध्वपूरक।

### उत्पादन के दोष :

१. धात्री; २. दूती; ३. निमित्त; ४. आजीविका; ५. वनीपक; ६. चिकित्सा; ७. क्रोधपिण्ड; ८. मानपिण्ड; ९. मायापिण्ड; १०. लोभपिण्ड; ११. संस्तव; १२. विद्या; १३. मन्त्र; १४. चूर्ण; १५. योगपिण्ड; और १६. मूलदोष।

### एषणा के दोष

१. शंकित; २. भ्रमित; ३. निक्षिप्त; ४. पिहित; ५. संह्यत; ६. दायक; ७. उन्मिष; ८. अपरिगत; ९. लिप्त; और१०. छर्दित।

### परिभोगेषणा के दोष

१. संयोजना; २. अप्रमाण; ३. अंगार; ४. धूम; और ५. अकारण।

## *१२. सचेल-अचेल*

दिगम्बर परम्परानुसार अचेल (निर्वस्त्र) ही मुनिपद का अधिकारी है। श्वेताम्बर परम्परानुसार अचेल और सचेल - दोनों ही मुनिपद एवं मोक्ष के अधिकारी हैं। यापनीय परम्परानुसार मुनि की अचेलता श्रेष्ठ मार्ग है - सचेलता अपवाद मार्ग है, मूलमार्ग

---

[२२२] वही टीका पत्र ७२९-३४ (लक्ष्मीवल्लभगणि)।

नहीं।

इस समस्या के साथ जैनधर्म में चैत्यवास और बनवास की परम्पराएँ भी हैं। चैत्यवास की परम्परा परवर्तीकाल में विकसित हुई।

उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि के ठहरने का स्थान, जिसे उपाश्रय या वसति कहते हैं, उसका वर्णन इस प्रकार मिलता है :

१. उपाश्रय सुसज्जित न हो;
२. उपाश्रय एकान्त एवं शान्त हो;
३. उपाश्रय परकृत हो;
४. मुनि के लिए परिष्कृत न हो;
५. जीवादि से रहित हो;
६. ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक हो।

## ४.३.४ उत्कृष्ट-मध्यम अन्तरात्मा

इस वर्ग के अन्तर्गत वे आत्माएँ आती हैं जो अपनी विकास यात्रा को गतिशील रखने के लिए श्रेणी आरोहण करती हैं। जैनदर्शन के अनुसार साधक यह आध्यात्मिक विकास यात्रा दो मार्गों से करता है :

१. उपशम श्रेणी; और २. क्षपक श्रेणी।

जो साधक वासनाओं और कषायों को उपशमित करते हुए अपनी विकासयात्रा करता है, वह आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान से प्रारम्भ करते हुए अन्त में ११वें उपशान्तमोह गुणस्थान तक अपना आध्यात्मिक विकास करता है। किन्तु दमित वासनाएँ और कषाय पुनः अभिव्यक्त होकर उसे साधना की इस उच्चतम अवस्था से गिरा देते हैं; पर जो साधक क्षायिकश्रेणी से अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है, वह वासनाओं और कषायों का उन्मूलन करता हुआ अन्त में १२वें क्षीणमोह गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह उत्कृष्ट अन्तरात्मा के पद को प्राप्त करता है।

जहाँ तक मध्यम-उत्कृष्ट आत्माओं का प्रश्न है, उनमें उपशम श्रेणी से आरोहण करने वाली आत्माओं में ८वें अपूर्वकरण

गुणस्थान से लेकर ११वें उपशान्तमोह गुणस्थानवर्ती आत्माएँ आती हैं। जो आत्माएँ क्षायिक श्रेणी से आरोहण करती हैं, उनमें ८वें अपूर्वकरण गुणस्थान से लेकर १२वें क्षीणमोह गुणस्थान तक की आत्माएँ होती हैं। इन्हें उत्कृष्ट-मध्यम अन्तरात्मा इसलिए कहा जाता है क्योंकि उनमें किसी न किसी रूप में संज्वलन कषाय की सत्ता बनी रहती है।

उत्कृष्ट अन्तरात्मा वह होती है जिसमें वासनाओं और कषायों का पूर्णतः अभाव होता है। इसीलिए क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती आत्माओं को उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहा जाता है। वह शीघ्र ही परमात्म अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

।। चतुर्थ अध्याय समाप्त।।

सिद्ध भगवान

# परमात्मा

अध्याय ५

# परमात्मा का स्वरूप, लक्षण और प्रकार

## ५.१ परमात्मा का सामान्य स्वरूप

त्रिविध आत्मा की इस अवधारणा में अन्तिम आत्मा को परमात्मा कहा गया है। सामान्यतः यह माना जाता है कि जैन धर्म अनीश्वरवादी है। किन्तु यह कथन उसी सीमा तक सत्य हो सकता है जहाँ तक ईश्वर को सृष्टिकर्ता, उसका नियामक और संचालक माना जाता है। जैनदर्शन का विरोध ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व की अवधारणा से है। उसके अनुसार आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में परमात्मा भी है। उसका उद्घोष है कि 'अप्पा सो परम अप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। वह यह भी मानकर चलता है कि प्रत्येक आत्मा बीज रूप में परमात्मा है। तक आत्मा कर्ममल से युक्त है और संसार में रही हुई है तब तक वह अशुद्ध आत्मा है। किन्तु जैसे ही वह अपने कर्मावरण का क्षय करती है, परमात्मस्वरूप को उपलब्ध हो जाती है।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त है किन्तु उसकी ये शक्तियाँ कर्मावरण के कारण कुण्ठित हैं। आत्मा अपने प्रयत्न और पुरुषार्थपूर्वक जब इस कर्मावरण को दूर कर देती है और उसमें अनन्तचतुष्टय का प्रकटन हो जाता है तब उसे परमात्मा कहा जाता है। अनन्तचतुष्टय को आवृत्त करने वाले जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म हैं, उनके क्षय होने पर आत्मा अर्हत्, वीतराग और सर्वज्ञ पद को प्राप्त करती है। इसके पश्चात् जब आत्मा नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय कर्मों का क्षय कर देती है तो वह सिद्धपद को प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार

जैनदर्शन में परमात्मा के दो प्रकार माने गये हैं।[१]

१. अर्हत् और २. सिद्ध।

## ५.१.१ अर्हत् परमात्मा

जिस आत्मा ने ज्ञानावरणादि चारों घातीकर्मों को क्षय कर दिया है और उसके परिणामस्वरूप जिसमें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य – ऐसे अनन्त-चतुष्टय का प्रकटन हो गया है, उसे अर्हत् परमात्मा कहा गया है। अर्हत् परमात्मा वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। उन्हें अन्य परम्परा की शब्दावली में हम जीवनमुक्त भी कह सकते हैं; क्योंकि जिसकी जन्म मरण की परम्परा समाप्त हो गयी वह चरम शरीरी होता है। वह इस शरीर के पश्चात् अन्य शरीर को धारण नहीं करता। यह उसका अन्तिम शरीर होता है। देहपात होने पर वे सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेते हैं। अर्हत् परमात्मा संसार में होकर भी वे उससे अलिप्त होते है और सामान्य रूप से सदैव ही अपने स्वस्वरूप में निमग्न रहते हैं। अर्हत् परमात्मा को केवली भी कहा जाता है, केवली शब्द के दो अर्थ हैं :

१. जो केवल अपनी आत्मा में ही रमण करते हैं वे केवली कहे जाते हैं क्योंकि उनकी अभिरुचि बाह्य जगत् में नहीं होती और
२. केवलज्ञान का धारक होने से उन्हें केवली कहा जाता है; क्योंकि केवलज्ञान अकेला और असहाय होता है उन्हें अन्य किसी ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है।

## ५.१.२ सामान्य केवली और तीर्थंकर

जैन परम्परा में अर्हत् परमात्मा के दो प्रकार माने गये हैं :

१. सामान्य केवली और २. तीर्थंकर ।

सामान्य केवली और तीर्थंकर में अनन्त-चतुष्टय के प्रकटन की अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं होता। दोनों ही अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तसुख और अनन्तवीर्य के स्वामी होते हैं। इस दृष्टि से दोनों में समानता रही हुई है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन

---

[१] डॉ. सागरमल जैन से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर।

परम्परा में प्राचीन काल में सामान्य केवली और तीर्थंकर दोनों को ही अर्हत्-पद का धारक माना जाता है किन्तु तीर्थंकर में इतना विशेष होता है कि वह चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करता है और धर्ममार्ग का पुनः प्रवर्तन करता है। तीर्थ शब्द साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ का वाचक है। जो चतुर्विधसंघ की स्थापना करता है, वह तीर्थंकर कहा जाता है।[२]

तीर्थंकर शब्द का उल्लेख स्थानांगसूत्र, समवायांग, भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र में उपलब्ध होता है, किन्तु कालक्रम की दृष्टि से ये सभी आगम परवर्ती माने गये हैं। प्राचीन स्तर के आगमों में आचारांगसूत्र, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र और ऋषिभाषित आते हैं किन्तु इन आगम ग्रन्थों में केवल उत्तराध्ययनसूत्र में ही तीर्थंकर शब्द प्राप्त होता है। आचारांगसूत्र आदि ग्रन्थों में अर्हत् शब्द का प्रयोग ही अधिक हुआ है। आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुत-स्कन्ध में भूतकाल और भविष्यकाल के अर्हत्तों की अवधारणा मिलती है।[३] तीर्थ शब्द का सामान्य अर्थ यह है कि नदी आदि का वह घाट जहाँ से उसे सुविधापूर्वक पार किया जा सकता है। इस अपेक्षा से तीर्थंकर उन्हें कहा जाता है जो संसार के प्राणियों को संसार समुद्र से पार होने का मार्ग बताते हैं। विशेषावश्यकभाष्य में तीर्थ की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि जिसके द्वारा पार हुआ जाता है, उसको तीर्थ कहते हैं। इस आधार पर जिन-प्रवचन तथा ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न संघ को भी तीर्थ कहा गया है। तीर्थ के चार प्रकार किये गये हैं :

१. नाम तीर्थ; २. स्थापना तीर्थ;
३. द्रव्य तीर्थ; और ४. भावतीर्थ ।

तीर्थ नाम से सम्बोधित किये जानेवाले स्थानादि नाम तीर्थ कहे जाते हैं। जिन स्थानों पर भव्य आत्माओं का जन्म, मुक्ति आदि होती है और उनकी स्मृति में मन्दिर, प्रतिमा आदि स्थापित किये जाते हैं, वे स्थापना तीर्थ कहलाते हैं। जल में डूबते हुए व्यक्ति को

---

[२] (क) 'तिथ्यं पुण चाउवण्णे समणसंघे समणा, समणीओ, सावयाष्सावियाओ ।। ७४ ।।'
-भगवतीसूत्र शतक २०/८ ।

(ख) योगबिन्दु २८७-२८८ ।

[३] आचारांगसूत्र १/४/१/१ ।

पार करने वाले द्रव्य तीर्थ कहलाते हैं। जिनके द्वारा क्रोधादि विकार दूर होते हों, वह निर्ग्रन्थ प्रवचन भावतीर्थ कहा जाता है। तीर्थंकरों के द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ भी संसार समुद्र से पार कराने वाला होने से भावतीर्थ कहा जाता है। भाव-तीर्थ के संस्थापक ही तीर्थंकर कहे जाते हैं।[४] तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर आत्मा तीर्थंकर बनने की योग्यता प्राप्त कर लेती है।[५] जिस भव में तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करता है उसके तृतीय भव में वह नियमतः तीर्थंकर बनता हैं।[६]

जैन परम्परा में सामान्य केवली की अपेक्षा तीर्थंकर की कुछ विशेषताएँ मानी गयी हैं, जिन्हें परम्परा में अतिशय के नामों से जाना जाता है। तीर्थंकर के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवल्य और निर्वाण ऐसे पाँच कल्याणकों में इन्द्र एवं देव उपस्थित रहते है।[७] इसके अतिरिक्त वे ३४ अतिशयों और ३५ वचनातिशयों से युक्त होते हैं। इस प्रकार सामान्य केवली की अपेक्षा से तीर्थंकरों में कुछ विशेषताएँ होती हैं। जिनकी विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ तो हमने केवल सामान्य केवली और तीर्थंकरों के अन्तर को स्पष्ट करने की दृष्टि से संकेत मात्र किया है।

## ५.१.३ सयोगी केवली और अयोगी केवली

अर्हत् परमात्मा के एक अन्य अपेक्षा से निम्न दो प्रकार बताये जाते है : सयोगी केवली और अयोगी केवली। जैनदर्शन में योग शब्द मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का वाचक है। जब तक मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ होती हैं तब तक अर्हत् या केवली को सयोगी कहा जाता है। चूंकि अर्हत् परमात्मा

---

४ (क) 'तीर्थंकर, बुद्ध और अवतारः एक अध्ययन' देखिये पृ. २७ एवं २८ ।-डॉ. रमेशचन्द्र ।
(ख) 'तित्थंति पुव्वभणियं संघो जो नाणचरणसंघाओ ।
इह पवयणं पि तित्थं, तत्तोऽणत्थंतरं जेण ।। १३८० ।।' -विशेषावश्यकभाष्य ।

५ इमेहिय णं बीसाए णं कारणेहिं आसेविय-बहुलीकएहिं तित्थयरनामगोयं
कम्म णिव्वत्तिंसु, तं जहा ।। ६ ।।' -ज्ञाता धर्मकथा ६/८/१८ ।

६ (क) धवला ८/३, ३८/७५/१ ।
(ख) 'तीर्थंकर, बुद्ध और अवतारः एक अध्ययन' देखिये पृ. ३० से ३१ । -डॉ. रमेशचन्द्र ।

७ जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग १ पृ. १४० भाग २ पृ. १५७ ।

शरीरधारी होते हैं और उनमें मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि सयोगी केवली में जो वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ होती हैं वे इच्छा या संकल्पजन्य नहीं होतीं; किन्तु विवेकजन्य होती हैं। लोकमंगल के लिये तीर्थंकर में उपदेशादि प्रवृत्ति देखी जाती है। किन्तु यह उनकी सहज प्रवृत्ति है। यही कारण है कि दिगम्बर परम्परा यह मानती है कि भगवान की वाणी खिरती है। इसी प्रकार सयोगी केवली में कोई इच्छा या संकल्प-विकल्प नहीं होते। उनमें संकल्प-विकल्प रूप मन का अभाव होता है, किन्तु विवेकरूप मन का सद्भाव होता है। जब तक अर्हत् परमात्मा में उपरोक्त कायिक, वाचिक और मानसिक योग का प्रवर्तन होता है, तब तक वे सयोगी केवली कहे जाते हैं। किन्तु जब आयुष्य कर्म अत्यल्प रह जाता है तब वे अपनी कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों का निरोध करते हैं और तब वे अयोगी केवली अवस्था को प्राप्त होते हैं। इसके निरोध की प्रक्रिया यह है कि स्थूल काययोग का निरोध किया जाता है इसके पश्चात् स्थूल वचनयोग का निरोध होता है। स्थूल वचनयोग के निरोध के पश्चात् स्थूल मनोयोग का निरोध होता है। फिर सूक्ष्म मनोयोग का निरोध होता है। सूक्ष्म मनोयोग के निरोध के पश्चात् सूक्ष्म काययोग का निरोध होता है। सूक्ष्म काययोग के निरोध के पश्चात् अर्हत् परमात्मा की आत्मा इस देह का त्याग कर सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेती है और लोकाग्र पर विराजित हो जाती है।

सिद्ध परमात्मा के कर्मावरण पूरी तरह से समाप्त हो जाते हैं। वे देह को त्यागकर देहातीत हो जाते हैं। उनकी आत्मा संसार की जन्म मरण की परम्परा से मुक्त हो जाती है। वे अशरीरी और अमूर्त होते हैं तथा अनन्त-चतुष्टय रूप स्वरूप में निमग्न हो जाते हैं।

यहाँ हमने अर्हत् और सिद्ध परमात्मा के सामान्य स्वरूप की चर्चा की है। तीर्थंकर और सिद्धों के स्वरूप पर हम आगे विचार करेंगे। किन्तु इसके पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि विभिन्न जैनाचार्यों ने कालक्रम में अर्हत् और सिद्धों के स्वरूप की चर्चा किस तरह की है।

## ५.२ जैनाचार्यों की दृष्टि में परमात्मा का स्वरूप एवं भेद

जैनदर्शन में चार घाती और चार अघाती कर्मों का नाश करके, कर्ममल से रहित एवं राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने वाले सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, चैतन्यव्यापी आत्मा को परमात्मा कहा गया है। परमात्मा के दो भेद किये गये हैं : अर्हत् और सिद्ध। अर्हत् परमात्मा सशरीरी हैं और सिद्ध परमात्मा निरंजन, निराकार हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य और स्वामी कार्तिकेय ने समस्त कर्मों से रहित शुद्धात्मा को परमात्मा कहा है।[८] समाधितन्त्र और परमात्मप्रकाश आदि में भी परमात्मा के स्वरूप की चर्चा है। शुभचन्द्राचार्य ने कहा भी है कि (१) कर्मावरण रहित; (२) शरीर विहीन; (३) रागादि विकारों से रहित, निष्पन्न कृत्यकृत्य, अविनाशी सुखस्वरूप तथा निर्विकल्प शुद्ध आत्मा को परमात्मा कहा गया है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय ने परमात्मा के दो भेद स्वीकार किये हैं: अर्हत् ओर सिद्ध।[९] नयचक्र में भी इसी प्रकार से दो भेद किये गये हैं :

(१) सकल परमात्मा; और (२) विकल परमात्मा ।

बृहद्नयचक्र[१०] एवं नियमसार[११] की तात्पर्यवृत्ति में भी परमात्मा के दो भेद किये गये है :

(१) कारण परमात्मा; और (२) कार्य परमात्मा ।

अर्हत् परमात्मा ही कारण परमात्मा हैं तथा सिद्ध परमेष्ठि कार्य परमात्मा हैं। इस प्रकार विभिन्न जैनाचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से परमात्मा के स्वरूप एवं प्रकारों की चर्चा की है। आगे हम क्रमशः इस पर विचार करेंगे।

---

[८] मोक्षपाहुड गा. ५, ६ एवं १२ ।

[९] कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. १६२ ।

[१०] नयचक्र गा. ३४० ।

[११] नियमसार तात्पर्यवृति गा. ६ की वृत्ति ।

## ५.२.१ आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में परमात्मा का स्वरूप

### (क) मोक्षपाहुड के अनुसार परमात्मा

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने नियमसार के अतिरिक्त मोक्षपाहुड में भी परमात्मा के स्वरूप का विवेचन किया है। वे लिखते हैं कि परमात्मा कर्मरूपी मल से रहित हैं। वे अतीन्द्रिय और अशरीरी हैं। वे विशुद्धात्मा केवलज्ञान से युक्त हैं और उन्हें परमेष्टि, परमजिन, शिवशंकर, शाश्वत्, शुद्ध आदि नामों से भी जाना जाता है।[१२] वे परमात्मा आठ दुष्ट कर्मों से रहित हैं, अनुपम एवं ज्ञान विग्रह रूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप हैं।[१३] शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा आत्मद्रव्य को ही जिनेन्द्र भगवान ने स्वद्रव्य कहा है। जो परद्रव्यों से पराङ्मुख होकर अर्थात् बहिर्मुखी दृष्टि का परित्याग करके इस शुद्ध आत्मद्रव्य अर्थात् परमात्मा का ध्यान करते हैं, वे जिनेन्द्रदेव के मार्ग का अनुसरण करते हुए निर्वाण को प्राप्त होते हैं अर्थात् परमात्मस्वरूप को प्राप्त करते हैं।[१४] आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में शुद्ध आत्मतत्त्व में निमग्न होना ही परमात्मा बनने का एकमात्र उपाय है। वस्तुतः जो अपने शुद्ध आत्मतत्त्व में निमग्न रहता है वह परमात्मा ही है। उनके अनुसार जैसे कसौटी में कस कर स्वर्ण शुद्ध हो जाता है; वैसे ही तप आदि आत्मशोधन सामग्री से काललब्धि के परिपाक होने पर यह आत्मा परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार यहाँ आचार्य कुन्दकुन्ददेव यह बताते हैं कि कर्ममल से विमुक्त आत्मा ही परमात्मा है।[१५] आगे परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये मोक्षपाहुड में वे लिखते हैं कि कर्मकलंक से रहित

---

[१२] 'मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ।। ६ ।।' -मोक्षपाहुड ।

[१३] 'परमप्प झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण ।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ।। ४८ ।।' -वही ।

[१४] 'विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो ।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ।। ४६ ।।' -मोक्षपाहुड ।

[१५] 'अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ।। २४ ।।' -वही ।

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी केवलज्ञान से युक्त शुद्धात्मा ही परमात्मा है। उसे सिद्ध भी कहा जाता है।[१६]

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों आत्मा में स्थित हैं। इसलिए अन्तरात्मा यह मानती है कि आत्मा ही मेरे लिए शरण है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने आत्मतत्त्व को अनिर्वचनीय तत्त्व कहा है।[१७]

## (ख) नियमसार के अनुसार परमात्मा

आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड के अतिरिक्त नियमसार के शुद्धोपयोग अधिकार में परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट किया है। विशेषरूप से यहाँ उन्होंने परमात्मा के विशिष्ट लक्षण केवलज्ञान को लेकर ही चर्चा की है। इस चर्चा में सर्वप्रथम उन्होंने प्रश्न उठाया है कि केवली भगवान क्या जानते हैं और क्या देखते हैं? वे कहते हैं कि केवली भगवान सर्वद्रव्यों और उनकी सर्वपर्यायों को जानते और देखते हैं; यह केवल व्यवहारनय का कथन है।

वस्तुतः परमात्मा अपनी आत्मा को ही जानते और देखते हैं।[१८]

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार केवलज्ञानी भगवान का दर्शन

---

[१६] 'सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ।। ३५ ।।' -वही ।

[१७] (क) 'रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण ।
सो झायदि अप्पाणं परिहरइ परं ण झदेहो ।। ३६ ।।'
(ख) 'रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ।
आराहणाविहाण तस्स फलं केवलं णाणं ।। ३४ ।।'
(ग) 'जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च सणं णेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ।। ३७ ।।
(घ) 'तच्चरुई सम्मतं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिंदेहिं ।। ३८ ।।'
(च) 'जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए ।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ।। ४३ ।।'
(च) जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्प कम्मरहिएहिं ।। ४२ ।।' -वही ।

[१८] 'जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।। १५९ ।।' -नियमसार १२ ।

और ज्ञान उसी प्रकार से युगपत् होता है; जैसे सूर्य का प्रकाश और ताप युगपत् होता है। यहाँ आचार्य केवली के ज्ञान और दर्शन के युगपत् होने के पक्ष का समर्थन करते हैं।[१९] वे कहते हैं कि यदि हम यह मानते हैं कि ज्ञान 'पर' का प्रकाशक है, दर्शन 'स्व' का प्रकाशक है और आत्मा 'स्व-पर' प्रकाशक है; तो उसमें विरोध आता है। ज्ञान को 'पर' का प्रकाशक मानने पर ज्ञान और दर्शन भिन्न-भिन्न हो जायेंगे; क्योंकि दर्शन 'पर' का प्रकाशक नहीं है। अतः वह पर-प्रकाशक ज्ञान से भिन्न होगा। पुनः यदि आत्मा को पर-प्रकाशक मानेंगे तो दर्शन आत्मा से ही भिन्न होगा; क्योंकि दर्शन पर-प्रकाशक नहीं है। अतः केवली भगवान की आत्मा तथा उनका ज्ञान और दर्शन पर-प्रकाशक है; यह मात्र व्यवहार नय का वचन है। निश्चयनय से तो केवली भगवान का ज्ञान और दर्शन सभी आत्म-प्रकाशक ही है।

निश्चय से तो केवली भगवान आत्मस्वरूप के ही ज्ञाताद्रष्टा हैं न कि लोकालोक के।[२०] वस्तुतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है और इसलिए आत्मा अपने को ही जानती है क्योंकि यदि ज्ञान आत्मा न जाने तो वह आत्मा से भिन्न होगा, किन्तु आत्मा से भिन्न ज्ञान और दर्शन तथा ज्ञान और दर्शन से भिन्न आत्मा सम्भव नहीं है। फिर भी केवली का ज्ञान विमर्श या विकल्पपूर्वक नहीं होता है। न केवल उनका ज्ञान अपितु उनकी कोई भी क्रिया इच्छापूर्वक नहीं होती है। जो क्रियाएं इच्छापूर्वक होती हैं, वे बन्धन का कारण होती हैं;

---

[१९] 'जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा ।
दिणयरपयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ।। १६० ।।' -नियमसार ।

[२०] (क) 'णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव ।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ।। १६१ ।।' -नियमसार १२ ।

(ख) 'णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ।। १६२ ।।' -वही ।

(स) 'अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ।। १६३ ।।' -वही ।

(ग) 'णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा ।। १६४ ।।' -वही ।

(घ) 'णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।। १६५ ।।' -वही ।

क्योंकि इच्छा राग का परिणाम है। केवली भगवान समस्त विकल्पों से रहित हैं। केवली भगवान के आयुष्य के क्षय होने पर उनकी समस्त कर्म प्रकृतियाँ क्षय हो जाती हैं और वे समय मात्र में ही लोकाग्र पर स्थित हो जाते हैं।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने नियमसार में सर्वप्रथम सयोगी केवली (अर्हत् परमात्मा) के स्वरूप का वर्णन किया है। आगे वे इसी क्रम में सिद्ध परमात्मा का वर्णन करते हैं।[२१] सिद्ध परमात्मा जन्म-जरा-मृत्यु से रहित हैं। वे परम पारिणामिक भाव द्वारा अपने स्व-स्वभाव में रमण करने वाले होने के कारण परमात्मा कहलाते हैं। वे अष्टकर्मों से रहित हैं। सिद्धपरमात्मा अक्षय, अविनाशी, अछेद्य और ज्ञानादि चार स्वभाववाले हैं।[२२] यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि सिद्धपरमात्मा अव्याबाध, अतीन्द्रिय एवं अनुपम हैं। वे पुण्य, पाप से एवं पुनरागमन से रहित हैं।[२३] वे नित्य हैं, अचल हैं और निरालम्ब (अनालम्ब) हैं। वे आगे कहते हैं कि सिद्धालय में जहाँ सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं वहाँ न दुःख है, न सुख। न ऐन्द्रिक विषयजन्य सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है। न मरण है और न जन्म।[२४] वहाँ इन्द्रियों के उपसर्ग नहीं हैं, मोह नहीं है, विस्मय नहीं है, निद्रा नहीं है। तृष्णा नहीं है और क्षुधा भी नहीं है।[२५] क्योंकि वे शरीर, इन्द्रियों एवं मन से रहित हैं।

अतः तद्जन्य उपसर्गों का सिद्धावस्था में अभाव होता है।[२६]

---

[२१] 'अप्पसरुवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ।। १६६ ।।' -नियमसार (शुद्धोपयोगाधिकार) ।

[२२] 'मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च ।
पेच्छं तस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ।। १६७ ।।' -वही ।

[२३] 'जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं ।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ।। १७७ ।।' -वही ।

[२४] 'अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं ।
पुणरागगमण विरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं ।। १७८ ।।' -नियमसार (शुद्धोपयोगाधिकार) ।

[२५] 'णवि दुक्खं णवि सुखं णवि पीड़ा णेव विज्जदे बाहा ।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होई णिव्वाणं ।। १७९ ।।' -वही ।

[२६] 'णवि इन्द्रिय उवसग्गा णवि मोहोविम्हिओ ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।। १८० ।।' -वही ।

पुनः मोह विस्मयादि दोष संसारियों में ही होते हैं और वे ही संसार के कारणभूत हैं। आगे पुनः आचार्य कुन्दकुन्ददेव लिखते हैं कि सिद्धावस्था में कर्म और नोकर्म (अर्थात् शरीर) नहीं है। चिन्ता भी नहीं है। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान भी नहीं है। इस प्रकार सिद्धावस्था के अभावात्मक स्वरूप का विवेचन हुआ है।[२७] आगे सिद्ध परमात्मा के स्वाभाविक गुणों या विधेयात्मक गुणों का कथन करते हुए वे कहते हैं कि सिद्ध भगवान अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसौख्य और अनन्तवीर्य इन अनन्त-चतुष्टयों से युक्त हैं। साथ ही उनके अमूर्त्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व आदि स्वाभाविकगुण होते है।[२८] आगे वे बताते हैं कि जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहाँ तक जीव और पुद्गल गमन करते हैं। धर्मास्तिकाय के अभाव में आत्मा लोकान्त से आगे नहीं जा सकती है। अतः सिद्ध परमात्मा स्वरूप में निमग्न होकर लोकाग्र पर स्थित हैं।[२९]

## ५.२.२ स्वामी कार्तिकेय के अनुसार परमात्मा का स्वरूप :

स्वामी कार्तिकेय परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जो केवलज्ञान के द्वारा सकल पदार्थों को जानते हैं, वे शरीर युक्त अर्हत् परमात्मा कहे जाते हैं।[३०] किन्तु जिन्होंने शरीर का भी परित्याग कर दिया है; ज्ञान ही जिनका शरीर है; ऐसे

---

२७ 'णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिन्ता णेव अट्टरुद्दाणि ।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।। १८१ ।।' -वही ।

२८ 'विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं ।
केवल दिट्ठी अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ।। १८२ ।।' -वही ।

२९ 'जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छन्ति ।। १८४ ।।' -वही ।

३० (क) 'जं सव्वं पि पयासदि दव्वपज्जायसंजुदं लोयं ।
तह य अलोयं सव्वं, तं णाणं सव्वपच्चक्खं ।। २५४ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

(ख) 'णाणं ण जादि णेयं णेय पि ण जादि णाण देसम्मि ।
णियणियदे सठियाणं, ववहारो णाणणेयाणं ।। २५६ ।।' -वही ।

सर्वोत्तम सुख (आनन्द) को प्राप्त अशरीरी सिद्ध परमात्मा हैं।[३१] इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी कार्तिकेय सर्वप्रथम परमात्मा के दो भेद करते हैं[३२] :

१. अर्हत् परमात्मा और २. सिद्ध परमात्मा।

उनके अनुसार अर्हत् और सिद्ध में मुख्य अन्तर शरीर की उपस्थिति को लेकर है। अर्हत् परमात्मा शरीर से युक्त होते हैं और सिद्ध परमात्मा अशरीरी होते हैं। अर्हत् और सिद्ध के इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए पुनः वे लिखते हैं कि जिन्होंने समस्त कर्मों का नाश करके अपने स्वभाव को प्रकट कर लिया है, वे सिद्ध परमात्मा हैं; किन्तु कर्मों के औदयिक आदि भाव को समाप्त करके अर्थात् घातीकर्मों के नाश से अनन्तचतुष्क रूप आत्मस्वरूप को प्रकट करने वाले अर्हत् परमात्मा कहे जाते हैं।[३३] इस प्रकार यहाँ स्वामी कार्तिकेय ने अर्हत् और सिद्ध का अन्तर कर्मों के क्षय के आधार पर भी किया है। जिसके ज्ञानावरणयादि चार घातीकर्म क्षय हो गये हैं और उसके परिणामस्वरूप अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य – ऐसे अनन्तचतुष्टय का प्रकटन हुआ है उन्हें अर्हत् कहा जाता है और जिसके चारघाती और चार अघातीकर्म क्षीण हो गये हैं, वे सिद्ध परमात्मा कहे जाते हैं। आगे उन्होंने शुक्लध्यान के दो चरणों की चर्चा करते हुए अर्हत् और सिद्ध के अन्तर को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं कि मोह का सम्पूर्ण रूप से विलय होने पर क्षीणकषाय नामक गुणस्थान के अन्तिमकाल में स्व-स्वरूप में लीन होते हुए शुक्लध्यान के द्वितीय चरण के अन्त में जो केवलज्ञान स्वभाव में प्रकट होता है वह अर्हत् या सयोगी जिन की अवस्था है। यहाँ आचार्य कार्तिकेय

---

[३१] 'स सरीरा अरहंता, केवलणाणेण मुणियसयलत्था ।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता ।। १६८ ।।' -वही ।

[३२] 'जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अन्तरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ।। १६२ ।।' -वही ।

[३३] (क) 'णिस्सेसकम्मणासे, अप्पसहावेण जा समुप्पत्ती ।
कम्मजभावखए वि य, सा वि य पत्ती परा होदि ।। १९९ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

(ख) 'उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परमतच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो ।। २०४ ।।' -वही ।

अर्हत् परमात्मा के भी दो भेद करते हैं – सयोगीकेवली और अयोगीकेवली। जब अर्हत् परमात्मा काययोग में स्थित रहते हुए सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्लध्यान के तृतीय चरण में स्थित रहते हैं, तब तक वे सयोगी जिन या सयोगीकेवली कहे जाते हैं, किन्तु जब वे शुक्लध्यान के क्रिया-निवृत्ति नामक चतुर्थ चरण में प्रवेश करके समस्त योगों का निरोध करने के साथ ही अवशिष्ट अघातीकर्मों की प्रवृत्तियों को क्षय करते हैं, तब वे अयोगी केवली अर्हत् परमात्मा कहे जाते हैं। जब समस्त कर्मों को क्षीण करके शरीर का भी त्याग हो जाता है, तब सिद्ध परमात्मा की अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार स्वामी कार्तिकेय ने अर्हत् के दो भेद सयोगी केवली, अयोगी केवली तथा सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का निर्वचन किया है। सिद्ध परमात्मा के लिये वे कहते है कि जिन्होंने समस्त कर्मों के पुंज का क्षय करके मुक्ति-सुख को प्राप्त किया है, वे सिद्ध परमात्मा हैं।[३४]

## ५.२.३ आचार्य पूज्यपाद के अनुसार परमात्मा का स्वरूप :

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने परमात्मा के विभिन्न गुणवाचक नामों का उल्लेख किया है। वे निम्न हैं :

"निर्मल, केवल, शुद्ध, विविक्त, प्रभु, अव्यय, परमेष्ठी,
परात्मा, परमात्मा, ईश्वर, जिन इत्यादि।"[३५]

वे लिखते हैं कि परमात्मा सर्व इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्तित चित्तवृत्ति को रोककर बहिर्जल्प एवं अन्तर्जल्पादि संकल्प-विकल्पों से रहित कहे गए हैं। परमात्म स्वरूप आत्मा में ही विद्यमान है। वे बाह्य में कहीं उपलब्ध नहीं होते। परमात्मा अनन्तआनन्द, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त होते हैं। आत्मा स्वयं शक्तिरूप में परमात्मा है। उसी शक्तिरूप परमतत्त्व की

---

[३४] णिस्सेसमोह विलए, खीणकसाए य अंतिमे काले ।
ससरूवम्मि णिलीणो, सुक्कं ज्झाएदि एयत्तं ।। ४८३ ।। -वही ।

[३५] 'निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्टी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ।। ६ ।।' -समाधितन्त्र ।

आत्मोपासना से परमात्मा का स्वरूप प्रकट होता है।[३६] समाधितन्त्र में आचार्य पूज्यपाद् लिखते हैं कि परमात्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप हैं। वे आनन्दकन्द हैं। वे परमज्योतस्वरूप हैं। परमात्मा के अनन्त गुण हैं। इसलिए परमात्मा के अनन्त नाम हैं। वे निम्न हैं :

"अजर, अमर, अक्षय, अरोग, अभय, अविकार, अज,
अकलंक, अशंक, निरंजन, सर्वज्ञ, परमज्योति, बुद्ध,
आनन्दकन्द, शास्ता, विधाता आदि।

सिद्ध और अरिहन्त के भेद से परमात्मा के दो प्रकार होते हैं।[३७]

## ५.२.४ योगीन्दुदेव के अनुसार परमात्मा का स्वरूपः

### (क) परमात्मप्रकाश के अनुसार परमात्मा

योगीन्दुदेव ने परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए परमात्मा को दो प्रकार का बताया है :

१. सिद्ध परमात्मा और २. अरिहन्त परमात्मा।

यहाँ पर योगीन्दुदेव मुक्ति को प्राप्त हुए केवलज्ञानादि गुणों से युक्त सिद्ध परमात्मा का वर्णन इस प्रकार करते हैं : "जिसने देहादिक समस्त पर-द्रव्यों का परित्याग कर अर्थात् कर्मरहित होकर केवलज्ञान को उपलब्ध कर लिया है, उसे परमात्मा कहा जाता है।" योगीन्दुदेव आगे कहते हैं कि वे परमात्मा नित्य, निरंजन, ज्ञानमय, परमानन्द स्वभाव और शिवस्वरूप हैं। द्रव्यार्थिकनय से वे अविनाशी, रागादि उपाधि, कर्ममल से रहित एवं केवलज्ञान से परिपूर्ण शुद्धात्मा, वीतराग, परमानन्द से युक्त, शान्त और

---

[३६] (क) समाधितन्त्र श्लोक ७।
(ख) 'यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षा जालमात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ।। ८५ ।।' -समाधितन्त्र।

[३७] समाधितन्त्र प्रवचन पृ. ६४-६७। -पं. रतनचन्द भरिल्ल।

शिवस्वरूप हैं। उन्हें शुद्ध-बुद्ध स्वभाव वाला कहा गया है।[३८] शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से संसार अवस्था में रहते हुए सभी जीव शक्तिरूप से परमात्मा हैं। अभी वे उस परमात्मस्वरूप को प्रकट नहीं कर पाये हैं। अन्य ग्रन्थों में भी कहा गया है कि परमकल्याणरूप, शिवस्वरूप और निर्वाणरूप मुक्तिपद को जिसने पा लिया है, वही शिव है। योगीन्दुदेव के अनुसार ऐसी शुद्धात्मा ही शान्त है, शिव है और ध्येय है। परमात्मप्रकाश की १९, २० एवं २१वीं गाथा में योगीन्दुदेव द्वारा सिद्ध परमात्मा के निरंजन रूप की विस्तृत चर्चा की है। वे परमात्मा श्वेत आदि पाँच प्रकार के वर्णों, दो प्रकार की गन्ध तथा मधुर आदि पांच प्रकार के रसों से रहित हैं। वे शब्द रूप भी नहीं है अर्थात् शब्द के द्वारा भी ग्राह्य नहीं हैं। वे सप्त स्वर, शीत आदि आठ स्पर्श तथा जन्म, जरा, मृत्यु आदि से परे हैं। उन चिदानन्द सिद्ध परमात्मा में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों का अभाव है। वे मोह और ममता से रहित है। उनमें पुण्य-पाप, हर्ष-विषाद एवं क्षुधादि दोषों का अभाव है।[३९] वहाँ न ध्येय स्थान है और न ध्यान है। इस प्रकार योगीन्दुदेव ने निर्मल ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले निरंजन सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का कथन किया है। परमात्मप्रकाश में सिद्ध परमात्मा में यन्त्र, मन्त्र, मण्डल, मुद्रा आदि के व्यवहार का निषेध किया गया है।[४०] योगीन्दुदेव ने अग्रिम गाथाओं में परमात्मा के स्वरूप का उल्लेख इस प्रकार किया है : "वह परमात्मा वेदादिशास्त्रगम्य एवं इन्द्रियगम्य नहीं - केवल परम

---

[३८] (क) 'णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ।। १७ ।। -परमात्मप्रकाश १ ।
(ख) 'जो णिय - भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ।। १८ ।।' -वही ।

[३९] (क) 'जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ।। १९ ।।' -परमात्मप्रकाश १ ।
(ख) 'जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ।। २० ।।'
(ग) 'अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ।। २१ ।।' -परमात्मप्रकाश १ ।

[४०] 'जासु ण धारणु धेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु ।
जासु ण मंडलु मुद्द ण वि सो मुणि देउं अणंतु ।। २२ ।।' -वही ।

समाधिरूप निर्विकल्प ध्यान से ही गम्य है।"[४१] भावात्मक दृष्टि से योगीन्दुदेव ने उस परमात्मा को केवलज्ञानमय, केवलदर्शनमय, मात्र आनन्दस्वरूप और अनन्त शक्तिसम्पन्न कहा है। परमात्मस्वरूप को व्याख्यायित करते हुए उन्होंने परमात्मा के दो भेद बताये हैं :

१. सकल परमात्मा तथा २. निष्कल परमात्मा।

शरीर सहित जो अरिहन्त परमात्मा हैं वे साकाररूप सकल परमात्मा हैं एवं जिनके शरीर नहीं है ऐसे निराकार सिद्ध परमेष्ठि निष्कल परमात्मा हैं। वे सकल परमात्मा से भी उत्तम कहे गए हैं।[४२] यहाँ पर योगीन्दुदेव सिद्ध परमात्मा के लक्षणों को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि "वह औदारिक आदि पाँचों शरीर से रहित निराकार शुद्ध-बुद्ध सिद्ध परमात्मा है। जैसे सिद्धालय में स्थित सिद्ध परमात्मा हैं वैसे ही देहालय में भी विराजमान अरिहन्त परमात्मा हैं।"[४३] अरिहन्त परमात्मा व्यवहारनय से तो इस देह में रहते हैं किन्तु निश्चयनय से वे अपने स्वरूप में ही रहते हैं।[४४] जो देह में रहते हुए भी निश्चय से देह में नहीं होते, उन्हें शुद्धात्मा या परमात्मा कहा गया है।[४५]

अरिहन्त परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए योगीन्दुदेव कहते हैं कि "जिसके केवलज्ञान में यह संसार प्रतिभासित हो रहा है और इस संसार में ही स्थित हैं फिर भी उससे तन्मय नहीं

---

[४१] 'वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं जो जिय मुणहु ण जाइ ।
णिम्मल झाणहं जो विसउ सो परमप्पु अणाइ ।। २३ ।।' -वही।

[४२] 'केवल-दंसण-णाणमउ केवल-सुक्ख-सहाउ ।
केवल- वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरू भाउ ।। २४ ।।' -वही।

[४३] (क) 'एयहिँ जुत्तउ लक्खणहिं जो परू णिक्कलु देउ ।
सो तहिं णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहं झेउ ।। २५ ।।' -वही ।

(ख) 'देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमें देहु वि जो जि ।
देहें छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ।। ३४ ।।' -वही ।

[४४] 'जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ बंभु परू देहहँ मं करि भेउ ।। २६ ।।' -वही ।

[४५] 'जें दिट्ठें तुट्टंति लहु कम्मइं पुव्व-कियाइं ।
सो परू जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ ।। २७ ।।' -वही ।

है।[४६] वह अरिहन्त परमात्मा संसार में होकर भी संसार से उसी प्रकार भिन्न हैं[४७] जैसे नेत्र पदार्थों को देखते हुए भी उनसे भिन्न होते है।[४८] वह अरिहन्त परमात्मा देह में निवास करते हुए भी देह से अलिप्त है। उसके इस वीतराग निर्विकल्प और अतीन्द्रिय आनन्दमय स्वरूप को परम समाधिपूर्वक महातप के बिना नहीं जाना जा सकता।"[४९] योगीन्दुदेव इस तथ्य को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि यह आत्मा ही परमात्मा है। वे परमात्मा संसाररूपी बेल (वल्लरी) का नाश करने वाले हैं।[५०] वे आगे कहते हैं कि जिसके देह में रहने के कारण इन्द्रियग्राम रहता है और जिसके चले जाने से वह इन्द्रियग्राम उजड़ जाता है अर्थात् जिसके शरीर में रहने पर इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं और जिसके शरीर का त्याग कर देने पर इन्द्रियों का कार्य करना सम्भव नहीं होता; ऐसी आत्मा ही अपने शुद्धस्वरूप में परमात्मा है।[५१] जो आत्मा पाँचों इन्द्रियों के माध्यम से रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का स्पर्श करती

---

४६ 'जित्थु ण इंदिय सुह दुहइँ जित्थु ण मण वावारू ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ अण्णु परिं अवहारू ।। २८ ।।' -परमात्मप्रकाश १ ।

४७ 'देहादेहहिं जो वसइ भेयाभेय-णएण ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं किं अण्णें बहुएण ।। २९ ।।' -वही ।

४८ 'जीवाजीव म एक्कु करि लक्खण भेएँ भेउ ।
जो परू सो परू भणमि मुणि अप्प अप्पुअ भेउ ।। ३० ।।' -वही ।

४९ 'अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति विरहिउ चिमित्तु ।
अप्पा इंदिय-विसउ णवि लक्खणु एहु णिरूत्तु ।। ३१ ।।' -वही ।

५० (क) 'भव-तणु भोय विरत्त-मणु जो अप्पा झाएइ ।
तासु गुरूक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ ।। ३२ ।।' -वही ।
(ख) 'देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु ।'
केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ।। ३३ ।।' -वही ।
(ग) 'देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमें देहु वि जो जि ।
देहें छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ।। ३४ ।। वही ।

५१ 'देहि वसंते जेण पर इंदिय-गामु वसेइ ।
उव्वसु होइ गएण फुडु सो परमप्पु हवेइ ।। ४४ ।।' -वही ।

है, फिर भी वह इन्द्रियों से अज्ञेय ही रहती है; वही परमात्मा है।[५२] इस गाथा में भी योगीन्दुदेव ने आत्मा को ही परमात्मा कहा है। जिस प्रकार मण्डप के आधार से लता रहती है उसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान भी ज्ञेय पदार्थों के आधार पर ही रहता है। ज्ञेय पर आधारित होते हुए भी परमात्मा का ज्ञान ज्ञातास्वरूप निजगुण है।[५३] यद्यपि कर्मों के कारण आत्मा के ज्ञानादिगुण प्रकट होते हैं और नष्ट होते हैं किन्तु निश्चयदृष्टि से आत्मा का अनन्तज्ञानादि गुण स्वस्वरूप न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है।[५४] यद्यपि ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा के अनन्तचतुष्टय की अभिव्यक्ति को रोकते हैं किन्तु शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से वे कर्म उसके अनन्तचतुष्टय रूप परमात्मस्वरूप को कभी भी अन्यथा करने में समर्थ नही हैं।[५५] जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को आवृत्त करते हैं, ऐसा कहा जाता है, किन्तु बादलों से परे सूर्य सदैव ही वैसा चमकता रहता है, जैसा वह है। वैसे ही वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप आत्मा परमात्मा में एकाकार होकर, मोहरूपी मेघ समूह का नाश करके, मुनिवस्था में प्रवेश करके, वीतराग स्वसंवेदनज्ञान की प्राप्ति करके, स्व-पर के सर्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से केवलज्ञान प्रकाशित करते हैं एवं ऐसे केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य, इन अनन्तचतुष्टय से युक्त परमात्मा ही ध्यान करने योग्य हैं।[५६]

---

५२ (क) 'जो णिय-करणहि पंचहिं वि पंच वि विसय मुणेइ ।
मुणिउ ण पंचहिं-पंचहिं वि सो परमप्पु हवेइ ।। ४५ ।।' -वही ।
(ख) 'जसु परमत्थे बंधु णवि जोइय ण वि संसारू ।
सो परमप्पउ जाणि तुहुं मणि मिल्लिवि ववहारू ।। ४६ ।।' -वही ।

५३ 'णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि ।
मुक्कहं जसु पय बिंबियउ परम सहाउ भणेवि ।। ४७ ।।' -वही ।

५४ 'कम्महिं जासु जणंतहिं वि णिउ णिउ कज्जु सया वि ।
किं पि ण जाणियउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि ।। ४८ ।।' -वही ।

५५ 'कम्म-णिबद्धु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि ।
कम्मु वि जो ण कया वि फुडु सो परमप्पउ भावि ।। ४९ ।।' -वही ।

५६ (क) 'अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ।
जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ।। १०१ ।।' -परमात्मप्रकाश १ ।
(ख) 'जोइय णिय-मणि णिम्मलए पर दीसइ सिउ संतु ।
अंबरि णिम्मलि घण रहिए भाणु जि जेम फुरंतु ।। ११९ ।।' -वही ।

परमात्मप्रकाश में योगीन्दुदेव ने आत्मा और परमात्मा की अभेद स्थिति का निरूपण किया है। उनका यह निरूपण संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त भावपूर्ण है। वे लिखते हैं कि देहरूपी देवालय में अनन्त शक्तियों का स्वामी वह आत्मदेव ऐसे निवास करता है जैसे मानसरोवर में परमात्मदेवरूपी हंस निरन्तर रहता है। वैसे शुद्ध निश्चयनय से वह देह से भिन्न रहता है।[५७]

परमात्मा देहरूपी मन्दिर में निवास करते हुए भी उससे अलिप्त है।[५८] देह मूर्तिक और अशुचिमय है जबकि परमात्मा अमूर्त और परमपवित्र है। देह का निर्माण होता है और वह नष्ट भी होती है, किन्तु परमात्मा अनादि और अनन्त है। देह जड़ है, किन्तु परमात्मा चैतन्य है। परमात्मा उपादेय है जबकि देह हेय है। परमात्मस्वरूप यह आत्मा संसार दशा में देहरूपी मन्दिर में रहते हुए भी उससे भिन्न है। आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अपनी ज्ञानादि शक्तियों सहित शिवरूप है। वही परमात्मा है जो देह में रहकर भी देहातीत है और लोकालोक को प्रकाशित करने वाले

---

५७ 'णिय-मणि णिम्मलि णाणियहं णिवसइ देउ अणाइ ।
हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ।। १२२ ।।' -वही ।

५८ (क) 'देहहँ उप्परि परममुणि देसु वि करइ ण राउ ।
देहहँ जेणं वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ।। ५१ ।।' -वही २ ।

(ख) 'वित्ति-णिवित्तिहिं परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
बंधहं हेउ वियाणियउ एयहं जेण सहाउ ।। ५२ ।।' -वही ।

(ग) 'अप्पा मिल्लिवि णाणियहँ अण्णु ण सुंदरू वत्थु ।
तेण ण विसयहँ मणु रमइ जाणंतहं परमत्थु ।। ७७ ।।' -वही ।

(घ) 'अप्पा मिल्लिवि णाणमउ चित्ति ण लग्गइ अण्णु ।
मरगउ जे परियाणियउ तहुं कच्चें कउ गण्णु ।। ७८ ।।' -वही ।

(च) 'जीवा सयल वि णाण-मय जम्मण-मरण-विमुक्क ।
जीव-पएसहिं सयल सम सयल वि सगुणहिं एक्क ।। ६७ ।।' -वही ।

(छ) 'बंभहं भुवणि वसंताहँ जे णवि भेउ करंति ।
ते परमप्प-पयासयर जोइय विमलु मुणंति ।। ६६ ।।' -वही ।

(ज) 'राय-दोस बे परिहरिवि जे सम जीव णियंति ।
ते सम-भावि परिट्ठिया लहु णिव्वाणु लहंति ।। १०० ।।' -वही ।

केवलज्ञान एवं केवलदर्शन स्वरूप है।[५९] इस चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि योगीन्दुदेव के अनुसार आत्मा और परमात्मा में अभेद है। आत्मा के निरावरण शुद्धस्वरूप में परमात्मा ही है।[६०] उन परमात्मा के लिये शत्रु-मित्र आदि सभी एक समान हैं। उनका न किसी से राग है और न द्वेष है। वे वीतराग हैं, वे समभाव में जीते हैं, समता में रमण करते हैं तथा निर्विकल्प समाधि में स्थित रहते हैं। कषाय-कल्मष के दूर हो जाने के कारण वे परमानन्द में स्फुरायमान है।[६१] वस्तुतः देहात्म बुद्धि से रहित संसार से पराङ्मुख तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप आत्मा को ही उसके अपने शुद्ध स्वरूप में परमात्मा कहा जाता है।[६२]

योगीन्दुदेव के अनुसार यद्यपि अनादिकाल से यह आत्मा कर्म और तद्जन्य शरीरादि उपाधियों से युक्त है, किन्तु निश्चय से

---

५९ (क) 'जीवहँ दंसणु णाणु जिय लक्खणु जाणइ जो जि ।
देह-विभेएं भेउ तहँ णाणि कि मण्णइ सो जि ।। १०१ ।।' -परमात्मप्रकाश २ ।
(ख) 'देह विभेयइं जी कुणइ जीवइँ भेउ विचित्तु ।
सो णवि लक्खणु मुणइ तसँ दंसणु णाणु चरित्तु ।। १०२ ।।' -वही ।
(ग) 'सयल वियप्पहँ तुट्टाहं सिव पय मग्गि वसंतु ।
कम्म चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु ।। १९५ ।।' -वही ।
(घ) 'जामु सुहासुह-भावडा णवि सयल वि तुट्टंति ।
परम समाहि ण तामु मणि केवुलि एमु भणंति ।। १९४ ।।' -वही ।
(च) 'केवल-णाणिं अणवरउ लोयालोउ मुणंतु ।
णियमें परमाणंदमउ अप्पा हुइ अरहन्तु ।। १९६ ।।' -वही ।
(छ) 'जो जिणु केवल-णाणमउ परमाणंद सहाउ ।
सो परमप्पउ परम-परू सो जिय अप्प-सहाउ ।। १९७ ।।' -वही ।
(ज) 'केवल-दंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि अणंतु ।
सो जिण-देउ वि परम-मुणि परम-पयासु मुणंतु ।। १९९ ।।' -वही ।

६० 'णाण-वियक्खणु सुद्ध मणु जो जणु एहउ कोइ ।
सो परमप्प-पयासयहं जोग्गु भणंति जि जोइ ।। २०९ ।।' -वही ।

६१ 'जो सम-भाव-परिट्ठियहं जोइहं कोइ फुरेइ ।
परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ।। ३५ ।।' -वही १ ।

६२ (क) 'जं तत्तं णाण-रूवं परम-मुणि-गणा णिच्च झायंति चित्ते ।
जं तत्तं देह-चत्तंणिवसइ भुवणे सव्व-देहीण देहे ।।
जं तत्तं दिव्व-देहं तिहुवण-गुरूगं सिज्झए संत-जीवे ।
तं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णिय-मणे पावए सो हि सिद्धिं ।। २१३ ।।' -वही ।

शरीरादि से भिन्न ही है। जड़ कर्मादि आत्मा से भिन्न हैं। यह आत्मा अनादि काल से परद्रव्यों में प्रीति करके इस संसार में परिभ्रमण कर रही है।[६३]

## (ख) योगसार के अनुसार परमात्मा का स्वरूप

परमात्मा के स्वरूप का निर्वचन करते हुए योगीन्दुदेव योगसार में लिखते हैं कि जो आत्मा है वही परमात्मा है और जो परमात्मा है वही आत्मा है। इस प्रकार योगीन्दुदेव सर्वप्रथम आत्मा और परमात्मा में तादात्म्य स्वीकार करते हैं।[६४] उनकी दृष्टि में आत्मा और परमात्मा में मुख्य अन्तर कर्मों से युक्त और कर्मों से रहित होने में है।[६५] इसे वे एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जैसे कमलिनी का पत्र कभी भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा आत्मस्वभाव में लीन रहते हैं। वे कर्मों से लिप्त नहीं हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा और परमात्मा में मुख्य अन्तर शक्ति और अभिव्यक्ति को लेकर है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार वटवृक्ष में बीज होते हैं उसी प्रकार बीज में भी वटवृक्ष रहा हुआ है। अतः आत्मा और परमात्मा में अनन्त-चतुष्टय की अभिव्यक्ति का ही अन्तर है। इसलिये वे कहते हैं कि जो परमात्मा है वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है। इसे एक और अन्य अपेक्षा से स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जो क्रोधादि चार कषायों और भय, मैथुन आदि चार संज्ञाओं से रहित हैं तथा अनन्तदर्शन,

---

६३ (क) 'जो परमत्थे णिक्कलु वि कम्म-विभिण्णिउ जो जि ।
मूढा सयलु भणंति फुडुमुणि परमप्पउ सो जि ।। ३७ ।।' -वही ।
(ब) 'कम्म-णिबद्धु वि जोइया देहि वसंतु वि जो जि ।
होइ ण सयलु कया वि फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ।। ३६ ।।' -वही ।

६४ (क) 'जं वडमज्झहँ बीउ फुडु बीयहं वडु वि हु जाणु ।
तं देहहं देउ वि मुणहि जो तइलोय-पहाणु ।। ७४ ।।' -योगसार ।
(ख) 'जो जिण सो हउँ सो जि हउँ एहउ भाउ णिभंतु ।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण भंतु ।। ७५ ।।' -वही ।
(स) 'जह सलिलेण ण लिप्पियइकमलणि पत्त कया वि।
तह कम्मेहिं ण लिप्पियइ जइ रइ अप्प- सहावि ।। ६२ ।।' -वही ।

६५ (क) 'बे छंडिवि बे-गुण-सहिउ जो अप्पाणि वसेइ ।
जिणु सामिउ एमइं भणइ लहु णिव्वाणु लहेइ ।। ७७ ।।' -वही ।

अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यरूप अनन्तचतुष्टय से युक्त हैं,[६६] वे ही परमात्मा हैं। उन्हें ही परम पवित्र कहा गया है और जो उन परम पवित्र का ध्यान करता है वह भी परम पवित्र तीर्थसम हो जाता है अर्थात् परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।[६७] पुनः वे परमात्मा के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो निर्मल और निष्कल है, शान्त है, शुद्ध है; वही जिन है, वही विष्णु है, वही बुद्ध है और वही शिव है। इस प्रकार योगीन्दुदेव की दृष्टि में कर्ममल से रहित निष्कलंक शुद्ध आत्मतत्व को ही परमात्मा कहा गया है।[६८] योगीन्दुदेव के अनुसार केवलज्ञान स्वभावरूप शुद्ध चैतन्य आत्मतत्व ही परमात्मा हैं। उसका ही ध्यान करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो राग-द्वेष का परित्याग करके अपने आत्मस्वभाव में स्थिर है वही परमात्मा है।[६९] पुनः वे परमात्मा के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो समस्त विकल्पों से रहित हैं; परम समाधि में लीन हैं और आत्मानन्द की अनुभूति करते हैं वे ही परमात्मा हैं[७०] और उन्हें ही मोक्षपद कहा गया

---

६६ (क) 'तिहि रहियउ तिहिँ गुण-सहिउ जो अप्पाणि वसेइ ।
सो सासय-सुह भायणु वि जिणवरू एम भणेइ ।। ७८ ।।' -वही ।
(ख) 'चउ कसाय-सण्णा-रहिउ चउ-गुण-सहियउ वुत्तु ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ जिम परू होहि पवत्तु ।। ७६ ।।' -वही ।
(ग) 'अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि ।
अप्पा सजंमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि ।। ८१ ।।' -वही ।
(घ) 'जो परियाणइ अप्प परू सो परू चयइ णिभंतु ।
सो सण्णासु मुणेहि तुहुँ केवल-णाणिं उत्तु ।। ८२ ।।' -वही ।
(च) 'रयणतय संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु ।
मोक्खहं कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ।। ८३ ।।' -वही ।

६७ 'दंसणु ज पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महँतु ।
पुणु-पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्तु ।। ८४ ।।' -वही ।

६८ 'जहिँ अप्पा तहिँ सयल गुण केवलि एम भणंति ।
तिहिं कारण एँ जोइ फुडु अप्पा अपपा विमलु मुणंति ।। ८५ ।। -वही ।

६९ 'एक्कलउ इंदिय-रहियउ मण-वय-काय ति सुद्धि ।
अप्पा अप्पु मुणेहि तुहुँ लहु पावहि सिव सिद्धि ।। ८६ ।।' -वही ।

७० 'जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि तो बधियहि णिभंतु ।
सहज-सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव संतु ।। ८७ ।।' -वही ।

है।[७१] ऐसे ही शुद्ध आत्मतत्व को योगीन्दुदेव ने अनेक नामों से स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं कि वही शिव है, वही शंकर है, वही विष्णु है, वही रूद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्मा है, वही अनन्त है और उसे ही सिद्ध भी कहा गया है।[७२] इस प्रकार योगीन्दुदेव ने न केवल विभिन्न धर्मों के आराध्यों को ही परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया अपितु जैन धर्म में आराध्यरूप में पंचपरमेष्ठि को स्वीकार किया हैं। उन्हें भी तत्वतः परमात्मा कहा है। वे लिखते हैं कि निश्चयनय से तो आत्मा ही अर्हत् है, वही सिद्ध है और वही आचार्य है और उसे ही उपाध्याय तथा मुनि भी कहा जाता है। जैनदर्शन में अरिहन्त (अर्हत्) और सिद्ध को तो परमात्मा माना ही गया है, किन्तु योगीन्दुदेव ने आचार्य, उपाध्याय और मुनि को भी उनकी आत्मा के शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से परमात्मा की संज्ञा दी है।

क्योंकि उनकी दृष्टि में आत्मा ही परमात्मा है।[७३]

## ५.२.५ मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा में परमात्मा का स्वरूप

परमात्मा के लक्षण को स्पष्ट करते हुए मुनि रामसिंह का कहना है कि ज्ञानादि शक्तियों सहित जो देव देह-रूपी देवालय में निवास करता है, वही परमात्मा (शिव) है। यहाँ मुनि रामसिंह का संकेत इस तथ्य की ओर है कि ज्ञानादि शक्तियों से युक्त देह में

---

७१ 'वज्जिय सयल वियप्पइँ परम समाहि लहंति ।
जं विंदहिं साणंदु क वि सो सिव-सुक्ख भणंति ।। ६७ ।।' -योगसार ।

७२ 'सो सिउ संकरू विण्हु सो सो रूद्द वि सो बुद्धु ।
सो जिणु ईसरू बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु ।। १०५ ।।' -वही ।

७३ (क) 'अरहन्तु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि ।
सो उवसायउ सो जि मुणि णिच्छइं अप्पा जाणि ।। १०४ ।।' -वही ।

(ख) 'एव हि लक्खण-लक्खियउ जो परू णिक्कलु देउ ।
देहहँ मज्झहिं सो वसइ तासु ण विज्जइ भेउ ।। १०६ ।।' -वही ।

(ग) 'जे सिद्ध जे सिज्झिहिं जे सिज्झहि जिण-उत्तु ।
अप्पा-दंसणिं ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु ।। १०७ ।।' -वही ।

निवास करने वाला शुद्ध आत्मतत्व ही परमात्मा है।[७४] इस प्रकार मुनि रामसिंह आत्मा को ही परमात्मा मानते हैं। आगे पुनः परमात्मा के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि जो न तो उत्पन्न होता है, न वृद्ध होता है और न मरता है; जो जन्म जरा और मृत्यु से परे अनन्तज्ञानमय त्रिभुवन का स्वामी है; वही निर्भ्रान्त शिवदेव परमात्मा है।[७५] ज्ञातव्य है कि यहाँ मुनि रामसिंह परमात्मा को शक्तिमान शिव के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे शुद्ध आत्मा को शिव के रूप में और उसकी ज्ञानादि शक्तियों को शक्ति के रूप में विवेचित करते हैं। उनका कहना है कि शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव नहीं होता है। यहाँ उन्होंने आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणों में अभेद दिखाकर उनको शिव और शक्ति के रूप में व्याख्यायित किया है।[७६] वे कहते हैं कि जो इन दोनों को जान लेता है उसका मोह विनष्ट हो जाता है।[७७] उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि जब आत्मा को अपने शुद्धस्वरूप का बोध हो जाता है तब मोह समाप्त होने पर आत्मा परमात्मापद को प्राप्त हो जाती है। किन्तु यह ज्ञातव्य है कि आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का बोध अपनी ज्ञानादि शक्तियों के माध्यम से ही होता हैं।[७८] जब तक जीवात्मा अपने ज्ञानमय शुद्धस्वरूप को नहीं

---

[७४] 'देहादेवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ ।
को तहिं जोइय सत्तिसिउ सिग्घु गवेसहि भेउ ।। ५४ ।।' -पाहुडदोहा ।

[७५] 'जरइ ण मरइ ण संभवइ जो परि को वि अणंतु ।
तिहुवणसामिउ णाणमउ सिवदेउ णिभंतु ।। ५५ ।।' -वही ।

[७६] (क) 'वण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ ।
संतु णिरंजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ ।। ३६ ।।' -पाहुडदोहा ।

(ख) 'अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अवरू परायउ भाउ ।
सो छंडेविणु जीव तुहुं झायहि सुद्धसहाउ ।। ३८ ।।' -वही ।

(ग) 'बुज्झहु बुज्झहु जिणु भणइ को बुज्झइ हलि अण्णु ।
अप्पा देहहं णाणमउ छुडु बुज्झियउ विभिण्णु ।। ४१ ।।' -वही ।

(घ) 'तिहुवणि दीसइ देउ जिणु जिणवरू तिहुवणु एउ ।
जिणवरू दीसइ सयलु जगु को वि ण किज्जइ भेउ ।। ४० ।।' -वही ।

[७७] 'वंदहु वंदहु जिणु भणइ को वंदउ हलि एत्थु ।
णियदेहहं णिवसंतयहं जइ जाणिउ परमत्थु ।। ४२ ।।' -वही ।

[७८] 'सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्तिविहीणु ।
दोहिं वि जाणइ सयलु जगु बुज्झइ मोहविलीणु ।। ५६ ।।' -वही ।

जानती है; तब तक वह अज्ञानजन्य संकल्प-विकल्पों से दग्ध होती रहती है। किन्तु जैसे ही आत्मा अपने ज्ञानमय शुद्धस्वरूप का अनुभव करती है, वह मोहजन्य संकल्प-विकल्पों से ऊपर उठकर परमात्मपद को प्राप्त हो जाती है।[७९] मुनि रामसिंह कहते हैं कि जो नित्य, निरामय, ज्ञानमय, परमानन्द स्वभावी आत्मा है; वही परमात्मा है। जो इस आत्मतत्व को जान लेता है उसको फिर अन्य कोई भान नहीं रहता अर्थात् वह परमात्मस्वरूप ही हो जाता है।[८०] जैनदर्शन प्रत्येक शुद्ध-बुद्ध आत्मा को ही परमात्मा मानता है क्योंकि आत्माएँ अनन्त हैं; परमात्मा भी अनन्त हैं। इसी तत्व को लक्षित करते हुए वे कहते हैं कि जिसने एक जिनदेव को जान लिया, उसने अनन्त जिनदेवों को जान लिया; क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार सभी जिन स्वरूपतः एक ही हैं।[८१] उनमें लक्षण भेद नहीं है। इसीलिये मुनि रामसिंह कहते हैं कि जिसने एक जिनदेव को जान लिया उसने सभी (जिनदेवों) को जान लिया। आत्मा का परमात्मा से अभेद स्पष्ट करते हुए मुनि रामसिंह कहते हैं कि आत्मा केवलज्ञानमय है। जो इस ज्ञानमय आत्मा में निवास करता है; वह पापकर्मों से लिप्त नहीं होता।[८२] वह मुक्त ही है। जो केवलज्ञान से युक्त इस शरीर में स्फुरायमान हो रहा है वही परमात्मा है। इस प्रकार मुनि रामसिंह केवल ज्ञानमय आत्मा को ही परमात्मा के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[८३]

मुनि रामसिंह परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अनन्तदर्शन-ज्ञानमय निरंजन परमात्मा आत्मा से अनन्य (अभिन्न) है। वह अन्य नहीं है।

---

[७९] अण्णु तुहारउ णाणमउ लक्खिउ जाम ण भाउ ।
संकप्प-वियप्प अणाणमउ दड्ढउ चित्तु वराउ ।। ५७ ।।' -वही ।

[८०] 'णिच्चु णिरामउ णाणमउ परमाणंदसहाउ ।
अप्पा बुज्झिउ जेण परू तासु ण अण्णु हि भाउ ।। ५८ ।।' -वही ।

[८१] 'अम्हहिं जाणिउ एकु जिणु जाणिउ देउ अणंतु।
णवरि सु मोहें मोहियउ अच्छइ दूरि भमंतु ।। ५९ ।। -वही ।

[८२] 'अप्पा केवलणाणमउ हियडइं णिवसइ जासु ।
तिहुवणि अच्छउ मोक्कलउ पावु ण लग्गइ तासु ।। ६० ।।' -वही ।

[८३] 'चिंतइ जंपइ कुणइ णवि जो मुणि बंधणहेउ ।
केवलणाण फुरंततणु सो परमप्पउ देउ ।। ६१ ।।' -वही ।

शुद्धात्मा को ही उन्होंने परमात्मा कहा है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव लक्षण है। जहाँ आत्मा है वहाँ नियम से ज्ञान है। आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव से भिन्न नहीं है और आत्मा का यह ज्ञान स्वभाव ही मोक्ष का कारण है।[८४]

मुनि रामसिंह आगे कहते हैं कि जहाँ कर्ममल से रहित एवं केवलज्ञानमय परमात्मा निवास करते हैं, वह आत्मस्थान अनादि है। वहाँ उनके हृदय अर्थात् ज्ञानमय स्वभाव में यह समस्त विश्व प्रतिबिम्बित हो रहा है। उनके उस ज्ञान से परे कुछ भी नहीं है अर्थात् वे सर्वज्ञ परमात्मा हैं।[८५]

मुनि रामसिंह अहोभावपूर्वक उस परमात्मा का बहुमान करते हुए कहते हैं कि साढ़े तीन हाथ का यह जो देहरूपी देवालय है, उसके भीतर ही निरंजन प्रभु बसता है। ये निर्मल तथा अखण्डित ज्ञान का पिण्ड वीतराग हैं तथा इन्द्रियों से अगोचर हैं, फिर भी ज्ञानगोचर हैं। वे जन्म-मरण तथा भूख-प्यास आदि की बाधाओं से रहित और निर्बाध हैं।[८६] वे लिखते हैं कि बिना नाद के जो अक्षर उत्पन्न होता है अर्थात् विकल्परूपी कोलाहल से रहित निर्विकल्प चित्त में जिस शुद्ध आत्मस्वरूप का प्रकटन होता है।[८७] वह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा जब अपने आत्मस्वभाव में स्थित हो जाती है; तब उसे कर्मरूपी लेप नहीं लगता अर्थात् वह कर्मों से निर्लिप्त होती है और जो भी महादोष हैं उन सबका

---

[८४] 'अण्णु णिरंजणु देउ णवि अप्पा दंसणणाणु ।
अप्पा सच्चउ मोक्खपहु एहउ मूढ वियाणु ।। ८० ।।' -पाहुडदोहा ।

[८५] 'केवल मलपरिवज्जियउ जहिं सो ठाइ अणाइ ।
तस उरि सवु जगु संचरइ परइ ण कोइ वि जाइ ।। ९० ।।' -वही ।

[८६] 'अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वि अम्ह दुम्मेहा ।
तं णवर सिक्खियव्वं जं जरमरणक्खयं कुणहि ।। ९९ ।।' -वही ।

[८७] (क) 'रायवयल्लहिं छहरसहिं पंचहिं रूवहिं चित्तु।
जासु ण रंजिउ भुवणयलि सो जोइय करि मित्तु ।। १३३ ।।' -वही ।

(ख) 'अणहउ अक्खरू जं उप्पज्जइ ।
अणु वि किं वि अण्णाण ण किज्जइ ।।
आयइं चित्तिं लिहि मणु धारिवि ।
सोउ णिचिंतिउ पाउ पसारिवि ।। १४५ ।।' -वही ।

छेदन हो जाता है[८८]। मुनि रामसिंह के इस कथन का तात्पर्य यह है कि स्व-स्वभाव में स्थित उस परमात्मा को (कषाययुक्त) कर्म का बन्ध नहीं होता।[८९] जो पुरातन कर्मों का क्षय करके और अभिनव कर्मों का प्रवेश नहीं होने देता है तथा सदैव ही अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान करता है वही जिन या परमात्मा है।[९०] जिसने श्वास को जीत लिया है और जो निश्चल नेत्रवाला तथा जो आत्मा के इन्द्रिय व्यापार से मुक्त है, वही योगी (परमात्मा) है इसमें कोई सन्देह नहीं।[९१] रागद्वेष आदि भावों के नष्ट होने तथा मन का व्यापार समाप्त हो जाने पर यह आत्मा परमात्मस्वरूप में स्थित हो जाती है और यही निर्वाण है।[९२]

## ५.२.६ आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार परमात्मा का स्वरूप

आचार्य शुभचन्द्र ने परमात्मा के स्वरूप का चित्रण करने से

---

[८८] 'तिहुवणि दीसइ देउ जिणु जिणवरू, तिहुवणु सउ ।
जिणवरू दीसइ सयलु जगु को वि ण किज्जइ एउ ।। ४० ।।' -वही ।

[८९] (क) 'देखंताहं वि मूढ वढ रमियइं सुक्खु ण होइ ।
अम्मिए मुत्तहं छिद्दु लहु तो वि ण विणडइ कोइ ।। १९७ ।।' -वही ।

(ख) 'जिणवरू झायहि जीव तुहु विसयकसायहं खोइ ।
दुक्खु ण देक्खहि कहिं मि वढ अजरामरु पउ होइ ।। १९८ ।।' -वही ।

[९०] (क) 'विसयकसाय चएवि वढ अप्पहं मणु वि धरेहि ।
चूरिवि चउगइ णित्तुलउ परमप्पउ पावेहि ।। १९९ ।।'

(ख) 'इंदियपसरू णिवारि वढ मण जावहि परमत्थु ।
अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अवरू विडावइ सत्थु ।। २०० ।।'

(ग) 'विसया चिंति म जीव तुहु विसय ण भल्ला होंति ।
सेवंताहं वि महुर वढ पच्छइं दुक्खइं दिंति ।। २०१ ।।'

(घ) 'विसयकसायहं रंजियउ अप्पहिं चित्तु ण देइ ।
बंधिवि दुक्कियकम्मडा चिरू संसारू, भमेइ ।। २०२ ।।' -पाहुडदोहा ।

(च) 'इंदियविसय चएवि वढ करि मोहहं परिचाउ ।
अणुदिणु झावहि परमपउ तो एहउ ववसाउ ।। २०३ ।।' -वही ।

[९१] 'णिज्जियसासो णिप्फंदलोयणो मुक्कसयलवावारो ।
एयाइं अवत्थ गओ सो जोयउ णत्थि संदेहो ।। २०४ ।।' -वही ।

[९२] 'तुट्टे मणवावारे भग्गे तह रायरोससब्भावे ।
परमप्पयम्मि अप्पे परिट्ठिए होइ निव्वाणं ।।२०५।।' -वही ।

पूर्व इस बात पर अधिक बल दिया है कि यह आत्मा ही परमात्मा है। वे लिखते हैं कि अनन्तगुणों का समूह यह आत्मा संसाररूपी वन में कर्मरूपी शत्रुओं के द्वारा घिर गया है। मेरी आत्मा ही परमात्मा है, परम ज्योति स्वरूप है, वह जगत् में ज्येष्ठ और महान् है। मैं और परमात्मा दोनों ही ज्ञान नेत्र वाले हैं।[६३] इसीलिये आत्मा उस परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करती है। आगे वे कहते हैं कि परमात्मा और मुझ में मात्र यही भेद है कि अनन्तचतुष्टय मुझमें शक्तिरूप से विद्यमान है और परमात्मा में वह अभिव्यक्त है। जितना भेद शक्ति और अभिव्यक्ति में है उतना ही भेद मुझ और परमात्मा में है। तत्वतः आत्मा ही परमात्मा है।[६४] उस आत्मा में परमात्मस्वरूप का प्रकटन कैसे हो, इसका मुख्य उपाय आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में ध्यान है। वे लिखते हैं कि यह आत्मा एकत्व वितर्क-अविचार नामक शुक्लध्यान से घातीकर्म का नाश करके आत्मलाभ को प्राप्त करती हैं और केवलज्ञान और

---

६३ (क) 'अनित्याः कामार्थाः क्षणरुचिचलं जीवितमिदं ।
विमृश्योच्चैः स्वार्थे क इह सुकृति मुह्यति जनः ।। ४६ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग १ ।

(ख) ये जाता रिपवः पूर्व जन्मन्य स्मिन्विधेर्वशात ।
त एव तव वर्त्तन्ते बान्धवा बद्धसौहृदः ।। १६ ।।' -वही सर्ग २ ।

(ग) रिपुत्वेन समापन्नाः प्राक्तनास्तेऽत्र जन्मनि ।
बान्धवाः क्रोधरुद्धाक्षा दृश्यन्ते हन्तुमुद्यताः ।। २० ।।' -वही ।

(घ) 'अयमात्मा महामोहकलंकी येन शुद्धयति ।
तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योतिः परं मतम् ।। ३६ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग १ ।

६४ (क) 'अज्ञातस्वस्वरुपेण परमात्मा न बुध्यते ।
आत्मैव प्राग्विनिश्चेयो विज्ञातुं पुरुषं परम् ।। १ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ३२ ।

(ख) 'आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य न स्यादात्मन्यवस्थितिः ।
मुह्यत्यन्तः पृथक्कर्तुं स्वरुपं देहदेहिनोः ।। २ ।।' -वही ।

(ग) 'तयोर्भेदापरिज्ञानात्रात्मलाभः प्रजायते ।
तदभावात्स्वविज्ञानसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ।। ३ ।।' -वही ।

(घ) 'अतः प्रागेव निश्चेयः सम्यगात्मा मुमुक्षुभिः ।
अशेषपरपर्यायकल्पनाजालवर्जितः ।। ४ ।।' -वही ।

केवलदर्शन को प्राप्त करती हैं।[९५]

केवलज्ञान प्राप्त होते ही यह आत्मा भगवान या परमात्मा के नाम से जानी जाती है।[९६] परमात्मा के विभिन्न नामों की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि जिस समय अर्हंत परमात्मा केवली समुद्घात कर अपने आत्मप्रदेशों से लोक में व्याप्त होते हैं,[९७] उस समय वे सर्वगत, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वतोमुख, विश्वव्यापी विभु, भर्त्ता, विश्वमूर्ति और महेश्वर इन नामों को सार्थक करते हैं।[९८] आचार्य

---

९५ (क) 'सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं च कीर्त्तिम् ।
शुक्लमाद्यं द्वितीयं तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ।। ६ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ४२ ।

(ख) 'सवितर्कमवीचारमेकत्वपदलाञ्छितम् ।
कीर्तितं मुनिभिः शुक्लं द्वितीयमतिनिर्मलम् ।। १० ।।' -वही ।

(ग) 'तत्र त्रियोगिनामाद्यं द्वितीयं त्वेकयोगिनाम् ।
तृतीयं तनुयोगानां स्यात्तुरीयमयोगिनाम् ।। १२ ।।' -वही ।

(घ) 'पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र विद्यते ।
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते ।। १३ ।।' -वही ।

(च) 'अवीचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः ।
सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः ।। १४ ।।' -वही ।

(छ) 'अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कं च योगिनः ।
एकत्वमेकयोगस्य जायतेऽत्यन्तनिर्मलम् ।। २६ ।।' -वही ।

(ज) 'अस्मिन् सुनिर्मलध्यानहुताशे प्रविजृम्भिते ।
विलीयन्ते क्षणादेव घातिकर्माणि योगिनः ।। २८ ।।' -वही ।

(झ) 'दृग्बोधरोधकद्वन्द्वं मोहविघ्नस्य वा परम् ।
स क्षिणोति क्षणादेव शुक्ल धूमध्वजार्चिषा ।। २९ ।।' -वही ।

(ट) 'आत्मलाभमथासाद्य शुद्धिं चात्यन्तिकीं पराम् ।
प्राप्नोति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ।। ३० ।।' -वही ।

९६ 'अलब्धपूर्वमासाद्य तदासौ ज्ञानदर्शने ।
वेत्ति पश्यति निःशेषं लोकालोकं यथास्थितम् ।। ३१ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ४२ ।

९७ (क) 'षण्मासायुषि शेषे संवृता ये जिनाः प्रकर्षेण ।
ते यान्ति समुद्घातं शेषा भाज्याः समुद्घाते ।। ४२ ।।' -वही ।

(ख) 'यदायुरधिकानि स्युःकर्माणि परमेष्ठिनः ।
समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ।। ४३ ।।' -वही ।

(ग) 'अनन्तवीर्य प्रथितप्रभावो दण्डं कपाटं प्रतरं विधाय ।
स लोकमेनं समयैश्चतुर्भिर्निश्शेषमापुरयति क्रमेण ।। ४४ ।।' -वही ।

९८ 'तदा स सर्वगः सार्वः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ।
विश्वव्यापी विभुर्भर्त्ता विश्वमूर्तिर्महेश्वरः ।। ४५ ।।' -वही ।

शुभचन्द्र ने अन्य जैन आचार्य के समान ही परमात्मा के दो प्रकार माने हैं : (१) अर्हत्, और (२) सिद्ध।[९९] इन दोनों अवस्थाओं का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं कि वे केवली भगवान निर्मल, शान्त, निष्कलंक, निरामय, जन्म, मरण, रूप, दुर्निवार कष्टों से रहित हैं। वे सिद्ध, सुप्रसिद्ध, निष्पन्न, आत्मनिरंजन, निष्क्रिय, निष्कल, शुद्ध निर्विकल्प, अतिनिर्मल, यथाख्यातचारित्र से युक्त, अनन्त शक्तिमान, परम शुद्धि को परिप्राप्त, साधितात्म, स्वस्वरूप स्वभाव, त्यक्तयोग, अयोगी, परमेष्ठी परमात्मा, परमप्रभु, शुद्धात्मा, निरामय, निर्विकल्प निराबाध आदि नामों से जाने जाते हैं। अन्त में सिद्धपरमात्मा का निर्वचन करते हुए वे लिखते हैं कि[१००] वे सिद्ध परमात्मा, निद्रा, तन्द्रामय भ्राँति, राग, द्वेष, पीड़ा और संशय से रहित हैं तथा क्षोभ, मोह, जन्म, जरा, मरण इत्यादि से भी रहित हैं। उनमें क्षुधा, तृषा, खेद, मद, उन्माद, मूर्च्छा और मात्सर्य भाव भी नहीं है। वहाँ वृद्धि और ह्रास भी नहीं है।[१०१] उनका वैभव

---

[९९] (क) 'तदार्हत्त्वं परिप्राप्य स देवः सर्वगः शिवः ।
जायतेऽखिलकर्मौघजरामरणवर्जितः ॥ ३८ ॥'
(ख) 'स्थितिमासाद्य सिद्धात्मा तत्र लोकाग्रमन्दिरे ।
आस्ते स्वभावजानन्तगुणैश्वर्योपलक्षितः ॥ ६३ ॥'
(ग) 'आत्यन्तिकं निराबाधमत्यक्षं स्वस्वभावजम् ।
यत्सुखं देवदेवस्य तद्वक्तुं केन पार्यते ॥ ६४ ॥' -ज्ञानार्णव सर्ग ४२ ।

[१००] (क) 'तदासौ निर्मलः शान्तो निष्कलंको निरामयः ।
जन्मजानेकदुर्वारबन्धव्यसन विच्युतः ॥ ५५ ॥' -वही ।
(ख) 'सिद्धात्मा सुप्रसिद्धात्मा निष्पन्नात्मा निरंजनः ।
निष्क्रियो निष्कलः शुद्धो निर्विकल्पोऽतिनिर्मलः ॥ ५६ ॥' -वही ।
(ग) 'आविर्भूतयथाख्यात चरणोऽनन्तवीर्यवान् ।
परां शुद्धिं परिप्राप्तो दृष्टेर्बोधस्य चात्मनः ॥ ५७ ॥' -वही ।
(घ) 'अयोगी त्यक्तयोगत्वात्केवलोत्पादनिर्वृतः ।
साधितात्मस्वभावश्च परमेष्ठि परं प्रभुः ॥ ५८ ॥' -वही ।
(च) 'लघुपंचाक्षरोच्चकालं स्थित्वा ततः परम् ।
स स्वभावाद्व्रजत्यूर्ध्व शुद्धात्मा वीतबन्धनः ॥ ५९ ॥' -वही ।

[१०१] (क) 'निद्रातन्द्राभयभ्रान्तिरागद्वेषार्त्तिसंशयैः ।
शोकमोहजराजन्ममरणाद्यैश्च विच्युतः ॥ ७१ ॥' -वही ।
(ख) 'क्षुत्तृट्श्रममदोन्मादमूर्च्छामात्सर्यवर्जितः ।
वृद्धिह्रासव्यतीतात्मा कल्पनातीतवैभवः ॥ ७२ ॥' -वही ।

कल्पनातीत है। वे निर्विकल्प, निरंजन और निष्कलंक हैं तथा आनन्द से परिपूर्ण और अनन्त वीर्य से सम्पन्न हैं।[१०२] उन्होंने संसार समुद्र को पार कर लिया है और वे कृत्य-कृत्य हैं।[१०३] उनके सुखों की कोई उपमा देना कठिन है,[१०४] जिस प्रकार आकाश और काल का अन्त नहीं है।[१०५] वे सिद्ध परमात्मा त्रैलोक्य में तिलक स्वरूप समस्त विषयों से रहित निरद्वन्द्व, अविनाशी, अतीन्द्रिय और अपने आत्म स्वभाव में रमण करने वाले उपमा रहित हैं।[१०६]

## ५.२.७ अमितगति के योगसारप्राभृत में परमात्मा का स्वरूप

योगसारप्राभृत में आचार्य अमितगति आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि घातीकर्मों का क्षय करने से आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है उसे परमात्मा कहा जाता है।[१०७] जैसे सूर्योदय होते ही रात्रि का घोर अन्धकार

---

[१०२] 'निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरंजनः ।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः ।। ७३ ।।' -वही ।

[१०३] 'परमेष्टी परंज्योतिः परपूर्णः सनातनः ।
संसारसागरोत्तीर्णः कृतकृत्योऽचलस्थितिः ।। ७४ ।।' -वही ।

[१०४] (क) 'चरस्थिरार्थसम्पूर्णे मृग्यमाणं जगत्त्रये ।
उपमानोपमेयत्वं मन्ये स्वस्यैव स स्वयम् ।। ७६ ।।' -वही ।

(ख) 'यतोऽन्तगुणानां स्यादनन्तांशोऽपि कस्यचित् ।
ततो न शक्यते कर्तुं तेन साम्यं जगत्त्रये ।। ७७ ।।' -वही ।

[१०५] 'शक्यते न यथा ज्ञातुं पर्यन्तं व्योमकालयोः ।
तथा स्वभावजातानां गुणानां परमेष्ठिनः ।। ७८ ।।' -वही ।

[१०६] (क) 'त्रैलोक्यतिलकीभूतं निःशेषविषयच्युतम् ।
निर्द्वन्द्वं नित्यमत्यक्षं स्वादिष्टं स्वस्वभावजम् ।। ८३ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ४२ ।

(ख) 'निरौपम्यविच्छिन्नं स देवः परमेश्वरः ।
तत्रैवास्ते स्थिरीभूतःपिबन् ज्ञानसुखामृतम् ।। ८४ ।।' -वही ।

[१०७] (क) 'उदेति केवलं जीवे मोह-विघ्नावृतिक्षये ।
भानु बिम्बमिवाकाशे भास्वरं तिमिरात्यये ।। २ ।।' -योगसारप्राभृत ७ ।

(ख) 'सामान्यवद् विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः ।
ज्ञायते स च वा साक्षाद् विना विज्ञायते कथम् ।। १३ ।।' -वही ।

(ग) 'सर्वज्ञः सर्वदर्शी च ततो ज्ञान स्वभावतः ।
नास्य ज्ञानस्वभावत्वमन्यथा घटते स्फुटम् ।। १४ ।।' -वही ।

नष्ट होता है, वैसे ही केवलज्ञानरूपी सूर्य उदय होने से अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। वे परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी कहलाते हैं। पुनः वे देह में स्थित आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य स्थापित[१०८] करते हुए लिखते हैं कि परमात्मा इसी देह में स्थित है।[१०९] अमितगति लिखते हैं कि जिसने कर्मग्रन्थीरूप दुर्भेद पर्वत का ध्यानरूपी तीक्ष्ण वज्र से छेदन कर दिया है, ऐसी परमात्मपद को प्राप्त आत्मा उसी प्रकार अनन्त सुख को प्राप्त होती है, जिस प्रकार रोग से पीड़ित व्यक्ति औषधि से रोग के दूर हो जाने पर यथेष्ट आनन्द को प्राप्त होता है।[११०] उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि यह आत्मा कर्मरूपी ग्रन्थी का भेदन करने पर परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर अनन्तसुख में लीन होती है।[१११] ऐसी शुद्धात्मा केवलज्ञान रूप चक्षु से अतीन्द्रिय पदार्थों को साक्षात् जानकर तथा अष्ट प्रतिहार्यों से युक्त होकर अपनी अमोघ देशना शक्ति से भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में नियोजित करती है।[११२] केवलज्ञानी आत्मा के ज्ञान में किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होने से वह सभी पदार्थों को बिना बाधा के जानती है और इसलिये उसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भी कहा गया है। आगे वे सिद्धात्मा का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मा वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र आदि चार अघाती कर्मों को भी शुक्लध्यान रूपी कुठार से एक साथ छेदकर मुक्ति को प्राप्त होते

---

[१०८] 'चैतन्यमात्मनो रूपं तच्च ज्ञानमयं विदुः ।
प्रतिबन्धक-सामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते ।। १० ।।' -वही ।

[१०९] 'ज्ञानी ज्ञेये भवत्यज्ञो नासति प्रतिबन्धके ।
प्रतिबन्धं विना वह्निर्न दाह्येऽदाहकः कदा ।। ११ ।।' -वही ।

[११०] (क) 'न मोह प्रभृति-च्छेदः शुद्धात्माध्यानतो विना ।
कुलिशेन विना येन भूधरो भिद्यते न हि ।। ४ ।।' -वही ।

(ख) 'विभिन्ने सति दुर्भेदकर्म-ग्रन्थि-महीधरे।
तीक्ष्णेन ध्यान वज्रेण भूरि-संक्लेश-कारिणि ।। ५ ।।' -वही ।

[१११] 'आनंदो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः ।
औषधेनेव सव्याधेर्व्याधेरभिभवे कृते ।। ६ ।।' -वही ।

[११२] (क) 'साक्षादतीन्द्रियानर्थान् दृष्टवा केवलचक्षुषा ।
प्रकृष्ट-पुण्य-सामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वितः ।। ७ ।।' -वही ।

(ख) 'अवन्ध्य-देशनः श्रीमान् यथाभव्य-नियोगतः ।
महात्मा केवली कश्चिद् देशनाया प्रवर्तते ।। ८ ।।' -वही ।

हैं। मुक्तात्मा समस्त कर्मों से रहित होती है और अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव में अवस्थित होती है।[११३] वह तंरग रहित समुद्र के समान समस्त रागादि विकल्पों से शून्य रहती है।[११४] वे परमात्मा सर्वथा क्लेशवर्जित हैं, कृत्यकृत्य, निष्कलंक, निराबाध और सदा आनन्दमय स्वरूप में स्थिर रहते हैं। वे कषाय आदि मल से रहित परम शुद्ध-बुद्ध एवं निष्कल हैं तथा अतीन्द्रिय अनन्त सुखों में लीन हैं। इस प्रकार आचार्य अमितगति ने देहस्थ आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करके अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा के स्वरूप को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है।[११५]

## ५.२.८ गुणभद्र के आत्मानुशासनम् में परमात्मा का स्वरूप

गुणभद्र द्वारा प्रणीत आत्मानुशासनम् के टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य हैं। वे परमात्मा के स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं कि आत्मा अन्तरात्मा से परमात्म अवस्था को प्राप्त करती है, तब संसार के कारणभूत विषयों का त्याग करके, बाह्यदशा से विरक्त होकर वह तप-संयम, अनशन, ऊनोदर एवं रसपरित्याग आदि से कर्मों की निर्जरा करती हुई घाती कर्मों को क्षय करके आर्हन्त्य अवस्था को उपलब्ध करती है, तब उस आत्मा को सकल परमात्मा

---

[११३] (क) 'वैद्यायुर्नाम-गोत्राणि यौगपद्येन केवली।
शुक्लध्यान-कुठारेण छित्वा गच्छति निर्वृतिम् ।। १४ ।।' -योगसारप्राभृत ७.।
(ख) 'कर्मैव भिद्यते नास्य शुक्ल-ध्यान- नियोगतः ।
नासौ विधियते कस्य नेदं वचनमंचितम् ।। १६ ।।' -वही ।

[११४] (क) 'कुतर्केऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्ति- काङ्क्षिणाम् ।
आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौध-प्रवेशके ।। ५३ ।।' -वही ।
(ख) 'विविक्तमिति चेतनं परम शुद्ध-बुद्धाशयाः
विचिन्त्य सततादृता भवमपास्य दुःखास्पदम् ।
निरन्तमपुनर्भवं सुखमतीन्द्रियं स्वात्मजं ।
समेत्य हतकल्मषं निरूपमं सदैवासते ।। ५४ ।।' -वही ।

[११५] (क) 'निरस्तापर संयोगःस्व-स्वभाव-व्यवस्थितः ।
सर्वौत्सुक्यविनिर्मुक्तः स्तिमितोदधि-संनिभः ।। २८ ।।' -वही ।
(ख) 'एकान्त-क्षीण-संक्लेशो निष्ठितार्थो निरंजनः ।
निराबाधःसदानन्दो मुक्तावात्मावतिष्ठते ।। २९ ।।' -वही ।

कहा जाता है। आगे वे लिखते हैं कि वह आत्मा शेष अघातिया कर्मों का क्षय करके सकल परमात्मा (सिद्ध परमात्मा) कहलाती है। परमात्मा अनन्तकाल से गुलाम बनाने वाली इस देह के ममत्व से विरक्त रहते हैं। वे कहते हैं कि "हे साधक! तू परमात्म अवस्था को उपलब्ध करके केवलज्ञान स्वरूप से युक्त होकर निज-स्वस्वरूप से सुशोभित होकर सुखी हो जा।" इस प्रकार परमात्मा अव्याबाध सुखानुभूति में लीन रहते हैं। आत्मानुशासनम् में भी अर्हत् परमात्मा और सिद्ध परमात्मा ये दो भेद स्वीकार किये गये हैं।[११६]

## ५.२.६ हेमचन्द्र के योगशास्त्र के अनुसार परमात्मा का स्वरूप

योगशास्त्र हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित है। वे नवम प्रकाश में परमात्मा के स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं कि परमात्मा के दो प्रकार हैं :

१. अरिहन्त परमात्मा; और २. सिद्ध परमात्मा।

अरिहन्त परमात्मा समवसरण में स्थित सर्व अतिशयों से युक्त एवं केवलज्ञान से सुशोभित होते हैं। राग-द्वेष, मोह-अज्ञान आदि विकारों से रहित होते हैं। वे शान्त, कान्त, मनोहर आदि समस्त प्रशान्त लक्षणों से युक्त हैं। रूपस्थध्यान का अभ्यास करने पर आत्मा को तन्मयता उपलब्ध होते ही वह आत्मा स्पष्ट रूप से सर्वज्ञ परमात्मा के समान स्वयं को जानती है। "जो सर्वज्ञ भगवान हैं, निसन्देह वही मैं हूँ।" इस प्रकार सर्वज्ञ परमात्मा में तन्मयता हो जाने पर आत्मा परमात्मदशा को उपलब्ध करती है।[११७] वीतराग का ध्यान करनेवाली आत्मा स्वयं वीतरागदशा को उपलब्ध करती है। आत्मा वीतराग परमात्मा होकर कर्मों या वासनाओं से मुक्त हो जाती है। वे आगे लिखते हैं कि जैसे स्फटिक रत्न के पास जिस

---

[११६] 'आत्मान्नाविलोपनात्मचरितैरासार्दुरात्मा चिरं ।
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीन चरितैरात्मी कृतैरात्मनः ।।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविधात्मकः ।
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसननध्यात्ममध्यात्मना ।।१६३।।' -आत्मानुशासनम् संस्कृतटीका ।

[११७] योगशास्त्र ९/१-१२ ।

रंग की वस्तु रख दी जाती है, वह वह वैसी ही प्रतीत होता है। उसी प्रकार हमारी आत्मा भी स्फटिक रत्न के समान निर्मल है। आत्मा जिस भाव का आलम्बन ग्रहण करती है, उस भाव की तन्मयता वाली बन जाती है।[११८] सिद्ध परमात्मा अमूर्त (शरीर रहित) निराकार, चिदानन्द स्वरूप और निरंजन होते हैं। वे आगे लिखते हैं कि सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का आलम्बन लेकर उनका सतत् ध्यान करने वाली आत्मा ग्राह्य-ग्राहक भाव अर्थात् ध्येय और ध्याता के भाव से रहित सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है।[११९] हेमचन्द्राचार्य योगशास्त्र में आगे कहते हैं कि पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चारों प्रकार के ध्यानामृत में निमग्न आत्मा आत्मानुभव करके स्वयं की विशुद्धि करती है। सर्वज्ञ परमात्मा के वचन ऐसे सूक्ष्मस्पर्शी होते हैं कि वे किसी हेतु या युक्ति से खण्डित नहीं होते।[१२०] सिद्ध परमात्मा केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त एवं सर्व कर्मों से मुक्त होते हैं। वे सादि अनन्त, अनुपम, अव्याबाध और स्वाभाविक रूप से पैदा होने वाले आत्मिकसुख को प्राप्त कर उसी में निमग्न रहते हैं।[१२१]

## ५.२.१० बनारसीदासजी के अनुसार परमात्मा का स्वरूप

बनारसीदासजी समयसार नाटक के सर्वविशुद्धि द्वार में परमात्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि निश्चयनय से यह दृष्टिगोचर होता है कि वे परमात्मा निज-स्वभाव में निमग्न परम प्रकाश रूप हैं और जिसमें लोकालोक के छः द्रव्यों के भूत, भविष्य, वर्तमान, त्रिकालवर्ती अनन्तगुण पर्यायें प्रतिभासित होती हैं। इस परमात्मदशा को प्राप्त आत्मा विषय विकारों से विरक्त रहती

---

[११८] वही ९/१३-१४ ।
[११९] वही १०/१-४ ।
[१२०] वही १०/५-१६ ।
[१२१] वही ११/६१ ।

है।[१२२] वह वस्तुस्वरूप का निर्णय करके विभाव पर्याय का त्यागकर स्वस्वभाव में ही स्थित रहती है।[१२३] वे परमात्मा कैसे है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बनारसीदासजी लिखते हैं कि परमात्मा चैतन्य लक्षण युक्त हैं; अपने नित्य स्वभाव के स्वामी हैं; ज्ञानादि गुणरत्नों की खानरूप हैं; कर्मरूप रोगों का क्षय करने वाले हैं; शरीरादि पुद्गलों से पृथक् हैं; ज्ञानदर्शन रूप मोक्षमार्ग के प्रकाशक हैं; 'स्व' और 'पर' तत्त्व के ज्ञाता हैं, संसार से निर्लिप्त हैं और मन, वचन और काया के त्रिविध योगों से ममत्व रहित हैं अर्थात् योगों से रहित होकर ज्ञानावरणादि कर्मों के कर्ता और भोगों के भोक्ता भी

---

[१२२] 'निहचै निहारत सुभाव यानि आतमाकौ,
आतमीक धरम परम परकासना।
अतीत अनागत बरतमान काल जाकौ,
केवल स्वरूप गुन लोकालोक भासना ।।
सोई जीव संसार अवस्था मांहि करमकौ,
करतासौ दीसै लीएं भरम उपासना।
यह महामोहकौ पसार यहै मिथ्याचार।
यह भी विकार यह विवहार वासना ।। ५ ।।' -समयसार नाटक (सर्वविशुद्धिद्वार)।

[१२३] 'जगवासी अग्यानी त्रिकाल परजाइ बुद्धी।
सो तौ विषै भेगनिकौ भोगता कहायौ है।
समकिती जीव जोग भोगसौं उदासी तातैं।
सहज अभोगता गरंथनिमै गायो है ।।
याही भांति वस्तु की व्यवस्था अवधारि बुध,
परभाउ त्यागि अपनौ सुभाउ आयौ है।
निरविकलप निरूपाधि आतम अराधि,
साधि जोग जुगति समाधि मैं समायौ है ।। ७ ।। - वही।

नहीं हैं।[१२४] वे परमात्मा झूठे विकल्पों से रहित हैं। वे निर्विकल्प अवस्था में अवस्थित रहते हैं।[१२५] वे परमात्मा शुद्ध आत्मा के अनुभव का अभ्यास करके[१२६] मुक्ति का नाटक खेलते हैं और मुक्तिमार्ग पर आरूढ़ होकर पूर्णस्वभाव की प्राप्ति कर केवलज्ञान को उपलब्ध करते हैं। वे सदैव उत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुखानुभूति में

---

१२४ (क) 'चिनमुद्राधारी ध्रुव धर्मअधिकारी गुन,
रतन भंडारी अपहारी कर्म रोग की।
प्यारौ पंडितन कौं हुस्यारौ मोक्ष-मारग मैं,
न्यारो पुद्गल सौं उज्यारौ उपयोगकौ ।।
जानै निज पर तत्त रहै जग मैं विरत्त,
गहै न ममत्त मन वच काय जगकौ।
ता कारन ग्यानी ग्यानावरनादि करम कौ,
करता न होइ भोगता न होइ भोगकौ ।।८।।' -वही।

(ख) 'निरभिलाष करनी करै, भोग अरूचि घट मांहि।
ताते साधक सिद्धसम, करता भुगता नांहि ।। ६ ।। -वही।

१२५ 'ज्यौं हिय अंध विकल मिथ्यात धर,
मृषा सकल विकल्प उपजावत।
गहि एकंत पक्ष आतम कौ,
करता मानि अधोमुख धावत ।।
त्यौं जिनमती दरबचारित्री कर,
कर करनी करतार कहावत।
वंछित मुकति तथापि मूढमति,
विन समकित भव पार न पावत ।। १० ।।' -वही।

१२६ (क) 'राग विरोध उदै जबलौं तबलौं यह जीव मृषा मग धावै।
ग्यान जग्यौ जब चेतन कौ तब, कर्म दसा पर रूप कहावै ।।
कर्म विलेछि करै अनुभौ तहां, मोह मिथ्यात प्रवेस न पावै।
मोह गये उपजै सुख केवल, सिद्ध भयौ जगमांहि न आवै ।। ५६ ।।'
-समयसार नाटक (सर्वविशुद्धिद्वार)।

(ख) 'जीव करम संजोग सहज मिथ्यातरूप धर,
राग दोष परनति, जानै न आप पर।
तम मिथ्यात मिटि गयौ, हुवो समकित उतत ससि।
राग दोष कछु वस्तु नांहि छिन मांहि गये नसि ।।
अनुभौ अभ्यास सुख रासि रमि,
भयौ निपुन तारन तरन।
पूरन प्रकाश निहचल निरखि,
बनारसि वंदन चरन ।। ६० ।।' -वही।

निमग्न रहते हैं।[१२७] वे परमात्मा निर्भय, आनन्दमय, सर्वोत्कृष्ट ज्ञानरूप हैं। उनके ज्ञानरूप प्रकाश में त्रैलोक्य प्रकाशित होता है। उनकी महिमा निराली है। वे देहातीत हैं; परिग्रह से रहित हैं और ज्ञानस्वरूप चैतन्यपिण्ड और अविनाशी होते हैं।[१२८] परमात्मा का निर्मल पूर्ण ज्ञान आगामी अनन्तकाल तक ऐसा ही रहेगा।[१२९] उन परमात्मा की आत्मा शुद्ध आत्मा में स्थिर रहकर आत्मीय आनन्द

---

[१२७] 'जो पूरवकृतकरम विरख विष-फल नहीं भुंजै।
जोग जुगति कारिज करंति, ममता न प्रयुंजै ।।
राग विरोध निरोधि, संग विकलप सब छंडइ।
सुद्धातम अनुभौ अभ्यासि, सिव नाटक मंडइ ।।
जो ग्यानवंत इहि मग चलत, पूरन है केवल लहै।
सो परम अतींन्द्रिय सुख विषै, मगन रूप संतत रहै ।। १०६ ।।' -वही।

[१२८] 'निरभै निराकुल निगम वेद निरभेद, जाके परगासमैं जगत भाइयतु है।
रूप रस गंध फास पुद्गल कौ विलास, तासौ उदवास जाकौ जस गाइयतु है ।।
विग्रहसौ विरत परिग्रहसौ न्यारौ सदा, जामैं जोग निग्रह चिह्न पाइयतु है।
सो है ग्यान परवांन चेतन निधान ताहि,अविनासी ईसजानि सीस नाइयतु है।।१०७।।' -वही।

[१२९] (क) 'जैसो निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ,
तैसौ निरभेद अब भेद कौन कहैगो।
दीसै कर्म रहित सहित सुख समाधान,
पायौ निजस्थान फिर बाहरि न बहैगो ।।
कबहूं कदाचि अपनौ सभाव त्यागि करि,
राग रस राचि कैं न पर वस्तु गहैगौ
अमलान ग्यान विद्यमान परगट भयौ,
याही भांति आगम अनन्त काल रहैगो ।। १०८ ।।' -वही।

(ख) 'जो पूरवकृत करमफल, रूचि सौं भुंजै नांहि।
मगन रहै आठौं पहर, सुद्धातम पद मांहि ।। १०४ ।।' -वही।

(ग) 'सो बुध करमदसा रहित पावै मोख तुरंत।
भुंजै परम समाधि सुख, आगम काल अनन्त ।। १०५ ।।' -वही।

की अमृतधारा बरसाती है।[१३०] बनारसीदासजी आगे लिखते हैं कि उन परमात्मा के आत्मदर्पण या ज्ञान में जगत् के वे समस्त पदार्थ झलकते है,[१३१] जो आनन्दमय ज्ञानचेतना से प्रकाशित हैं और संकल्प-विकल्प से रहित हैं; स्वयंबुद्ध हैं; अचल हैं और अखण्डित हैं; अव्याबाध सुखादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण हैं; परम वीतराग हैं; इन्द्रियों से अगोचर किन्तु ज्ञानगोचर हैं; जन्म-मृत्यु, क्षुधा-तृषा आदि से रहित निराबाध हैं और सुख के धारक हैं। वही परमात्मा ध्यान करने योग्य हैं।[१३२]

## ५.२.११ आनन्दघनजी के अनुसार परमात्मा का स्वरूप

जैन साहित्यकारों में आनन्दघनजी का मूर्धन्य स्थान है। परमात्मा किसे कहते हैं? परमात्मा का स्वरूप क्या है? इसे

---

[१३०] 'जोइ द्रिग ग्यान चरनातममैं बैठि ठौर,
भयौ निरदौर पर वस्तुकौं न परसै।
सुद्धता विचारै ध्यावै, सुद्धता में केलि करै,
सुद्धता मैं थिर है अमृत-धारा बरसै ।।
त्यागि तन कष्ट हूवै सपष्ट अष्ट करम कौ,
करि धान भ्रष्ट नष्ट करै और करसै।
सो तौ विकलप विंजई अलप काल मांहि,
त्यागि भौ विथान निरवान पद परसै ।। ११६ ।।'
-समयसार नाटक (सर्वविशुद्धिद्वार)।

[१३१] 'कोऊ कुधी कहै ग्यान मांहि ज्ञेयकौ अकार,
प्रतिभासि रहयौ है कलंक ताहि धोइयै।
जब ध्यान जलसौ परवारिकै धवल कीजै,
तब निराकार सुद्ध ज्ञानमय होइयै ।।
तासौं स्यादवादी कहै ग्यानकौ सुभाव यहै,
ज्ञेयकौ अकार वस्तु मांहि कहां खोइयै।
जैसे नानारूप प्रतिबिम्ब की झलक दीखै,
जद्यपि तथापि आरसी विमल जोइयै ।।१६।। -वही।

[१३२] (क) 'जगत चक्षु आनंदमय, ग्यान चेतनाभास,
निरविकल्प सासुत सुथिर, कीजै अनुभौ तास ।। १२७ ।।' -वही।
(ख) 'अचल अखंडित ग्यानमय, पूरन वीत ममत्व।
ग्यान गम्य बाधा रहित, सो है आतम तत्व ।। १२८ ।।' -वही।

व्याख्यायित करते हुए आनन्दघनजी लिखते हैं :

'ज्ञानानंदे हो पूरण पावनों वर्जित सकल उपाधि-सुज्ञानी,
अतीन्द्रिय गुण-मणि आगरू इम परमात्मसाध।'[१३३]

अर्थात् वे परमात्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसौख्य, अनन्तवीर्यादि अनन्तचतुष्टय से परिपूर्ण एवं परम-पवित्र हैं। वे कर्मजन्य समस्त आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त हैं। जो अतीन्द्रिय गुणरूप मणियों के भण्डार हैं वे ही परमात्मा साध्य हैं। ऐसे परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय बताते हुए श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि-

'बहिरात्म तजि अन्तर आतमा,
रूप थई थिर भाव सुज्ञानी।
परमात्मनुं हो आतम भाववुं,
आतम अरपण दाव सुज्ञानी।।'[१३४]

अर्थात् आत्मसमर्पण ही वास्तव में परमात्म-प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। साधक पहले बहिरात्मदशा का परित्याग करके और अन्तरात्मा अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित रहकर परमात्मस्वरूप का ध्यान करे और उसी का चिन्तन करे। दूसरे शब्दों में बहिर्मुखता का त्याग कर अपने अन्तःकरण में परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करे। यही परमात्मदशा की प्राप्ति का अनुपम उपाय है।

आनन्दघनजी परमात्मा के केवलज्ञानमय स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि :

'आतमज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे।
वस्तु-गते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन मत संगीरे।।'[१३५]

अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को शब्दों में समझ लेने मात्र से कोई आत्मज्ञानी नहीं होता, अपितु आत्मानुभूति से होता है। जैसे प्रकाश क्षेत्र की सीमा में रहे हुए सभी पदार्थ ज्यों के त्यों प्रकट होते हैं; वैसे ही केवलज्ञान के प्रकाश में सर्वज्ञ को सभी

---

[१३३] श्री सुमतिजिन स्तवन गाथा ५/४। -आनन्दघन चौबीसी।
[१३४] वही गाथा ५/५।
[१३५] श्री वासुपूज्यजिन स्तवन गाथा ६। -आनन्दघन चौबीसी।

रूपी-अरूपी पदार्थों का इन्द्रियों की सहायता के बिना ज्ञान होता है। किन्तु आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध केवलज्ञान का आधार है। क्योंकि इसके अवलम्बन से ही केवलज्ञानमय परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

आगे आनन्दघनजी साधक को सावधान करते हुए और जीवन की नश्वरता का परिचय देते हुए लिखते हैं :

'क्या सोवै उठि जाग बाउ रे।
अंजलि जल ज्यूं आउ घटतु है,
देत पहरिया धारि धाउ रे।
इन्द्र, चंद्र, नागिंद, मुनिंद चले,
कौन राजा पतिसाह राउ रे।
भ्रमत-भ्रमत भव जलधि पाई तै,
भगवन्त भगति सुभाव नाउ रे।
कहा विलम्ब करै अब बौरे,
तरि भवजल-निधि पार पाउ रे।
आनन्दधन चेतनमय मुरति सुद्ध निरंजनदेव ध्याउ रे।'[१३६]

अर्थात् अरे मूढ़! मोह-निद्रा में क्यों सो रहा है? यदि जीवन में कुछ पाना हो तो मोह-निद्रा से जाग्रत हो। समय तेरे हाथों से फिसल रहा है। जिस प्रकार अंजलि में स्थित जल एक-एक बून्द करके रिक्त हो जाता है, वैसे ही आयु भी क्षण-क्षण में क्षीण होती है। जैसे प्रतिहारी घण्टा बजाकर सावधान करता है कि जो घड़ी बीत गई है वह पुनः लौटकर नहीं आने वाली है। इस संसार से इन्द्र, मुनीन्द्र, योगीन्द्र, तीर्थंकर आदि सभी को विदा होना पड़ता है। तो फिर राजा, सम्राट और चक्रवर्ती की क्या बिसात? जब सभी महापुरुष इस दुनिया से चल बसे तो फिर तेरे जीवन का क्या भरोसा है? भवरूपी समुद्र में भ्रमण करते-करते अनमोल प्रबल पुण्योदय से मनुष्य जन्म मिला और परमात्म भक्तिरूप सहज नौका हाथ लग गई है तो अब तनिक भी विलम्ब मत कर। विषय-वासना रूप सागर से पार हो जा। आनन्दघनजी कहते हैं कि : "हे साधक! केवल चैतन्य स्वरूप उस शुद्ध-बुद्ध तथा निरंजन

---

[१३६] आनन्दघन ग्रन्थावली पद १।

परमात्मा का ध्यान कर अर्थात् तू परमात्मपद[१३७] को प्राप्त कर।" आत्मानुभूति के द्वारा आनन्दमय शुद्ध निरंजन परमात्मा को प्राप्त करने के लिए कहा गया है।

आनन्दघनजी ने श्री पार्श्व जिन-स्तवन में परमात्मा के विभिन्न गुणवाचक नामों का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि वे परमात्मा शान्त, सुधारस के समुद्र के समान हैं। उन्हें भवसागर में सेतु के समान भी कहा गया है, क्योंकि उसके सहारे ही प्राणी संसार-समुद्र से पार होते हैं। वे सात प्रकार के महामदों से रहित हैं। मन, वचन और कर्म से सदैव सावधान और अप्रमत्त हैं। उनके अनेक नाम हैं, यथा : शिव, शंकर, जगदीश्वर, चिदानन्द, भगवान, जिन, अर्हत्, तीर्थंकर, अरूपी, निरंजन, जगवत्सल, सभी प्राणियों के आश्रयस्थल, अभयदान के दाता, वीतराग, निर्विकल्प, रति-अरति-भय-शोक आदि से रहित; निद्रा, तन्द्रा और दुर्दशा से अबाधित; परम पुरुष, परमात्मा, परमेश्वर, परमेष्टि, परमदेव, विश्वम्भर, ऋषिकेश, जगन्नाथ, अघहर, अघमोचन आदि। उपर्युक्त समस्त नाम वस्तुतः उनके गुणों को प्रकट करने के लिये ही उन्हें दिये गए हैं।[१३८]

## ५.२.१२ देवचन्द्रजी के अनुसार परमात्मा का स्वरूप

देवचन्द्रजी परमात्मा के स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए ऋषभजिन स्तवन में लिखते हैं कि परमात्मा शुद्ध-बुद्ध, निरंजन, निराकार हैं। वे राग-द्वेष रूपी कर्म-शत्रुओं से रहित हैं। शुद्ध-आत्मा में परमात्मरूप ज्योति प्रकट होती है। वे परमात्मा अव्याबाध, अनन्त, अनश्वर और सुखों में लीन हैं।[१३९] देवचन्द्रजी परमात्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए सुमतिजिन स्तवन में कहते हैं कि परमात्मा स्वगुण और स्वपर्याय में ही रमण करते हैं। फिर भी उनमें भोग्य और भोगी - ऐसे द्वेत का अभाव है, क्योंकि स्वगुण और स्वपर्याय का आत्मा से अभाव रहा हुआ है। अतः

---

[१३७] आनन्दघन ग्रन्थावली (सुमतिजिन स्तवन गाथा ३)। -आनन्दघन चौबीसी।
[१३८] आनन्दघन ग्रन्थावली (सुपार्श्वजिन स्तवन गाथा १)। -आनन्दघन चौबीसी।
[१३९] ऋषभजिन स्तवन १/३-४। -देवचन्द्रजी।

परमात्मा में भोग्य और भोक्ताभाव घटित नहीं होता है।[१४०] पुनः देवचन्द्रजी परमात्मा को अकामी कहते हैं, क्योंकि उनमें कामनाओं का अभाव है। वे सदैव स्वभावदशा में ही रहते हैं - विभावदशा में नहीं रहते हैं। इसलिए परमात्मा में कार्य/कारण भाव भी घटित नहीं होता। वे सर्वज्ञ हैं।[१४१] सभी तत्वों को जानते हुए भी वे अपनी निष्ठा भावना के कारण उनका वेदन नहीं करते। वे स्वस्वभाव का भोग करते हुए भी भोगी नहीं हैं, क्योंकि उनमें भोगाकाँक्षा का अभाव है। वे अयोगी है फिर भी उपयोगी हैं, क्योंकि जीव उनसे प्रेरणा प्राप्त करके मोक्ष-मार्ग की साधना करते हैं।[१४२] परमात्मा अनन्त शक्ति के पुंज हैं। फिर भी वे उस शक्ति का प्रयोग नहीं करते हैं; इसलिये वे अप्रयोगी हैं। अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न होकर भी वे पर-पदार्थों के स्वामी नहीं हैं, क्योंकि वे पर-पदार्थ को ग्रहण ही नहीं करते।[१४३] आत्मा और परमात्मा के अभेद को बताते हुए सुविधिजिन स्तवन में वे लिखते हैं कि द्रव्य की अपेक्षा से आत्माएँ परमात्मस्वरूप ही हैं। जो अपने शुद्ध स्वरूप को जान लेता है, 'स्व' सम्पदा को पहचान लेता है; वही परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।[१४४] वे शीतलजिन स्तवन में लिखते हैं कि परमात्मा पूर्ण रूपेण निर्मल और अनन्तचतुष्टय से युक्त हैं। फिर भी परमात्मा का यह स्वरूप ज्ञान के बिना समझना कठिन है। परमात्मा के केवलज्ञान के स्वरूप का विवेचन करते हुए वे इसी शीतलजिन स्तवन में लिखते हैं कि द्रव्यों की अपेक्षा से भी उनके गुण और पर्याय भी अनन्त है। उन अनन्त द्रव्यों के अनन्त गुणों और पर्यायों के वर्गफल की अपेक्षा भी उनका ज्ञान अनन्त है। इसी प्रकार उनका केवलदर्शन भी अनन्त है।[१४५] अन्त में इसी शीतलजिन स्तवन में वे परमात्मा को वचनातीत कहते हुए उनकी अनिर्वचनीयता को भी स्पष्ट करते हैं; क्योंकि परमात्मा के गुणों को

---

[१४०] सुमतिजिन स्तवन ५/१। -वही।
[१४१] वही ५/२। -वही।
[१४२] सुमतिजिन स्तवन ५/३। -वही।
[१४३] वही ५/५। -वही।
[१४४] वही ६/६)। -वही।
[१४५] शीतलजिन स्तवन १०/१। -देवचन्द्रजी।

शब्दों की सीमा में बान्धकर प्रकट नहीं किया जा सकता।[१४६] वासुपूज्यजिन स्तवन में उन्होंने परमात्मा के अतिशयों को भी प्रकट किया है – अपायापगमातिशय, ज्ञानातिशय, पूजातिशय और वचनातिशय।[१४७] वे लिखते हैं कि दर्शन, ज्ञानादि आत्मा के ही गुण हैं। परमात्मा उनकी प्रभुता को प्राप्त करते हैं एवं उन्हीं में लीन रहते हैं। वे शुद्ध स्वरूप में तन्मय होकर आस्वाद लेते हैं।[१४८] वे अकर्ता होकर भी उनकी सेवा से सेवकों को सिद्धि प्रदान करते हैं। वे स्वधन को दिये बिना ही अपने आश्रितों को अक्षय ऋद्धि प्रदान करते हैं। इसी वासुपूज्यजिन स्तवन के अन्त में देवचन्द्रजी लिखते हैं कि परमात्मा की पूजा अपनी ही पूजा है। उसके द्वारा अनन्त शक्ति का प्रकटन और परमानन्द का अनुभव होता है।[१४९] इस प्रकार श्रीमद् देवचन्द्रजी ने अपने चतुर्विंशतिजिन स्तवनों में स्थान-स्थान पर परमात्मा का विवेचन किया है और इस विवेचन के माध्यम से साधकों को परमात्मस्वरूप प्राप्त करने का निर्देश भी दिया है।

## ५.२.१३ श्रीमद् राजचन्द्रजी के अनुसार परमात्मा

श्रीमद् राजचन्द्रजी 'अपूर्व अवसर' में परमात्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि परमात्मदशा को प्राप्त करने के लिए स्वयम्भूरमण के समान मोहनीयकर्म को समाप्त करना आवश्यक है। जो साधक अथक पुरुषार्थ के द्वारा मोहनीयकर्म को क्षय करते हुए आठवें, नवें एवं दसवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय का क्षय करता है, उसका जीव क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में आता है, क्योंकि क्षपक श्रेणीवाला साधक ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करता। जब बारहवें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का भी क्षय हो जाता है, तब सम्पूर्ण वीतरागता के साथ केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुखादि,

---

१४६ वही १०/९। -वही।
१४७ वासुपूज्यजिन स्तवन १२/३। -वही।
१४८ वही १२/४। -वही।
१४९ वही १२/४-५। -वही।

जो आत्मा के ही स्वभाव हैं, वे स्वतः ही प्रकट होते हैं।[१५०] जैसे स्वर्ण पर से रज हटने पर वह चमकता है, वैसे ही मोहनीय आदि घातीकर्मों के क्षय हो जाने पर कुन्दन के समान आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है।

वे आगे लिखते हैं कि परमात्मा मोह रहित वीतराग दशा को प्राप्त हैं। वे तीन लोक एवं समस्त व्यापार को देखने-जानने वाले होने पर भी स्वाभाविक रूप से उनकी शुद्ध परिणति बनी रहती है। जैसे दर्पण में सभी प्रतिबिम्बित होता है किन्तु वह उससे अप्रभावित रहता है, वैसे ही उन्हें कुछ करना शेष नहीं रहता। फिर भी उनमें अनन्तवीर्य अर्थात् अनन्तशक्ति प्रकट रूप में रहती है।[१५१]

श्रीमद् राजचन्द्रजी परमात्मा के स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए पुनः लिखते हैं कि साधक आत्मा के चार कर्म क्षीण होने पर वेदनीयादि चार कर्म शेष रहते हैं। वे कर्म जली हुई रस्सी के सदृश हैं - जैसे वह रस्सी रूप दिखती है, किन्तु राख रूप होने से बन्धन में समर्थ नहीं होती। जब तक आयुष्यकर्म है तब तक अरहन्त परमात्मा को देह में रहना पड़ता है, किन्तु आयुष्यकर्म के समाप्त होते ही सिद्ध दशा प्रकट होती है। इसी देह में रहने पर भी उनकी दशा तो पूर्ण रूप से देहातीत होती है। देहरहित होने पर वे सिद्धावस्था को प्राप्त करते हैं, तब वे सिद्ध परमात्मा

---

१५० 'मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोहगुणस्थान जो;
अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई,
प्रगटावुं निज केवलज्ञान निधान जो ।। १४ ।।' -अपूर्वअवसर ।

१५१ 'चार कर्म घनघाति ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवनां बीज तणो आत्यंतिक नाष जो;
सर्व भाव ज्ञाता-दृष्टा सह शुद्धता,
कृत्यकृत्य प्रभुवीर्य अनन्त प्रकाश जो ।। १५ ।।' -अपूर्वअवसर ।

कहलाते हैं।[१५२]

श्रीमद् राजचन्द्रजी लिखते हैं कि वीतराग अवस्था में मन, वचन और काया के योग के कारण एक समय की स्थिति वाले सातावेदनीयकर्म का ग्रहण होता है। वह भी आयुष्यकर्म की अन्तिम घड़ी अर्थात् अयोगी गुणस्थान में छूट जाता है।[१५३]

श्रीमद् रामचन्द्रजी आगे लिखते हैं कि जिनके कर्मरूपी मैल एवं योग की चंचलता नष्ट हो गई है, वे परमात्मा शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार एवं चैतन्यमूर्ति रूप में स्थित रहते हैं। वे परमात्मा अगुरूलघु, अमूर्त एवं सहज स्वरूपी हैं। यह परमात्मदशा चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होती है।[१५४] तब अरहन्त परमात्मा पूर्वप्रयोगादि कारणों से उर्ध्वगति करते हैं और सिद्धालय में स्थित हो जाते हैं। वे परमात्मा सादि अनन्त अनन्तसमाधि सुख में लीन होते हुए अनन्तदर्शन एवं अनन्तज्ञान से युक्त होते हैं।[१५५]

## ५.३ तीर्थंकर का स्वरूप

जैन धर्म में तीर्थंकर को धर्मतीर्थ का संस्थापक माना जाता है। उन्हें धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाला धर्म का प्रदाता, धर्म का

---

१५२ 'वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहाँ,
बली सींदरीवत् आकृतिमात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष पूर्णे मटिये दैहिक पात्र जो ।। १६ ।।' -वही ।

१५३ 'मन वचन काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहाँ सकल पुद्गल संबंध जो;
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ।। १७ ।।' -वही ।

१५४ 'एक परमाणु मात्रनी मले न स्पर्शता,
पूर्ण कलंकरहित अडोल स्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरूलघु अमूर्त सहज पद रूप जो ।। १८ ।।' -वही ।

१५५ 'पूर्वप्रयोगादि कारणना योगथी,
उर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
सादि अनन्त अनन्त समाधि सुखमां,
अनन्तदर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो ।। २६ ।।' -वही ।

उपदेशक, धर्म का नेता, धर्म मार्ग का सारथी और धर्म चक्रवर्ती कहा गया है। इस प्रकार तीर्थंकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तक और उसके संरक्षक तथा संवर्धक होते है। यहाँ ज्ञातव्य है कि हिन्दू परम्परा के अवतार के समान जैन धर्म में भी तीर्थंकर को भी धर्म का प्रवर्तक कहा गया है। किन्तु दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ अवतार धर्म के प्रवर्तन के साथ अपने भक्तों के कष्टों को दूर करने के लिये दुष्टों का दमन भी करते हैं; जबकि तीर्थंकर स्वयं सत्य का साक्षात्कार करके धर्म मार्ग की स्थापना करते हैं। दुष्टों का दमन और सज्जनों की रक्षा तीर्थंकर का दायित्व नहीं है। इस प्रकार तीर्थंकर और अवतार के कार्य में यह महत्वपूर्ण अन्तर है। दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ तीर्थंकर आत्मसाधना के द्वारा अपना आध्यात्मिक विकास करते हुए तीर्थंकर पद को प्राप्त करते है; वहाँ अवतार परमात्मा का अवतरण है। अवतार में परमात्मा ही बार-बार लोकमंगल के लिए जन्म ग्रहण करते हैं, जबकि तीर्थंकर आत्मपूर्णता को प्राप्त कर अपने निर्वाण के पश्चात् सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। उनका पुनर्जन्म नहीं होता है। प्रत्येक अवतार की वही आत्मा है, जबकि प्रत्येक तीर्थंकर की भिन्न-भिन्न आत्मा है। इस प्रकार तीर्थंकर की अवधारणा अवतारवाद की अवधारणा से नितान्त भिन्न है। अवतार की अवधारणा ईश्वर के अवतरण की अवधारणा है, जबकि तीर्थंकर की अवधारणा उतरंग की अवधारणा है। उतारवाद में मानव अपने विकारी जीवन से ऊपर उठकर परमात्मतत्व को प्राप्त करता है; जबकि अवतार की अवधारणा में परमात्मा ही मनुष्य या अन्य किसी रूप में अवतरित होते है। अवतार में परमात्मा ऊपर से नीचे आते है जबकि तीर्थंकर नीचे से ऊपर की और जाकर परमात्मतत्व को प्राप्त करते हैं। तीर्थंकरत्व की प्राप्ति एक विकास की प्रक्रिया है, जबकि अवतार की अवधारणा अवतरण की प्रक्रिया है। इस प्रकार तीर्थंकर और अवतार का मूलभूत प्रयोजन धर्म की संस्था पर एक होते हुए भी दोनों के स्वरूप में अन्तर है।

## ५.४ अतिशय

जैनाचार्यों के अनुसार तीर्थंकरों के चार अतिशयों का उल्लेख

उपलब्ध होता हैं। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार तीर्थंकरों के निम्न चार अतिशय होते हैं :[१५६]

१. ज्ञानातिशय; २. वचनातिशय;
३. अपायापगमातिशय; और ४. पूजातिशय।

१. ज्ञानातिशय : केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की प्राप्ति ही तीर्थंकर परमात्मा का ज्ञानातिशय स्वीकारा गया है। वे तीर्थंकर परमात्मा सर्वज्ञ होने के कारण भूतकालिक, वर्तमानकालिक तथा भावी पर्यायों के ज्ञाता-द्रष्टा अर्थात् त्रिकालज्ञ होते हैं। तीर्थंकर परमात्मा अनन्तज्ञानयुक्त होते हैं। अतः यही उनका ज्ञानातिशय कहलाता है।

२. वचनातिशय : तीर्थंकर परमात्मा अबाधित और अखण्ड सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। यही उनका वचनातिशय माना गया है। इस वचनातिशय के ३५ उपविभाग उपलब्ध होते हैं।

३. अपायापगमातिशय : वे तीर्थंकर परमात्मा समस्त मलों एवं दोषों से रहित होते हैं। अतः यही उनका अपायापगमातिशय कहा गया है। तीर्थंकर परमात्मा में रागद्वेषादि १८ दोषों का अभाव माना गया है।

४. पूजातिशय : तीर्थंकर परमात्मा सुर-नरेन्द्रों द्वारा पूजित होते हैं। यही उनका पूजातिशय माना गया है। जैन-परम्परा तीर्थंकर परमात्मा को देव-नरेन्द्रों द्वारा पूज्यनीय स्वीकार करती है।

जैनाचार्यों ने तीर्थंकर परमात्मा के अतिशयों को प्रकान्तर से तीन भागों में विभाजित किया है। वे निम्न हैं :
१.सहज अतिशय; २.कर्मक्षयज अतिशय; और ३.देवकृत अतिशय।

उपर्युक्त तीन अतिशयों के ३४ उत्तरभेद किये गए हैं। श्वेताम्बर परम्परा में सहज अतिशय के चार, कर्मक्षय अतिशय के ग्यारह तथा देवकृत अतिशय के उन्नीस भेद स्वीकृत किये गए है।

१. सहज अतिशय :

१. सुवर्णी काया (सुन्दर रुप), सुगन्धित, निरोग, पसीना वं मल रहित देह;
२. कमल के सदृश सुगन्धित श्वासोच्छ्वास;

---

[१५६] 'अनन्तविज्ञानमतीतदोषम बाध्यसिद्धांतममर्त्य पूज्यम् ।।' -अन्ययोगव्यवच्छेदिका १ (हेमचन्द्र)।

३. गाय के दुग्ध के सदृश स्वच्छ, दुर्गन्ध रहित मांस एवं रूधिर;
४. चर्मचक्षुओं से आहार और नीहार का न दिखना।

## २. कर्मक्षयज अतिशय :

१. योजनमात्र में समवसरण में क्रोड़ाक्रोडी सुर-नरेन्द्रों और तिर्यंचों का समा जाना;
२. तीर्थंकर परमात्मा की वाणी एक योजन तक फैली रहती है। उनकी वाणी अतिशययुक्त अर्धमागधी होती है। अतः मनुष्य, तिर्यंच तथा देवता सभी अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते है;
३. सूर्य के प्रकाश के समान प्रभामण्डल का होना;
४. सौ योजन तक रोग का नहीं होना;
५. वैर का नहीं होना;
६. ईति अर्थात् धान्यादि को नाश करने वाले चूहों आदि का अभाव;
७. महामारी आदि उपद्रवों का नहीं होना;
८. अतिवृष्टि न होना;
९. अनावृष्टि न होना;
१०. दुर्भिक्ष न पड़ना; और
११. स्वचक्र और परचक्र का भय न होना।

## ३. देवकृत अतिशय :

१. आकाश में धर्मचक्र का होना;
२. आकाश में चमरों का होना;
३. आकाश में पादपीठ सहित उज्ज्वल सिंहासन;
४. आकाश में तीन छत्र;
५. आकाश में रत्नमय धर्मध्वज;
६. सुवर्ण कमलों पर चलना;
७. समवसरण में रत्न, सुवर्ण और चाँदी के तीन परकोटे;
८. चारों दिशाओं में परमात्मा का मुख दिखाई देता है;
९. चैत्यवृक्ष;
१०. कण्टकों का अधोमुख हो जाना;
११. वृक्षों का झुक जाना;
१२. दुन्दुभि का बजना;
१३. अनुकूल वायु का बहना;
१४. पक्षियों का प्रदक्षिणा देना;
१५. गन्धोदक की वृष्टि होना;

१६. पाँच वर्णों के पुष्पों की वृष्टि होना;
१७. नख और केशों का नहीं बढ़ना;
१८. कम से कम एक कोटि देवों का पास में रहना; और
१९. अनुकूल ऋतुओं का होना।

दिगम्बर परम्परा में १० सहज अतिशय, १० कर्मक्षयज अतिशय तथा १४ देवकृत अतिशय – ऐसे ३४ अतिशय स्वीकार किये गए हैं। समवायांगसूत्र में बुद्ध या तीर्थंकर के ३४ अतिशय (विशिष्ट गुण) उपलब्ध होते हैं। समवायांग के टीकाकार अभयदेव सूरी ने भी बुद्ध शब्द का अर्थ तीर्थंकर किया है।[१५७] समवायांग की सूची में उपर्युक्त विविध वर्गीकरणों के निम्न उप प्रकार समाहित हैं:

१. तीर्थंकरों के सिर के बाल, दाढ़ी, मूँछ, रोम व नख बढ़ते नहीं हैं, हमेशा एक ही स्थिति में रहते हैं;
२. उनकी देह हमेशा रोग तथा मल से रहित होती है;
३. उनका मांस तथा खून गो दुग्ध सदृश श्वेत वर्ण का होता है;
४. उनका श्वासोच्छ्वास कमल के समान सुगन्धित होता है;
५. उनका आहार और निहार (मूत्रपुरीषोत्सर्ग) दृष्टिगोचर नहीं होता;
६. वे धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हैं;
७. उनके ऊपर तीन छत्र लटकते रहते हैं;
८. उनके दोनों ओर चामर हैं;
९. स्फटिक रत्न के सदृश रत्न सिंहासन होता है;
१०. अनेक लघुपताका से ओतप्रोत इन्द्रध्वज आगे चलता है;
११. जहाँ-जहाँ अरिहन्त परमात्मा विचरण करते हैं, ठहरते हैं और बैठते हैं, वहाँ-वहाँ यक्षदेव छत्र, सघट, सपताका एवं पत्र-पुष्पों से परिव्याप्त अशोक वृक्ष की संरचना करते हैं;
१२. परमात्मा के मस्तक के पीछे दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाला तेज प्रभामण्डल होता है;
१३. वहाँ की भूमि समतल तथा सुन्दर हो जाती है;
१४. कण्टक अधोमुख हो जाते हैं;
१५. ऋतुएं अनुकूल (सुखस्पर्श) हो जाती हैं;
१६. एक योजन के क्षेत्र में समवर्तक वायु से वातावरण की शुद्धि हो जाती है;

---

[१५७] समवायांग टीका, अभयदेवसूरि पृ. ३५।

१७. मेघ द्वारा उत्पन्न बिन्दुपात से रज एवं रेणु का नाश हो जाता है;
१८. पंचवर्ण सुन्दर पुष्प-समुदाय प्रकट होता है;
१९. परमात्मा के समीप का परिवेश अनेक प्रकार के धूप और धुएं से सुगन्धित हो जाता है अर्थात् अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का अभाव होता है;
२०. परमात्मा के दोनों ओर आभूषणों से सुसज्जित यक्ष चामर ढुलाते है;
२१. उपदेश (देशना) के समय अरिहन्त भगवान के मुख से एक योजन का भी उल्लंघन करने वाला हृदयंगम स्वर निकलता है;
२२. परमात्मा की वाणी अर्धमागधी भाषा में होती है;
२३. परमात्मा की वाणी को आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद आदि सभी प्राणी अपनी भाषा में समझ जाते हैं;
२४. बद्ध-वैरवाले देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष गन्धर्वादि परमात्मा के पादमूल में प्रसन्नचित्त होकर उनकी वाणी को श्रवण करते हैं;
२५. अन्य तीर्थ वाले प्रावचनिक भी परमात्मा को नमस्कार करते है; और
२६. अन्य तीर्थवाले विद्वान परमात्मा की शरण में आकर निरूत्तर हो जाते है।

जहाँ तीर्थंकर का विहार होता है वहाँ पच्चीस योजन तक निम्न बातें नहीं होती हैं :

२७. धान्य नष्ट करने वाले चूहे आदि प्राणियों की उत्पत्ति नहीं होती;
२८. महामारी (संक्रामक बीमारी) नहीं होती;
२९. अपनी सेना विद्रोह नहीं करती;
३०. दूसरे राजा की सेना उपद्रव नहीं करती;
३१. अतिवृष्टि नहीं होती;
३२. अनावृष्टि नहीं होती;
३३. दुर्भिक्ष नहीं होता; और
३४. परमात्मा के विहार से पूर्व उत्पन्न हुई व्याधियाँ भी शीघ्र ही शान्त हो जाती हैं और रूधिर वृष्टि और ज्वरादि का प्रकोप नहीं होता है।

## वचनातिशय :

जैनागमों में ३५ वचनातिशयों के उल्लेख हैं।[१५८] संस्कृत टीकाकारों ने भी अपनी टीका में वचन के ३५ गुणों का उल्लेख किया है। ये ३५ वचनातिशय निम्न हैं :

१. संस्कारत्व : वचनों का व्याकरण सम्मत होना;
२. उदरत्व : वाणी का योजन प्रमाणभूमि में स्पष्ट सुनाई देना;
३. उपचारोपत्व : वचनों का ग्रामीणता से रहित होना;
४. गम्भीरशब्दत्व : मेघ जैसी गम्भीरवाणी;
५. अनुनादित्व : प्रत्येक शब्द का यथार्थ उच्चारण से युक्त होना;
६. दक्षिणत्व : वचनों का सरलता से युक्त होना;
७. उपनीतरागत्व : यथोचित राग-रागिणी से युक्त होना अथवा श्रवण करने वाला प्रत्येक प्राणी ऐसा जाने की प्रभु मुझे ही कहते हैं;
८. महार्थत्व : वचनों में अर्थ-गाम्भीर्य होना;
९. अव्याहत पौर्वापयत्व : पूर्वा पर विरोध रहित होना;
१०. शिष्टत्व : महापुरुषों के योग्य शिष्टता से युक्त वचन;
११. असंन्दिग्धत्व : कथन का सन्देह रहित निश्चित अर्थ का प्रतिपादक होना;
१२. अपहृतान्योत्तरत्व : दूषण रहित अर्थ का साहित्य;
१३. हृदयग्राहित्व : श्रोताओं को कठिन से कठिन विषय भी सरलता से समझ में आ जाये, ऐसी वाणी;
१४. देशकालव्ययीतत्व : देशकाल के अनुकूल वचन होना;
१५. तत्वानुरूपत्व : विवक्षित वस्तु के स्वरूप के अनुरूप वचन होना;
१६. अप्रकीर्ण प्रसृतत्व : प्रयोजन सहित होना;
१७. अन्यानय प्रगृहीतत्व : परस्पर अपेक्षा रखने वाले पदों से युक्त होना;
१८. अभिजातत्व : वक्ता की कुलीनता और शालीनता का सूचक होना;
१९. अतिस्निग्धमधुरत्व : वचन का अत्यन्त मधुरता से युक्त होना;
२०. अपरमर्मबेधित्व : दूसरों का मर्म भेदन न हो ऐसी चातुर्यपूर्ण वाणी;

---

[१५८] 'पणतीसं सच्चवयणाइसेसां पण्णत्ता' -समवायांगसूत्र समवाय ३५।

२१. अर्थधर्माभ्यासानपेतत्व : अर्थ और धर्म के अनुकूल होना (धर्म और अर्थ – इन पुरुषार्थों को साधने वाली वाणी);
२२. उदारत्व : दीपक के सदृश्य अर्थ का प्रकाश करने वाले अथवा उदारता युक्त वचन;
२३. परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्व : परनिन्दा और आत्मश्लाघा से रहित;
२४. उपगतश्लाघत्व : जिन्हें सुनकर लोग प्रशंसा करें, ऐसे वचन होना;
२५. अनपनीतत्व : समुचित कर्ता, कर्म, क्रियापद, काल और विभक्ति से युक्तवाणी;
२६. उत्पादिताच्छिन्न कौतूहलत्व : अपने विषय में श्रोताओं को लगातार कौतूहल उत्पन्न करनेवाली वाणी;
२७. अद्भुतत्व : वचनों का आश्चर्यजनक, अद्भुत एवं नवीनता प्रदर्शक होना;
२८. अनतिविलम्बित्व : अतिविलम्ब से रहित धाराप्रवाह से बोलना;
२९. विभ्रम, विक्षेप, कलिकिंचितादि विमुक्तत्व : वाणी का भ्रान्ति, विक्षेप रोष, भयादि से रहित होना;
३०. अनेक जातिसंश्रयाद्विचित्रत्व : विभिन्न प्रकार से वर्णनीय वस्तु का स्वरूप प्रतिपादन करने वाली वाणी बोलना;
३१. आहितविशेषत्व : सामान्य वचनों की अपेक्षा विशिष्टता युक्तवाणी;
३२. साकारत्व : पृथक्-पृथक् वर्ण, पद वाक्य के आकार से युक्त वाणी;
३३. सत्वपरिगृहीतत्व : साहस से परिपूर्ण वाणी;
३४. अपरिखेदित्व : जिसमें खेद-खिन्नता का अभाव हो ऐसी वाणी होना; और
३५. अव्यछेदित्व : विवक्षित अर्थ को सम्यक् प्रकार सिद्ध करने वाली वाणी।

## ५.४.१ तीर्थंकरों के पंचकल्याणक

जैन परम्परा में तीर्थंकर और सामान्य केवली का अन्तर पंचकल्याणक की अवधारणा के आधार पर हुआ है। तीर्थंकर परमात्मा के विशेष पुण्य के कारण पंचकल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं; किन्तु सामान्य केवली परमात्मा के पंचकल्याणक महोत्सव

नहीं मनाये जाते।[१५९] तीर्थंकर परमात्मा के पंचकल्याणक निम्न रूप से हैं :

१. गर्भकल्याणक (च्यवनकल्याणक); २. जन्मकल्याणक;
३. दीक्षाकल्याणक (प्रव्रज्या कल्याणक); ४. कैवल्यकल्याणक; और
५. निर्वाणकल्याणक।

१. गर्भकल्याणक (च्यवनकल्याणक) : जब तीर्थंकर परमात्मा का माता के गर्भ में अवतरण (च्यवन) होता है तब तीर्थंकर की माता श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार १४ स्वप्न (दिगम्बर परम्परा के अनुसार १६) देखती हैं। देवता-देवी, मनुष्यादि मिलकर उनका च्यवन-कल्याण महोत्सव मनाते हैं। तीर्थंकर देवलोक या नरक से ही च्युत होकर मनुष्य भव में आते हैं। च्यवन के पूर्व गर्भ में एवं जन्म के समय तीर्थंकर परमात्मा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान से युक्त होते हैं। वे उत्तम कुल में जन्म लेते हैं।[१६०]

२. जन्मकल्याणक : जैन परम्परा की अपेक्षा से जिस समय तीर्थंकर प्रभु का जन्म होता है, उस समय स्वर्गलोक से सुर-सुरेन्द्र पृथ्वीतल पर आकर तीर्थंकर प्रभु का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाते हैं। तीर्थंकर परमात्मा का जब जन्म होता है, तब जन्म के प्रभाव से क्षण भर के लिये सर्वलोक में उद्योत हो जाता है। स्थानांगसूत्र में लोक में उद्योत के चार कारणों का उल्लेख निम्नरूप से उपलब्ध होता है :

१. जिनेन्द्रदेव के जन्म पर;
२. जिनेन्द्रदेव के प्रव्रज्या ग्रहण के समय पर;
३. जिनेन्द्रदेव के केवलज्ञान के अवसर पर; और
४. जिनेन्द्रदेव के निर्वाण के अवसर पर।

शीलांकाचार्य के अनुसार यह उद्योत मात्र क्षणभर के लिए होता है।[१६१] क्षणभर के लिये नरक के जीवों को भी अपूर्व सुख की उपलब्धि होती है। तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य किसी

---

[१५९] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १ पृष्ठ १४० भाग २ पृष्ठ १५७ ।

[१६०] उद्धृत 'अरिहन्त' पृ. १३१ । -डॉ. दिव्यप्रभाश्रीजी ।

[१६१] (क) आचारांगसूत्र १५/७३३ ।
(ख) आचारांगसूत्र (मूल, अनुवाद, विवेचन) पृ. ३६२ । -मधुकरमुनि ।
(ग) कल्पसूत्र १७ ।

चरमशरीरी जीव के जन्म को कल्याणक के रूप में नहीं मनाया जाता।

पंचकल्याणक में जन्मकल्याणक का द्वितीय स्थान है। जब सर्वग्रह उच्च स्थिति में हों; शुद्ध निमित्त प्राप्त हुए हों; छत्रादि शुभ जन्म योग आए हों और शुभ लग्न का नवांश हो; तब तीर्थंकर (अरिहन्त) परमात्मा को माताश्री जन्म देती है।[१६२] ये उच्च ग्रह निम्न प्रकार के होते हैं :

"मेष राशि का सूर्य (दशम अंश); वृषभ राशि का चन्द्र (३ अंश); मकर राशि का मंगल (२८ अंश); मीन राशि का शुक्र (२७ अंश); और तुला राशि का शनि (२० अंश)।"

इसी प्रकार राशियों के साथ ग्रहों का उच्च सम्बन्ध होता है।[१६३] तीर्थंकर परमात्मा के जन्म के समय प्राकृतिक वातावरण अद्वितीय, अपूर्व एवं असदृश्य होता है; देव-दुन्दुभि बजती है और वायु अनुकूल होकर दक्षिणावर्त मन्द-मन्द बहती है। शुभ शकुन परिलक्षित होता है। उस समय पंचवर्णी पुष्पों की वृष्टि होती है। अन्य माताओं की तरह तीर्थंकरों की माता को प्रसव-पीड़ा नहीं होती; क्योंकि तीर्थंकरों का यह स्वाभाविक प्रभाव है : "स एव तीर्थनाथानां प्रभावो हि स्वभावजः"।[१६४] जन्म के समय ५६ दिक्कुमारियों का आगमन होता है। पांच अप्सराओं द्वारा प्रभु का परिपालन होता है। अंगुष्ठ में देवों के द्वारा अमृत की स्थापना की जाती है। सौधर्मेन्द्र जब प्रभु को यथास्थान रखते हैं तब देव-दूष्य युगल एवं कुण्डल युगल उपधान (तकिये) के नीचे रखते हैं। सुशोभित श्रीदामकाण्ड नामक कण्दुक उनके पास रखकर वे वहाँ से लौट आते हैं। इन्द्र की आज्ञा से वैश्रमणदेव एवं जम्भृकदेवों के द्वारा ३२ करोड़ हिरण्य; ३१ करोड़ सुवर्ण; ३७ करोड़ रत्न; ३२ करोड़ नन्द नामक वृत्तासन; ३२ करोड़ भद्रासन तथा अन्य विशिष्ट वस्तुओं से तीर्थंकर के भवन को अलंकृत करते हैं। जन्म महोत्सव करके नन्दीश्वर द्वीप में अष्टाह्निका महोत्सव करते हैं।

---

१६२ (क) ज्ञातासूत्र अ. ८;
(ख) कल्पसूत्र ९३;
(ग) आदिनाथ चरित्र पृ. ११७।

१६३ अरिहन्त पृ. १४१। -डॉ. दिव्यप्रभाश्रीजी।

१६४ अजितनाथ चरित्र पर्व २, सर्ग ३, श्लोक १२५।

३. प्रव्रज्याकल्याणक : परम्परानुसार तीर्थंकर परमात्मा की दीक्षा के अवसर के पूर्व ९ लोकान्तिक देव उनसे प्रव्रज्या ग्रहण करने की प्रार्थना करते हैं। वे प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख अर्थात् पूरे एक वर्ष में ३८८ करोड़ ८० लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। उसे सांवत्सरिक महादान कहते हैं। दीक्षा तिथि के अवसर पर देवेन्द्र अपने देवमण्डल के साथ पधारकर उनका अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाते हैं। तीर्थंकर परमात्मा पालकी में बैठकर वनखण्ड की ओर जाते हैं। वहाँ अपने वस्त्राभूषण का त्याग कर और पंचमुष्ठिलोच कर दीक्षित हो जाते हैं। नियम से तीर्थंकर स्वयं सम्बुद्ध होते हैं। उन्हें किसी गुरू की आवश्यकता नहीं होती। वे वस्त्राभूषण का त्याग कर सिद्धों को नमस्कार करके सावद्ययोग के प्रत्याख्यान करते हैं। चारित्र ग्रहण करते समय भन्ते शब्द का वे प्रयोग नहीं करते।[१६५] प्रव्रज्या ग्रहण करते ही उन्हें मनःपर्यवज्ञान हो जाता है।

४. केवल्यकल्याणक : तीर्थंकर परमात्मा अपनी साधना के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। इस अवसर पर स्वर्ग से इन्द्र और देवमण्डल आकर केवलज्ञान महोत्सव मनाते हैं। देवता तीर्थंकर परमात्मा की धर्मसभा के लिए समवसरण की रचना करते हैं।[१६६] तीर्थंकर परमात्मा तब तीर्थ की स्थापना करते हैं। हेमचन्द्राचार्य के अनुसार परमात्मा के गमनागमन के समय देव उनके पादतल के नीचे सुवर्ण कमलों की रचना करते हैं। साथ ही आठ प्रातिहार्यों अर्थात् १. अशोक वृक्ष; २. सुरपुष्पवृष्टि; ३. दिव्य-ध्वनि; ४. चामर; ५. सिंहासन; ६. भामण्डल; ७. दुन्दुभि; और ८. तीन छत्रादि की रचना करते हैं।[१६७]

५. निर्वाणकल्याणक : तीर्थंकर (अरिहन्त परमात्मा) का यह अन्तिम कल्याणक है। तीर्थंकर परमात्मा का निर्वाण अर्थात् जन्म मरण

---

१६५ 'सव्वातित्थगरावि य णं सामाइयं केरमाणा भणंति, करेमि सामाइयं-सव्वसावज्जं जोगं। पच्चक्खामि जाव वासिरामि, भदंति त्ति ण भणंति जीतमिति ।।
-आवश्यकचूर्णि भा.१, पत्र १६१।

१६६ (क) आचारांगसूत्र २/१५/१४०-४२।
(ख) कल्पसूत्र २११।

१६७ 'अरिहन्त' पृ. २०७-०८। -डॉ. दिव्यप्रभाश्रीजी।

की परम्परा के समाप्त होने पर देवों द्वारा उनका दाहसंस्कार कर निर्वाणोत्सव मनाया जाता है। देवगण वहाँ से नन्दीश्वर द्वीप में जाकर अष्टाह्निका महोत्सव मनाते हैं। इस प्रकार जैन परम्परा में तीर्थंकर परमात्मा के उपरोक्त पंच कल्याणक माने गये हैं।

## ५.४.२ तीर्थंकर परमात्मा का निर्दोष व्यक्तित्व

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार तीर्थंकर परमात्मा को निम्न १८ दोषों से रहित माना गया है[१६८] :

| | | |
|---|---|---|
| १. दानान्तराय; | २. लाभान्तराय; | ३. वीर्यान्तराय |
| ४. भोगान्तराय; | ५. उपभोगान्तराय; | ६. मिथ्यात्व; |
| ७. अज्ञान; | ८. अविरति; | ९. कामेच्छा; |
| १०. हास्य; | ११. रति; | १२. अरति; |
| १३. शोक; | १४. भय; | १५. जुगुप्सा; |
| १६. राग; | १७. द्वेष; और | १८. निद्रा। |

कुछ अन्य श्वेताम्बर आचार्यों के अनुसार तीर्थंकर को निम्न १८ दोषों से रहित बताया गया है[१६९] :

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. हिंसा; | २. मृषावाद; | ३. चोरी | ४. कामक्रीड़ा; |
| ५. हास्य; | ६. रति; | ७. अरति; | ८. शोक; |
| ९. भय; | १०. क्रोध; | ११. मान; | १२. माया; |
| १३. लोभ; | १४. मद; | १५. मत्सर; | १६. अज्ञान; |
| १७. निद्रा; और | १८. प्रेम। | | |

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ नियमसार में तीर्थंकर को निम्न १८ दोषों से रहित माना गया है[१७०] :

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. क्षुधा; | २. तृषा; | ३. भय; | ४. रोष (क्रोध); |
| ५. मान; | ६. माया; | ७. लोभ; | ८. मत्सर; |
| ९. अज्ञान; | १०. मृत्यु; | ११. स्वेद; | १२. खेद; |

---

[१६८] 'पंचेव अन्तराया, मिच्छतमनाणामविरइ कामो ।
हासछग रागदोसा, निद्दाऽटठारस इमे दोसा ।।१६२।।' –राजेन्द्र अभिधान कोश पृ. २४८ ।

[१६९] 'हिंसाऽऽइतिगं कीला, हासाऽऽइपंचगं च चउकसाया ।
मयमच्छर अन्नाणा, निद्दा पिम्मं इअ व दोसा ।। १६३ ।।' –वही पृ. २४८ ।

[१७०] 'छुहतण्हभीरुरोसो रागो, मोहो चिंता जरा रूजा मिच्चू ।
सदं खेद मदो रइ विण्हियाणिद्दाजणुव्वेगो ।। ६ ।।' –नियमसार ।

१३. मद; १४. रति; १५. विस्मय; १६. निद्रा;
१७. जन्म; और १८. उद्वेग (अरति)।

**तीर्थंकर बनने की योग्यता :** तीर्थंकर पद की उपलब्धि हेतु जीव को पूर्व जन्मों में विशिष्ट साधना करनी अनिवार्य होती है। जैनदर्शन में इस हेतु जिन विशिष्ट साधनाओं को आवश्यक माना गया है उनकी संख्या को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मतभेद है। दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन हेतु निम्न १६ बातों की साधना को अनिवार्य माना गया है[१७१] :

१. दर्शनविशुद्धि; २. विनयसम्पन्नता; ३. शीलव्रतानतिचार;
४. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग; ५. अभीक्ष्णसंवेग; ६. यथाशक्ति त्याग;
७. यथाशक्ति तप; ८. संघ-साधु समाधिकरण; ९. वैयावृत्त्यकरण;
१०-१३. चतुःभक्ति - अरिहन्त, आचार्य, बहुश्रुत और शास्त्र;
१४. आवश्यकापरिहाणि; १५. मोक्षमार्ग प्रभावना;और १६. प्रवचनवात्सल्य

श्वेताम्बर परम्परा में ज्ञाताधर्मकथा के आधार पर तीर्थंकर परमात्मा के नामकर्म के उपार्जन हेतु निम्न २० बोलों की साधना को अनिवार्य माना गया है[१७२] :

१-७. अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन, गुरू, स्थविर, बहुश्रुत एवं तपस्वी इन सातों के प्रति वात्सल्य भाव रखना;
८. अनवरत ज्ञानाभ्यास करना;
९. जीवादि पदार्थों के प्रति यथार्थ श्रद्धारूप शुद्ध सम्यक्त्व का होना;
१०. गुरुजनों का आदर करना;
११. प्रायश्चित एवं प्रतिक्रमण द्वारा अपने अपराधों की क्षमायाचना करना;
१२. अहिंसादि महाव्रतों का अतिचार रहित योग्य रीति से पालन करना;
१३. पापों की उपेक्षा करते हुए वैराग्यभाव धारण करना;
१४. बाह्य एवं आभ्यन्तर तप करना;
१५. यथाशक्ति त्यागवृत्ति को अपनाना;
१६. साधुजनों की सेवा करना;

---

[१७१] तत्त्वार्थसूत्र, ६/२३, पृ. १६२।
[१७२] ज्ञाताधर्मकथा १/८/१८।

१७. समताभाव रखना;
१८. ज्ञान-शक्ति को निरन्तर बढ़ाते रहना;
१९. आगमों में श्रद्धा करना; और
२०. जिन प्रवचन का प्रकाश करना।

ज्ञातव्य है कि इन सोलह या बीस बोलों में से किसी एक की, कुछ की अथवा सभी की साधना करके जीव तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लेता है।

## ५.५ तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : तुलनात्मक विवेचन

भारतीय धर्मों में परमात्मा की अवधारणा विभिन्न रूपों में मिलती है। हिन्दू परम्परा में उसे ईश्वर या ईश्वर के अवतार के रूप में माना गया है। बौद्ध परम्परा उसे बुद्ध एवं बोधिसत्व के रूप में स्वीकार करती है, तो जैन परम्परा उसे तीर्थंकर, अरिहन्त या सिद्ध के रूप में स्वीकार करती है। यद्यपि इनके स्वरूप को लेकर तीनों परम्पराओं में मतभेद है; फिर भी तीनों परम्पराएँ उन्हें धर्म के संस्थापक के रूप में स्वीकार करती हैं और इसी उद्देश्य को लेकर हिन्दू परम्परा में २४ अवतारों, बौद्ध परम्परा में २४ बुद्धों और जैन परम्परा में २४ तीर्थंकरों की अवधारणाएँ हमें मिलती हैं। २४ अवतार, २४ बुद्ध और २४ तीर्थंकरों की इस अवधारणा का विकास कब और किस रूप में हुआ तथा इसे किसने किससे ग्रहण किया; यह एक विवादात्मक प्रश्न है, क्योंकि प्रत्येक परम्परा की अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं। प्रस्तुत विवेचन में हमारा मुख्य प्रयोजन इन अवधारणाओं का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करना है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि जैन और बौद्ध परम्पराओं में उपास्य के रूप में तीर्थंकर या बुद्ध की अवधारणा मौजूद है। हिन्दू धर्म भी उपास्य के रूप में ईश्वर को स्वीकार करता है। किन्तु जहाँ हिन्दू धर्म ईश्वर को सृष्टि का कर्ता या रचयिता, संरक्षक और संहारक मानता है; वहाँ जैन और बौद्ध - दोनों ही दर्शन ईश्वर को सृष्टि-कर्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। परवर्ती काल में भी जैनाचार्यों ने ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने की अवधारणा का बहुत खण्डन किया है। मात्र यही

नहीं, वे सृष्टि को नित्य प्रवाहरूप पंच-अस्तिकायों से निर्मित मानते हैं। यद्यपि इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं; लेकिन वे परिवर्तन प्रकृति की अपनी योजना के अनुसार ही होते हैं। उसके लिए किसी सृष्टिकर्ता या उसके संरक्षक को मानने की आवश्यकता नहीं है। परिवर्तन जगत् का अपना नियम है। घटनाएँ अपने कारणों के अनुसार घटित होती रहती हैं।

जैनदर्शन में आचार्य हरिभद्र ही एक ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने जैनदर्शन की मान्यताओं को सुरक्षित रखते हुए एक विशिष्ट अर्थ में 'शास्त्रवार्ता-समुच्चय' में ईश्वर के कृतित्व का समर्थन किया है। वे लिखते हैं कि यह आत्मा ही परमात्मा है और आत्मा ही अपने कर्मों के द्वारा अपने संसार की रचना करती है। इस अर्थ में वह सृष्टि-कर्त्ता है। वस्तुतः यहाँ हरिभद्र ने ईश्वर के कृतित्व का नहीं, अपितु आत्मा के कृतित्व का ही समर्थन किया है। मूल में तो बौद्धदर्शन और जैनदर्शन ईश्वर कृतित्व के प्रखर आलोचक रहे हैं। फिर भी तीनों ही परम्पराएँ अवतार, बुद्ध या तीर्थंकर को धर्म-मार्ग का संस्थापक स्वीकार करती हैं। हिन्दू परम्परा में ईश्वर के अवतार लेने का प्रयोजन धर्म की संस्थापना है। यद्यपि यह एक अलग बात है कि हिन्दू परम्परा अवतार का प्रयोजन धर्म की संस्थापना तक ही सीमित नहीं करती है। उसके अनुसार ईश्वर के अवतार का एक अन्य प्रयोजन दुष्टों का विनाश और सज्जनों की सुरक्षा करना है। इस अर्थ में अवतार, तीर्थंकर या बुद्ध की अवधारणा से भिन्न है।

जहाँ तक तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणा के तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न है, दोनों ही यह मानते हैं कि बुद्ध या तीर्थंकर का मुख्य प्रयोजन लोक-मंगल होता है। दोनों ही धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। दोनों ही अवतारवाद से इस अर्थ में भिन्न हैं कि वे लोक-कल्याण या धर्म की संस्थापना के लिए किसी ईश्वर का अवतरण नहीं मानते हैं, अपितु किसी वैयक्तिक आत्मा के आध्यात्मिक विकास के चरम उत्कर्ष को प्राप्तकर जन्म लेने की बात कहते हैं। तीर्थंकर या बुद्ध के रूप मे जो व्यक्ति अपना आध्यात्मिक विकास करता है, वह ऊपर से अवतरित नहीं होता, अपितु कोई चेतना या चेतनधारा ही अपना आध्यात्मिक विकास

करती हुई उस उँचाई तक पहुँचती है। इस प्रकार जैनदर्शन और बौद्धदर्शन दोनों ही अवतारवादी न होकर उतारवादी हैं। निर्वाण प्राप्त तीर्थंकर अथवा बुद्ध पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेते। भावी तीर्थंकर कोई अन्य आत्मा या भावी बुद्ध अन्य चेतनधारा होती है। इस प्रकार तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणा में सामान्यरूप से तो समानता है, किन्तु दोनों में मूलभूत जो अन्तर है वह बौद्ध धर्म के अनात्मवाद की अवधारणा को लेकर है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बौद्धदर्शन के अनात्मवाद का अर्थ *'आत्मा नहीं है'* ऐसा न होकर *'आत्मा नित्य नहीं है'* ऐसा है। बौद्धदर्शन के अनात्मवाद की दो ही स्थापनाएँ हैं। एक तो यह कि संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जिसे अपना अर्थात् आत्मा कहा जा सके। दूसरी यह कि जहाँ जैनदर्शन चित्त तत्त्व अर्थात् आत्मा को परिणामी नित्य मानता है, वहाँ बौद्धदर्शन आत्मा को एक परिवर्तनशील चित्तधारा के रूप में ही स्वीकार करता है। इस प्रकार बौद्धदर्शन में बुद्ध भी एक चित्तधारा ही है।

जैनदर्शन मे अनुसार कोई भव्य आत्मा किसी जन्म में सम्यक्त्व रूपी बोधिबीज को प्राप्त करके अपनी आध्यात्मिक साधना करते हुए जब लोक-मंगल की भावना से आप्लावित होती है, तब वह तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर तीर्थंकर के रूप में जन्म लेती है एवं अन्त में मुक्ति को प्राप्त करके सिद्ध बन जाती है। उसका पुनः पुनर्जन्म नहीं होता है। बौद्ध धर्म के अनुसार भी कोई व्यक्ति या चित्तधारा बोधिबीज को प्राप्त होकर बोधि शब्द के रूप में विकास करते हुए विभिन्न जन्मों में पारमिताओं की साधना करते हुए बुद्धत्व को और अन्त में निर्वाण को प्राप्त होती है। किन्तु बौद्ध धर्म की भाषा में यह नहीं कहा जा सकता कि जिस चित्त (आत्मा) ने बोधिसत्व का उत्पाद् किया था, उसी चित्त ने परिनिर्वाण को प्राप्त किया। बौद्धदर्शन के अनुसार यदि कहना हो तो हम केवल इतना ही कहेंगे कि जिस चित्त में बोधिसत्व का उत्पाद हुआ था उसी चित्त की सन्तति ने निर्वाण को प्राप्त किया; क्योंकि कोई भी चित्त नित्य नहीं है। जो परिणमन प्राप्त होते हैं, वे चित्त-सन्तति के होते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर या बुद्ध की अवधारणा में बहुत कुछ समानता होते हुए भी आत्मा की नित्यता

को लेकर कुछ अन्तर भी है। यहाँ भी ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में तीर्थंकर के लिए बुद्ध शब्द का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। इसी कारण परमात्मा के लिए अर्हत् शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध परम्परा में समान रूप से हुआ है।

दोनों की समानता व असमानता की इस सामान्य चर्चा के पश्चात् हम डॉ. रमेशचन्द्र गुप्ता की पुस्तक 'तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार' के आधार पर दोनों की कुछ विशिष्टताओं और अन्तर की चर्चा करेंगे।[१७३]

## तीर्थंकर एवं बुद्ध की अन्य समानताएँ

१. जहाँ अन्धक और उत्तरापथक बौद्धों का मानना है कि परमात्मा के उच्चार प्रश्राव की गन्ध अन्य गन्धों से विशिष्ट होती है; वहाँ जैन परम्परा भी यह स्वीकार करती है कि तीर्थंकर परमात्मा का उच्चार प्रश्राव विशिष्ट गन्ध से युक्त होता है।
२. 'कथावस्तु' के १८वें वर्ग में बताया है कि बुद्ध एक शब्द भी नहीं बोले। इसी मत के कारण वे लोकोत्तरवादी कहे जाते हैं। जैनियों के दिगम्बर सम्प्रदाय का भी यह मानना है कि तीर्थंकर परमात्मा केवल्य की उपलब्धि के पश्चात् कुछ भी नहीं बोलते। प्रभु के शरीर से एक विशिष्ट ध्वनि निःसृत होती है। समवसरण में सभी प्राणी उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं।
३. बौद्धों का मानना है कि चरमभविक बोधिसत्व तुषित देवलोक से बुद्ध होने के लिए मनुष्यलोक में अवतीर्ण होता है। जैनियों का यह मानना है कि जिस भव्य आत्मा ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया हो, वह देवलोक से मनुष्यलोक में अवतीर्ण होती है। किन्तु जैन परम्परा का यह भी मानना है कि तीर्थंकर नरक से भी मनुष्यलोक में जन्म ले सकते हैं।
४. बौद्ध धर्म की मान्यता है कि भावी बुद्ध पूर्व बुद्ध के सन्मुख यह निश्चय करता है कि "मैं बुद्ध होऊँगा।" पश्चात् वह आत्मा अन्य जन्मों में दस पारमिताओं की साधना करती हुई

---

[१७३] 'तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा : तुलनात्मक अध्ययन' पृ. २५५-५८।
-डॉ. रमेशचन्द्र गुप्ता।

अन्त में बुद्ध के रूप में जन्म ग्रहण करती है। जैन धर्म के अनुसार यहाँ कुछ भिन्नता मिलती है। भविष्य में तीर्थंकर होने वाली आत्मा सर्वप्रथम किसी तीर्थंकर या प्रबुद्धाचार्य आदि से प्रतिबोधित होकर सम्यक्त्व की प्राप्ति करके अनेक जन्मों में तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन हेतु १६ या २० बोलों की साधना करती हुई अन्त में तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर उसके तीसरे जन्म में तीर्थंकर के रूप में जन्म लेती है।

५. बुद्ध और तीर्थंकर में सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कुछ विशिष्ट लक्षणों की कल्पना दोनों ही परम्पराओं में की गई है। दीर्घनिकाय के अनुसार बोधिसत्व जब तुषित देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में आता है तब समस्त लोक में विशिष्ट प्रकाश होता है एवं मनुष्यों के मन के हिंसा के भाव लुप्त हो जाते हैं। जैनदर्शन के अनुसार तीर्थंकर का जब जन्म होता है तब समस्त विश्व में प्रकाश होता है – नरक में भी क्षणभर के लिए वह अलौकिक प्रकाश होता है और वहाँ भी क्षणभर के लिए शान्ति का अनुभव होता है।

६. बौद्धों के 'पालि-त्रिपिटक' में बुद्ध के गर्भावक्रान्ति, सम्यक्सम्बोधि और निर्वाणकाल को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। जैनदर्शन में तीर्थंकर परमात्मा की गर्भावक्रान्ति, जन्म, दीक्षा, कैवल्य प्राप्ति और परिनिर्वाण को कल्याणक के रूप में स्वीकार किया गया है।

७. बौद्ध 'पालीनिकाय' की अपेक्षा से बुद्ध जाग्रत दशा में ही माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं, किन्तु जैनदर्शन के अनुसार तीर्थंकर परमात्मा जब देवलोक से च्यव कर माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं, तब अवधिज्ञान से यह जानते हैं कि मैंने देवलोक से च्यव कर माता के गर्भ में प्रवेश किया है – यद्यपि च्यवनकाल सूक्ष्म होने से वे उसे नहीं जान पाते हैं। ये दोनों परम्पराएँ मानती हैं कि बुद्ध और तीर्थंकर अपने गर्भकाल एवं जन्म के समय विशिष्ट ज्ञान से युक्त होते हैं।

८. बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध की माता बुद्ध के गर्भ में प्रवेश होने पर स्वप्नावस्था में श्वेत हस्ति को अपनी कुक्षि में प्रवेश करते हुए देखती है। वैसे ही जैनदर्शन की अपेक्षा से तीर्थंकर की माता हस्ति, सिंह, वृषभ आदि १४ या १६ स्वप्न देखती हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि सिंह आदि स्वर्ग से उतरकर उसके मुँह में प्रवेश कर रहे हैं।

९. जैन और बौद्ध, दोनों ही परम्पराएँ यह स्वीकार करती हैं कि गर्भकाल के समय भगवान की माता को कष्ट न हो, इसलिए देवगण उनकी रक्षा करते हैं। दोनों की माताएँ सदाचारी और शीलवान होती हैं।
१०. दोनों परम्पराओं का मानना है कि बुद्ध एवं तीर्थंकर गर्भावास में जब माता की कुक्षि में निवास करते हैं, तब वहाँ श्लेष्णा, रूधिर आदि गन्दगियों का अभाव हो जाता है।
११. तीर्थंकर और बुद्ध की गर्भक्रान्ति के पश्चात् उनके परिवार में धन-धान्य की अभिवृद्धि होती है।
१२. बुद्ध के विषय में यह मान्यता है कि जब वे कुक्षि से बाहर आते हैं तो पृथ्वी पर आने से पूर्व उन्हें देवपुत्र ले लेते हैं। दो उदक धाराएँ उनकी माँ का अभिषेक करती हैं। जैन परम्परा का मानना है कि तीर्थंकर के जन्म होने पर इन्द्र एवं देवगण उन्हें मेरूपर्वत पर ले जाकर अभिषेक करते हुए महोत्सव मनाते हैं।

## ५.६ तीर्थंकर एवं बुद्ध का अन्तर

मान्यताओं में उपरोक्त समानताएँ होने पर भी निम्न कुछ महत्वपूर्ण अन्तर भी हैं :

१. बौद्ध परम्परा के अनुसार बोधिसत्व का जन्म होने पर उनकी माता सातवें दिन स्वर्गवासी हो जाती है ।
२. बौद्ध परम्परा में बोधिसत्व की माता खड़े-खड़े प्रसव करती है।
३. बौद्ध परम्परा में बोधिसत्व अपने जन्म के साथ ही सात कदम उत्तर दिशा की ओर चलता है और लोक में श्रेष्ठता का उद्घोष करता है।

*उपरोक्त तीनों ही बातें जैन परम्परा में स्वीकार नहीं की गई हैं।*

४. जैन परम्परा में तीर्थंकर के अभिनिष्क्रमण के पूर्व ९ लोकान्तिकदेव उन्हें प्रव्रज्या के लिए प्रार्थना करते हैं। बौद्ध मान्यतानुसार बुद्ध की प्रव्रज्या के समय नहीं अपितु अर्हत् बनने के पश्चात् महाब्रह्मा लोक-मंगल के लिए धर्म-चक्र प्रवर्तन हेतु प्रार्थना करते हैं।
५. बौद्ध परम्परा में बुद्ध के सशरीर तुषित देवलोक और शुद्धावास देवलोक में जाने का उल्लेख है। ऐसी मान्यता

जैन परम्परा में नहीं है। तीर्थंकर के प्रवचन में देव स्वर्ग से आते हैं और समवसरण की रचना करते हैं।

६. बौद्ध परम्परानुसार तीर्थिकों के आग्रह पर बुद्ध द्वारा स्वयं प्रातिहार्य दिखाने की चर्चा उपलब्ध होती है। जैन परम्परा में स्वयं तीर्थंकर द्वारा किसी प्रातिहार्य के दिखाने का विवेचन प्राप्त नहीं होता। किन्तु बौद्ध परम्परा में ऐसा भी बताया गया है कि भिक्षु के लिए चमत्कार का निषेध है। जैन परम्परा की मान्यता है कि तीर्थंकर परमात्मा की महत्ता को स्थापित करने के लिए देवगण प्रातिहार्य की रचना करते हैं।

## ५.७ तीर्थंकर एवं अवतार की समानता

*तीर्थंकर एवं अवतार में निम्न समानताएँ हैं :*

१. जैन धर्म ने तीर्थंकर को अवतार के समान ही स्वीकार किया है। जैनों ने तीर्थंकर को देवाधिदेव वीतराग परमात्मा के रूप में स्वीकार किया है।[१७४]

२. जैन परम्परा में जिन सहस्रनाम के रूप में तीर्थंकर के सहस्र नामों का उल्लेख है, वह विष्णु के सहस्रनाम के समान ही है। पुष्पदन्त के महापुराण में तीर्थंकर को अनेक स्थलों पर विष्णु नाम से सम्बोधित किया गया है। महापुराण में ऋषभ को आदि वराहरूप में पृथ्वी का उद्धारक बताया गया है।[१७५]

३. तीर्थंकर और अवतार दोनों ही धर्म के संस्थापक कहे गए हैं। हम इस सम्बन्ध में पूर्व में विस्तृत चर्चा कर चुके हैं जिसके अनुसार दोनों के प्रयोजन समान हैं।[१७६]

४. अवतार के समान तीर्थंकर को भी सर्वज्ञ एवं अनन्त शक्ति-सम्पन्न माना गया है। जैन कथा साहित्य में ऐसा उल्लेख है कि तीर्थंकर अरिष्टनेमि ने कृष्ण के शंख को बजा दिया था और द्वन्द युद्ध में कृष्ण उन्हें पराजित नहीं कर सके।[१७७]

---

१७४ परमात्मप्रकाश पृ. १०२ ।

१७५ 'आइवराह उद्धरिय खोणि' -महापुराण १-१०, ५-१० ।

१७६ भागवत ५/३/२०; ५/६, १२ ।

१७७ तिलोयपन्नति ४/६२८ ।

## ५.८ तीर्थंकर और अवतार में अन्तर

*तीर्थंकर और अवतार में निम्नानुसार अन्तर है :*

१. जैन धर्म में तीर्थंकर की अवधारणा वैष्णव परम्परा के अवतार की अवधारणा से कुछ भिन्न प्रतीत होती है। वैष्णव अवतारवाद में परमात्मा स्वयं अवतार लेते हैं, जबकि जैन परम्परा में कोई भी तीर्थंकर पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता है।

२. तीर्थंकर का पद विशेष साधना के बाद कोई आत्मा उपलब्ध करती है, किन्तु अवतार के रूप में जन्म लेने के लिए ईश्वर को कोई साधना नहीं करनी होती। मात्र सृष्टि की परिस्थिति और अवतार ग्रहण करने की इच्छा से वह अवतार के रूप में अवतरित होता है। इस प्रकार तीर्थंकर पद साधनाजन्य है - अवतार इच्छाजन्य है।[१७८]

३. बार-बार अवतार के रूप में जिसका अवतरण होता है, वह एक ही आत्मा है अर्थात् परमात्मा है; जबकि प्रत्येक तीर्थंकर भिन्न आत्मा होती है।

४. अवतार का प्रयोजन धर्म की संस्थापना तक ही सीमित नहीं होता है। उसका एक अन्य प्रयोजन दुष्टों का विनाश और सज्जनों की सुरक्षा भी है, जबकि तीर्थंकर न तो दुष्टों का विनाश करते हैं और न ही सज्जनों की सुरक्षा का आश्वासन देते हैं।

५. दुष्टों के विनाश के लिए अवतार अनेक प्रकार के छल छद्म भी करते हैं किन्तु तीर्थंकर सहज रूप से धर्म मार्ग का उपदेशक होता है। उसके जीवन में छल छद्म का अभाव होता है।

६. अवतारवाद में परम सत्ता ऊपर से नीचे की ओर आती है; जबकि तीर्थंकर की अवधारणा में कोई एक जीवात्मा अपने आध्यात्मिक विकास द्वारा ऊपर उठती हुई परमात्मपद को प्राप्त करती है। संक्षेप में अवतारवाद अवतरण का सिद्धान्त है जबकि तीर्थंकर की अवधारणा उत्तरण का सिद्धान्त है।

७. तीर्थंकर की अवधारणा पुरुषार्थवाद के सिद्धान्त पर आधारित है; जबकि अवतार की अवधारणा ईश्वरीय इच्छा का परिणाम

---

१७८ (क) परमात्मप्रकाश पृ. १०२;
(ख) प्रवचनसार मू. ६२-६३।

है। उसमें किसी सीमा तक नियतिवाद का तत्त्व छिपा हुआ है; क्योंकि वह प्रभु-इच्छा को सर्वोपरि मानता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू, बौद्ध और जैन परम्पराओं में परमात्मा की अवधारणा उपस्थित होते हुए भी सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दृष्टि से उनमें कुछ मूलभूत अन्तर है।

## ५.६ सिद्धों का स्वरूप

जैनदर्शन में जीवन का परम साध्य सिद्धत्व को प्राप्त करना है। जब आत्मा सर्व बहिर्भावों का परित्याग करके अन्तरात्मा भावपूर्वक परमात्मदशा को उपलब्ध कर लेती है, तो वह सिद्ध या मुक्त कहलाती है। जब साधक अपने चरम साध्य की सिद्धि कर लेता है, तब उसकी आत्मा परमात्मा या सिद्धस्वरूप को प्राप्त कर लेती है। सिद्धावस्था समस्तकर्मों के क्षय का परिणाम है; जहाँ सहज ही आत्मा के मूल गुणों का प्रकटन हो जाता है।[१७९] जिनके अष्टकर्म क्षय हो गए हों, जो सर्व दोषों से मुक्त हो गए हों, जो सर्व गुणों से सम्पन्न हों, ऐसी सभी आत्माएँ सिद्ध परमात्मा की कोटि में आती हैं।[१८०] जिस प्रकार बीज के जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही कर्मबीज के दग्ध होने पर जन्म, जरा, मृत्यु का अभाव हो जाता है।[१८१] जीव, अजीव आदि नवतत्वों में मोक्ष अन्तिम तत्व है। मोक्ष तत्व जीव का चरम और परम लक्ष्य है। जिस आत्मा ने अपने समस्त कर्मों को क्षय कर अव्याबाध सुख को प्राप्त कर लिया है और कर्मबन्धन से मुक्ति हो गई है; जिन्होंने केवलज्ञान की सम्पदा को उपलब्ध कर ली है; जिनके जन्म-मृत्यु रूप महान् दुःखों के चक्र की गति रूक गई; जिन्होंने सदा सर्वदा के लिये मुक्तावस्था अर्थात् सत्-चित्-आनन्दमय शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि कर ली है[१८२] वे सिद्ध कहे जाते हैं।

जब वासना का समग्रतः क्षय हो जाता है, अनात्मा में

---

१७९ 'सचित्र णमोकर महामंत्र' परिशिष्ट पृ. १८, १९। -सम्पादक श्रीचन्द सुराणा, आगरा।

१८० पंच परमेष्ठि नमस्कार महामंत्र याने जैन धर्मनुं स्वरूप पृ. ४१।

१८१ धर्मश्रद्धा पृ. ८८।

१८२ पच्चक्खाण क्यों और कैसे? पृ. ११।

आत्मबुद्धि एवं आत्मा में अनात्मबुद्धि रूप अज्ञानता समाप्त हो जाती है, तब मोक्ष या सिद्धावस्था उपलब्ध होती है।[१८३]

आचारांगसूत्र के अनुसार सिद्धों का स्वरूप :

आचारांगसूत्र में सिद्धात्मा के स्वरूप का संक्षिप्त विवरण उपलब्ध होता है। उसमें बताया गया है कि मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ श्रमण, गति-अगति रूप भवभ्रमण के चक्र को समाप्त कर सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है।[१८४]

सिद्ध का स्वरूप : औपपातिकसूत्र में सिद्ध के स्वरूप का विवेचन करते हुए बताया गया है कि सिद्ध परमात्मा लोक के अग्र भाग में शाश्वत्काल तक अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित रहते हैं। सिद्धात्मा आदि अनन्त है; क्योंकि सिद्धावस्था काल विशेष पर उपलब्ध होती है, अतः उसका आदि या प्रारम्भ है किन्तु उस अवस्था का अन्त नहीं होता है - अतः वह अनन्त है।

सिद्ध परमात्मा सघन अवगाढ-आत्मप्रदेश से युक्त होते हैं। वे अनन्त ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न होते हैं। वे कृत्य-कृत्य हैं क्योंकि जिन्होंने अपने सम्पूर्ण प्रयोजन सिद्ध कर लिये हैं। वे अचल या निश्छल होते हैं। अष्टकर्मों का क्षय हो जाने से वे सिद्ध परमात्मा अत्यन्त विशुद्ध होते हैं। वे ज्ञान-दर्शन रूप पर्यायों की अपेक्षा से उत्पाद्-व्यय युक्त भी हैं।[१८५]

उत्तराध्ययनसूत्र की अपेक्षा से सिद्ध परमात्मा सम्पूर्ण कर्ममल से रहित होते हैं।[१८६] जिन जीवों ने मोक्ष की प्राप्ति कर ली है; वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्व दुःखों से रहित, निसंग, निरंजन, निराकार, परब्रह्म, परम ज्योति, शुद्धात्मा और परमात्म ज्योतिस्वरूप हैं।[१८७]

---

१८३ अभिधानचिन्तामणि पृ. १३६ ।

१८४ आचारांगसूत्र प्रथम प्रथम श्रुतस्कंध, पंचम ६, सूत्र १७६ ।

१८५ (क) औपपातिकसूत्र, सूत्र १२४ पृ. १७३ ।
(ख) बृहद्द्रव्य संग्रह १४ ।

१८६ 'सिद्धे हवइ नीरए' उत्तराध्ययनसूत्र १८/५४ ।

१८७ (क) उत्तराध्ययनसूत्र ६/५८ ।
(ख) वही २८/३६ ।
(ग) वही २९/६ ।

वे अव्याबाध सुख के स्वामी हैं।

जैनदर्शन में स्वरूप की दृष्टि से सभी सिद्ध आत्माएँ एक समान होती हैं, किन्तु सिद्धावस्था में प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता एवं वैयक्तिक सत्ता बनी रहती है। इस अपेक्षा से सिद्ध परमात्मा अक्षय या अनन्त अस्तित्व वाले भी कहे जाते हैं।

आचारांगसूत्र में सिद्धों के स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से हुआ है :

अभावात्मक दृष्टिकोण : सिद्धावस्था में समस्त कर्मों का क्षय होने से मुक्तात्मा में समस्त कर्मजन्य उपाधियों का भी अभाव होता है। अतः मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्ताकार है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमण्डल संस्थान वाला है। वह कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत वर्ण वाला भी नहीं हैं। वह सुगन्ध और दुर्गन्ध वाला भी नहीं है। न तीक्ष्ण, कटुक, खट्टा, मीठा एवं अम्ल रस वाला है। उसमें गुरू, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रूक्ष, शीत एवं उष्णादि स्पर्श-गुणों का भी अभाव है। वह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है।

अनिर्वचीय दृष्टिकोण : आचारांगसूत्र में सिद्धों के अनिर्वचनीय स्वरूप का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है। समस्त स्वर वहाँ से लौट आते हैं अर्थात् ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का वह विषय नहीं है। वाणी उसका निर्वचन करने में कदापि समर्थ नहीं हैं। वहाँ वाणी मूक हो जाती है। तर्क की वहाँ तक पहुंच नहीं है। बुद्धि उसे ग्रहण करने में असमर्थ है अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी उपमा के द्वारा भी उसे समझाया नहीं जा सकता। वह अनुपम है, अरूपी है और सत्तावान है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।[१८८]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आचारांगसूत्र उन्हें अनिर्वचनीय कहकर

---

[१८८] (क) 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४२२-२३। -डॉ. सागरमल जैन।
(ख) आचारांगसूत्र १/५/६/१७१ (तुलना कीजिये- तैतरीय २/९, मुण्डक ३/१/८)।

भी उनके अस्तित्व अर्थात् सत्ता को स्वीकार कर उन्हें भावात्मक भी स्वीकार करता है। यह भी ज्ञातव्य है कि आचारांगसूत्र का यह विवरण परवर्ती जैनदर्शन के विवरण की अपेक्षा आत्मा के औपनिषदिक विवरण के अधिक निकट है।

## ५.१० सिद्ध परमात्मा के ३१ गुण

उत्तराध्ययनसूत्र के ३१वें अध्ययन में सिद्ध परमात्मा के ३१ गुण बताये गए हैं, किन्तु वहाँ उनके नामों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार भावविजयजी एवं नेमिचन्द्राचार्य ने सिद्ध परमात्मा के निम्न ३१ गुणों का उल्लेख किया है[१८९] :

५ संस्थानाभाव, ५ वर्णाभाव, २ गन्धाभाव, ५ रसाभाव, ८ स्पर्शाभाव, ३ वेदाभाव, अकायत्व, असंगत्व और अजन्मत्व। लक्ष्मीवल्लभ गणिवर ने भी पाँच संस्थानाभावादि इन्हीं ३१ गुणों का विवेचन किया है।[१९०] अन्य कुछ आचार्य ज्ञानावरणीय कर्म की ५, दर्शनावरणीय कर्म की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २, आयुष्यकर्म की ४, गोत्रकर्म की २, नामकर्म की २ तथा अन्तराय कर्म की ५ - इस प्रकार कुल ३१ कर्मप्रवृत्तियों के अभाव रूप सिद्धों के ३१ गुणों का ही उल्लेख करते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में मूलतः नामकर्म की दो प्रकृतियों का ही विवरण प्राप्त होता है। इस प्रकार उसमें आठ कर्मों की कुल ३१ उत्तर प्रवृत्तियाँ ही वर्णित हैं। अतः उनके अभाव से आत्मा में जिन ३१ गुणों की अभिव्यक्ति होती है, वे सिद्ध परमात्मा के ३१ गुण है। वस्तुतः तो आत्मा में अनन्त गुण हैं, किन्तु आठ मूल कर्म प्रकृतियों के क्षय की अपेक्षा से ३१ गुण माने गये हैं।[१९१]

### सिद्ध परमात्मा के अष्टगुण :

अष्टकर्मों के क्षय के आधार पर सिद्ध परमात्मा के निम्न

---

[१८९] उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३०२६ ।

[१९०] उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३०५३ ।

[१९१] उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिपेक्ष्य में उसका महत्त्व'पृ. १८५ ।
-साध्वी. डॉ. विनितप्रभाश्री ।

अष्टगुण माने गये है :

१. **अनन्तज्ञान** : ज्ञानावरणीयकर्म के सर्वथा नष्ट हो जाने से केवलज्ञान उपलब्ध होता है, इससे वे सर्वलोकालोक का स्वरूप जानते हैं।

२. **अनन्तदर्शन** : दर्शनावरणीयकर्म के सर्वथा नष्ट हो जाने से केवलदर्शन प्रकट होता है, वे लोकालोक के स्वरूप को देखते हैं।

३. **अव्याबाधसुख** : वेदनीयकर्म के क्षय हो जाने से वे विशुद्ध अनश्वर आध्यात्मिक सुखों से युक्त होते हैं।

४. **अनन्तचारित्र** : मोहनीयकर्म के नष्ट हो जाने से वे क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक चारित्र से युक्त होते हैं। मोहनीयकर्म के दर्शनमोह और चारित्रमोह – ऐसे दो भेद किये गए हैं। दर्शनमोह के प्राहण से यथार्थदृष्टि और चारित्रमोह के क्षय से यथार्थचारित्र (क्षायिकचारित्र) प्रकट होता है। लेकिन मोक्षदशा में क्रिया रूप चारित्र नहीं होता, मात्र दृष्टि रूप चारित्र होता है। अतः उसे क्षायिक सम्यक्त्व के अन्तर्गत् ही माना जा सकता है। यद्यपि आठ कर्मों की ३१ प्रकृतियों के क्षय होने के आधार पर सिद्धों के ३१ गुण माने गये हैं, उनमें यथाख्यात चारित्र को स्वतन्त्र गुण माना गया है।

५. **अक्षयस्थिति** : आयुकर्म के क्षय हो जाने से वे मुक्तात्मा अक्षय पद को प्राप्त होती है।

६. **अरूपीपन** : वे नामकर्म के क्षय होने से वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श से रहित अशरीरी होते हैं, क्योंकि शरीर हो तभी वर्णादि होते हैं। सिद्ध के शरीर नहीं है इसलिये वे अरूपी होते हैं।

७. **अगुरुलघु** : गौत्रकर्म के नष्ट हो जाने से वे अगुरूलघु होते हैं। सभी सिद्ध समान होते हैं, उनमें छोटे-बड़े या ऊंच-नीच का भेद नहीं होता।

८. **अनन्तवीर्य** : अन्तरायकर्म का क्षय होने से उन्हें अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्तउपभोग तथा अनन्तवीर्य प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न होती है। लेकिन इन आठ कर्मों के प्रहाण के आधार से सिद्धात्मा के अष्टगुणों की चर्चा मात्र एक व्यावहारिक संकल्पना ही है। यह सिद्धात्मा के वास्तविक स्वरूप की विवेचना नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से उसे समझने का प्रयास मात्र है। वास्तव में आत्मा का स्वरूप

अनिर्वचनीय है।[१९२] आचार्य नेमिचन्द्र का कहना है कि सिद्धों के इन अष्टगुणों का विधान केवल सिद्धों के स्वरूप के सम्बन्ध से जो एकान्तिक मान्यताएँ हैं, उनके निषेध के लिये है।[१९३] सिद्धात्मा में केवलज्ञान, केवलदर्शन रूप में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग को स्वीकार करके उन्होंने सिद्धात्मा को जडत्र माननेवाले वैभाषिक, बौद्धों और न्याय-वैशेषिकों की धारणा का प्रतिषेध किया है। इस प्रकार सिद्धात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर मोक्ष को अभावात्मक रूप में मानने वाले चार्वाक एवं सौत्रान्तिक बौद्धों की मान्यता का निरसन किया है। इस प्रकार सिद्धों के गुणों का यह विधान भी निषेध के लिये है।[१९४]

## ५.११ सिद्ध परमात्मा के पन्द्रह भेद :

सिद्ध परमात्मा की आत्मा स्वस्वरूप एवं लक्षण की अपेक्षा से तो एक ही प्रकार की है। उनमें कोई भेद नहीं होता, किन्तु जिस पर्याय से वे आत्माएँ सिद्ध होती हैं, उस पूर्वपर्याय की अपेक्षा से उनके भेद किये गये हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में सिद्ध परमात्मा के छः भेद प्राप्त होते हैं।[१९५] यह विभाजन इसमें लिंग एवं वेश के आधार पर किया गया है :

१. स्त्रीलिंगसिद्ध; २. पुरुषलिंगसिद्ध; ३. नपुंसकलिंगसिद्ध;
४. स्वलिंगसिद्ध; ५. अन्यलिंगसिद्ध; और ६. गृहलिंगसिद्ध।

प्रज्ञापना, नन्दीसूत्र एवं नवतत्वप्रकरणादि परवर्ती ग्रन्थों में सिद्धों के १५ भेद प्राप्त होते हैं।[१९६] उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार

---

[१९२] (क) 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १, पृ. ४२१। -डॉ. सागरमल जैन।
(ख) राईदेवसीय प्रतिक्रमण सूत्र (भावार्थ सहित विवेचन)।

[१९३] गोम्मटसार-जीवकाण्ड ६९।

[१९४] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १, पृ. ४२१। -डॉ. सागरमल जैन।

[१९५] 'इत्थी पुरिससिद्धा य तहेवय य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ॥ ४९ ॥' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३६।

[१९६] (क) प्रज्ञापनासूत्र १/१२।
(ख) नन्दीसूत्र ३१।
(ग) नवतत्व प्रकरण गा. ५५ एवं ५६।

लक्ष्मीवल्लभगणि ने भी सिद्धों के १५ भेदों का वर्णन किया है।[१९७] सिद्ध परमात्मा के १५ भेद निम्न प्रकार से हैं :

| | | |
|---|---|---|
| १ जिनसिद्ध; | २. अजिनसिद्ध; | ३. तीर्थसिद्ध; |
| ४. अतीर्थसिद्ध; | ५. गृहस्थलिंगसिद्ध; | ६. अन्यलिंगसिद्ध; |
| ७. स्वलिंगसिद्ध; | ८. स्त्रीलिंगसिद्ध; | ९. पुरुषलिंगसिद्ध; |
| १०. नपुंसकलिंगसिद्ध; | ११. प्रत्येकबुद्धसिद्ध; | १२. स्वयंबुद्धसिद्ध; |
| १३. बुद्धबोधितसिद्ध; | १४. एकसिद्ध; और | १५. अनेकसिद्ध। |

## सिद्धों के भेद के सन्दर्भ में श्वेताम्बर एवं दिगम्बरों का मतभेद

हम पूर्व में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि स्वरूप की अपेक्षा से सिद्धों में किसी भी प्रकार का भेद करना सम्भव नहीं है। सिद्धों में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में जो भेद किये जाते हैं, वे उपचार से किये जाते हैं। इन भेदों का मूलभूत आधार सिद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व की अवस्था ही होती है। सिद्धत्व को प्राप्त करने के पूर्व की अवस्था में व्यक्ति किस पर्याय आदि में था इसे लेकर ही भेद किये जाते हैं। सिद्धों में पूर्व पर्याय की अपेक्षा से जो भेद किये जाते हैं, उनको लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में किंचित् मतभेद देखा जाता है। सर्वप्रथम श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में इस बात को लेकर यह मतभेद है कि स्त्री पर्याय से तद्भव में मुक्ति होती है या नहीं होती है। श्वेताम्बर परम्परा यह मानती है कि स्त्री पर्याय से तद्भव में मुक्ति सम्भव है, जबकि दिगम्बर परम्परा स्पष्ट रूप से इसका विरोध करती है। उसके अनुसार स्त्री पूर्ण परिग्रह का त्याग करने में समर्थ नहीं है। वह अचेल नहीं हो सकती, अतः स्त्री की तद्भव मुक्ति सम्भव नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग सिद्ध की जो मान्यताएँ हैं वे दिगम्बर परम्परा को स्वीकार नहीं है। उनके अनुसार मुक्ति केवल पुरुष पर्याय से ही है। इस प्रकार वे स्त्रीलिंग सिद्ध और नपुंसकलिंग - इन दो भेदों को स्वीकार नहीं करते। यद्यपि वे ये मानते हैं कि स्त्री अथवा नपुंसक अगले जन्म में पुरुष पर्याय को प्राप्त कर सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु उनकी तद्भव में मुक्ति सम्भव नहीं है।

---

[१९७] उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३३५७।

सिद्धों के भेद को लेकर दूसरा मतभेद गृहस्थलिंग और अन्यलिंग सिद्ध को लेकर है। श्वेताम्बर परम्परा यह मानती है कि कोई व्यक्ति गृहस्थ जीवन अथवा अन्य परम्पराओं में गृहीत संन्यस्त जीवन से भी तद्भव में मुक्त हो सकता है। इसके लिये उन्होंने स्वलिंग और गृहस्थलिंग सिद्ध ऐसे सिद्धों के दो भेद स्वीकार किये हैं, किन्तु दिगम्बर परम्परा की यह मान्यता है कि सिद्धि केवल निर्ग्रन्थ लिंग से ही सम्भव है। इस प्रकार सिद्धों के भेद को लेकर दिगम्बर परम्परा स्त्रीलिंगसिद्ध, नपुंसकलिंगसिद्ध, गृहस्थलिंगसिद्ध और अन्यलिंग सिद्ध इन चार भेदों को स्वीकार नहीं करती है। उनके अनुसार पुरुष पर्याय में केवल निर्ग्रन्थ से ही मुक्ति है - स्त्री पर्याय, नपुंसक पर्याय, गृहस्थ लिंग और अन्य लिंग से मुक्ति सम्भव नहीं है। अतः सिद्धों के उक्त चारों भेद दिगम्बर परम्परा को मान्य नहीं हैं।

।। पंचम अध्याय समाप्त ।।

# लेश्या सिद्धान्त

1– कृष्ण लेशी, 2– नील लेशी, 3– कापोत लेशी
4– तेजो लेशी, 5– पद्म लेशी, 6– शुक्ल लेशी

अध्याय ६

# त्रिविध आत्मा की अवधारणा एवं आध्यात्मिक विकास की अन्य अवधारणाएँ

## ६.१ लेश्या सिद्धान्त

त्रिविध आत्मा की अवधारणा वस्तुतः आत्मा के आध्यात्मिक विकास को ही सूचित करती है। उसमें आत्मा अपनी बहिर्मुखता को त्यागकर और अन्तर्मुख होकर कैसे परमात्मस्वरूप को उपलब्ध होती है, इसकी भी चर्चा है।

जैनदर्शन में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की इस चर्चा को अनेक दृष्टियों से समझाया गया है। वस्तुतः उनमें षड्लेश्या की अवधारणा, कर्म विशुद्धि के रूप में १० विशुद्धियों की अवधारणा और १४ गुणस्थानों की अवधारणा प्रमुख हैं। यहाँ हम सर्वप्रथम षड्लेश्या की अवधारणा के सम्बन्ध में संक्षिप्त चर्चा करेंगे। लेश्या प्राणी के भावजगत के अशुभ से शुभ की ओर होनेवाले विकास को सूचित करती है। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से षड्लेश्याओं को निम्न क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है।

१. अशुभतम मनोवृत्ति - कृष्णलेश्या;
२. अशुभतर मनोवृत्ति - नीललेश्या;
३. अशुभ मनोवृत्ति - कापोतलेश्या;
४. शुभ मनोवृत्ति - तेजोलेश्या;
५. शुभतर मनोवृत्ति - पद्मलेश्या; और
६. शुभतम मनोवृत्ति - शुक्ललेश्या

इस प्रकार षड्लेश्याएँ व्यक्ति के शुभ-अशुभ की ओर आध्यात्मिक विकास को ही सूचित करती हैं। लेश्या का सिद्धान्त

मूलतः अशुभतम अवस्था से शुभतम अवस्था की ओर आत्मा की विकास यात्रा कैसे होती है, इसी का विवेचन प्रस्तुत करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में इन षड्लेश्याओं में व्यक्ति की मनोभूमिका किस प्रकार की होती है, इसकी चर्चा उपलब्ध होती है।[1] इस सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन[2] ने अपने शोध-प्रबन्ध 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' एवं मुमुक्षु शान्ता जैन[3] ने लेश्या सम्बन्धी अपने शोध प्रबन्ध में अति विस्तार से चर्चा की है। यहाँ उस समग्र चर्चा की गहराई में जाना तो सम्भव नहीं है, किन्तु नैतिक और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से इन षड्लेश्याओं की क्या स्थिति है, इसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

## लेश्या

जैनदर्शन में लेश्याएँ मनोभावों का वर्गीकरण ही नहीं, अपितु मनोभावों के शुभत्व और अशुभत्व के आधार पर व्यक्तित्व के प्रकार भी हैं। मनोभाव केवल संकल्पात्मक ही नहीं होते, अपितु बाह्य व्यवहाररूप में इनकी अभिव्यक्ति भी होती है। वास्तव में व्यक्ति के संकल्प ही कर्मरूप में परिवर्तित होते हैं। ब्रेडले का कहना है कि चाहे हम मनोभाव कहें या संकल्प, ये व्यक्ति के आचरण के प्रेरणास्रोत्र हैं। मनोभाव और आचरण कर्म के क्षेत्र में पृथक्-पृथक् नहीं होते हैं। आचरण अर्थात् आदतों से संकल्पों की मनोभूमि बनती है और संकल्पों की मनोभूमि पर ही आचरण की आधारशिला स्थित होती है। मनोभावों और बाह्य व्यवहार में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। व्यक्ति की आदतों के आधार पर उसके विचार या मनोभाव बनते हैं और ये मनोभाव ही सुदृढ़ होकर आदत बन जाते हैं। आदत व्यक्ति के व्यक्तित्व की परिचायक होती है। व्यक्ति के सोच विचार और व्यवहार के आधार पर उसका व्यक्तित्व निर्मित होता है। मनोभावों एवं बाह्य व्यवहार के शुभत्व

---

[1] उत्तराध्ययनसूत्र अध्याय ३४ ।

[2] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १' पृ. ५१२-२२ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

[3] 'लेश्या और मनोविज्ञान' पृ. २७ ।

और अशुभत्व के आधार पर उसके व्यक्ति का निर्धारण करना, यही लेश्या सिद्धान्त का मुख्य प्रतिपाद्य है। सामान्यतया इस आधार पर व्यक्ति को धार्मिक या अधार्मिक अथवा कृष्णपक्षी या शुक्लपक्षी अथवा सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि कहा जाता हैं। जिसके आचार, व्यवहार और मनोभाव अशुभ होते हैं, उसे मिथ्यादृष्टि, कृष्णपक्षी या अधार्मिक कहा जाता है। इसके विपरीत जिसके आचार व्यवहार और मनोभाव शुभ होते हैं, उसे शुक्लपक्षी, सम्यग्दृष्टि या धार्मिक कहा जाता है। शुभत्व और अशुभत्व यह एक सामान्य अवधारणा है, किन्तु शुभत्व-अशुभत्व में अनेक कोटियाँ होती हैं। सामान्य रूप से उन्हें हम अशुभतम, अशुभतर और अशुभ, शुभ, शुभतर और शुभतम - षड्विध लेश्याओं के रूप में जानते हैं। वैसे इनकी भी आवान्तर कोटियाँ हो सकती हैं। शुभत्व और अशुभत्व - इनकी इस तरतमता के आधार पर जैन दार्शनिकों ने व्यक्तित्व के ३, ९, ८१ और २४३ उपभेद भी किये हैं। डॉ. सागरमल जैन ने अनेक ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह प्रमाणित कर दिया है कि लेश्या की अवधारणा जैन दर्शन की अपनी प्राचीन एवं मौलिक अवधारणा है।[४] यहाँ हम इनकी अधिक गहराई में न जाकर सामान्य रूप से षड्लेश्याओं की चर्चा करेंगे।

## षड्लेश्याओं की अवधारणा

जैन दार्शनिकों ने लेश्या की परिभाषा करते हुए कहा है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध लेश्या के कारण है। चित्त में उठनेवाली विचार तरंगों को लेश्या कहा गया है। जैसे सागर में हवा के झोंके आने पर लहरें उठती है, वैसे ही आत्मारूपी सागर में कर्मरूपी हवा के झोंके आने अथवा भाव कर्म के उदय होने पर विषय, विकार और विचार रुपी तरंगें उठने लगती हैं। इसी तरह लेश्याएँ होती हैं। स्थानांगवृत्ति में लेश्या के स्वरूप का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती हैं।[५] लेश्या के सम्बन्ध में तीन मत निम्न प्रकार से बताये गए हैं :

---

[४] 'जैन धर्म का लेश्या सिद्धान्त' (श्रमणपत्रिका १९९५ अंक ४-६)।

[५] (क) 'लिश्यते प्राणी कर्मणा यया सा लेश्या' -स्थानांगवृत्ति पत्र २९।
(ख) 'लिंपई अप्पीकीरई' -गोम्मटसार जी. अधि. १५ गा. ४८९।

१. लेश्या योग-परिणाम है।[६]
२. लेश्या कर्म-परिणाम है।[७] और
३. लेश्या कषाय-परिणाम है।[८]

स्थानांगसूत्र एवं प्रज्ञापना में जीव के दस परिणाम बताये गए है।[९] आगम में लेश्या के रूप में समाधान मिलता है। आत्मा और कर्म को जोड़ने वाला या लिप्त करनेवाला सेतु लेश्या है।[१०] धवला में लेश्या को परिभाषित करते हुए बताया गया है कि *'लिम्पतीति लेश्या, कर्मभिरात्मा नामित्यध्याहारप्रेक्षित्वात् आत्मप्रवृत्ति संश्लेषकारी लेश्या।'* अर्थात् जो लेश्या कर्मों से आत्मा का लेपन (लिप्त) करती है, उसे लेश्या कहा गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में लेश्या के परिणामों की संख्या २४३ बताई गई है।[११]

लेश्या का अधिकाधिक असंख्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल जितना समय हो सकता है और उतने ही स्थल हो सकते हैं। असंख्यात लोकाकाश प्रदेशों के समान लेश्याओं के स्थान हैं। नवांगीटीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार कृष्ण आदि द्रव्य-वर्गणाओं के सम्बन्ध में होनेवाले जीव के परिणाम को लेश्या कहते हैं। इस प्रसंग में एक प्राचीन गाथा उद्धृत है-

'कृष्णादि द्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते।।'

अर्थात् स्फटिकमणि को जिस रंग के धागे में पिरोया जाता है, वह वैसा ही परिभाषित होता है; उसी प्रकार जैसी कर्मवर्गणाएँ जीव के सम्मुख आती हैं, वैसे ही जीव के परिणाम आत्मपरिणाम बन जाते हैं। ठीक वैसे ही लेश्या भी उन आत्मपरिणामों का हेतु है। शान्त्याचार्य ने लेश्या की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जो लेश्या के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होती हैं। उन्होंने लेश्या को

---

[६] 'योग परिणामो लेश्या' -स्थानांगवृति पत्र २६।
[७] 'कर्म निष्यन्दो लेश्या' -उत्तराध्ययनसूत्र की बृहद्वृत्ति अ. ३४ की टीका।
[८] 'तेच परमार्थतः कषाय-स्वरूप एवं' -पण्णवण्णापद १७, मलयगिरि टीका।
[९] (क) 'दसविधे जीवपरिणामे' -ठाणं स्थान १० सूत्र १८।
(ख) पन्नवणा पद १३ सूत्र।
[१०] धवला ८/३/२७६।
[११] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/२०।

इस प्रकार परिभाषित किया है: 'योगः परिणामो लेश्या'[१२] अर्थात् योग का परिणाम लेश्या है। लेश्या और योग का अविनाभाव सम्बन्ध है। योग का विच्छेद होते ही लेश्या का परिसमापन हो जाता है। उदाहरण के रूप में योग को कपड़ा और लेश्या को रंग कहा जा सकता है। योग के सद्भावों में लेश्या का सद्भाव तथा योग के अभाव में लेश्या का अभाव होता है। भगवतीसूत्र की वृत्ति में लेश्या को निरूपित करते हुए आचार्य अभयदेवसूरि लिखते हैं कि 'कृष्णादि द्रव्य सानिध्य जनितो जीव परिणामो लेश्या' अर्थात् आत्मा और कर्मपुद्गलों को अनुरंजित करने वाली योग-प्रवृत्ति ही लेश्या है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में आचार्य अकलंक लेश्या को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि 'कषायोदय रंजिता योगप्रवृत्तिः लेश्या' अर्थात् कषाय से मलिन आत्मप्रदेश की चंचलतामय योगप्रवृत्ति को ही लेश्या कहा गया है। 'कर्मनिस्यन्दों लेश्या यतः कर्म स्थिति हेतवो लेश्या', अर्थात् जिसके द्वारा कर्म की स्थिति का निर्धारण होता है, वह लेश्या है। कर्म के उदयं से जीव की भावधारा ही लेश्या कहलाती है। कर्मों के स्थितिबन्ध का हेतु लेश्या होती है। क्योंकि यह शुभाशुभ भावरूप रस डालती है, किन्तु कषाय के अभाव में तेरहवें गुणस्थान में शुक्ललेश्या का सद्भाव माना गया है - वह विचारणीय है, वह योग निमित्त ही है। अयोगी केवली की स्थिति में लेश्या का अभाव हो जाता है। भगवतीसूत्र[१३] एवं प्रज्ञापना में १५ द्वारों से लेश्या का विवेचन किया गया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक एवं गोम्मटसार में भी लेश्या के १६ द्वारों की समीक्षा की गई है।[१४] लेश्या आत्मपरिणामरूप भी है तथा आत्मपरिणाम की संवाहिका भी है। भावदीपिका में अनन्तानुबन्धी आदि चार कषायों की अपेक्षा से लेश्या के ७२ भेदों का वर्णन किया गया है।[१५] वे शुभ और अशुभ मानसिक परिणाम को लेश्या

---

[१२] उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ६५० (शान्त्याचार्य)।

[१३] (क) भगवतीसूत्र ४/१०/८। -अंगसुत्ताणि (लाडनूं) खण्ड २ पृ. १८५१।
(ख) प्रज्ञापना १७/४/१। उवंगसुत्ताणि (लाडनूं) पृ. २६६७।

[१४] (क) तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ. २३८।
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ४९१-९२।

[१५] भावदीपिका पृ. ८५-९१।

कहते हैं।[१६] गोम्मटसार जीवकाण्ड में आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा हैं कि जिसके द्वारा आत्मा अपने को पुण्य-पाप से लिप्त करती है, उसे लेश्या कहते है।[१७] सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने लेश्या के भेद किए हैं : 'लेश्या द्विविधा, द्रव्यलेश्या, भावलेश्या चेति' अर्थात् लेश्या दो प्रकार की है :

१. द्रव्यलेश्या; एवं २. भाव लेश्या।[१८]

## १. द्रव्यलेश्या :

द्रव्यलेश्या सूक्ष्म भौतिक तत्वों से निर्मित है। शरीर की प्रभा को आगम में द्रव्यलेश्या कहा गया है। द्रव्यलेश्या पौद्गलिक है अतः पुद्गल के सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। द्रव्यलेश्या में पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श होते हैं। क्षेत्र की दृष्टि से उसका विस्तार लोकाकाश तक हो सकता है। वह असंख्यात आकाश प्रदेशों का अवगाहन करती रहती है। काल की अपेक्षा से वह शाश्वत है। कभी ऐसा नहीं हुआ की द्रव्यलेश्या का अस्तित्व न रहा हो! जिस प्रकार पित्तद्रव्य की विशेषता से स्वभाव में क्रोधीपन आता है और क्रोध के कारण पित्त का निर्माण बहुल रूप में होता है; उसी प्रकार इन सूक्ष्म भौतिक तत्वों से मनोभाव बनते हैं और मनोभावों के होने पर इन सूक्ष्म संरचनाओं का निर्माण होता है। इनके स्वरूप के सम्बन्ध में पण्डित सुखलालजी एवं राजेन्द्रसूरिजी ने तीन मतों का उल्लेख किया हैं, वे इस प्रकार हैं :

१. लेश्याएँ द्रव्य कर्मवर्गणाओं से बनी हुई हैं। यह मत उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में उल्लिखित है[१९]।
२. लेश्या द्रव्य बध्यमान कर्मप्रवाह है। यह मत भी उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में वादिवैताल शान्तिसूरि द्वारा उल्लेखित है।
३. लेश्या योगपरिणाम है[२०] अर्थात् शारीरिक वाचिक और मानसिक क्रियाओं का परिणाम है। यह मत आचार्य हरिभद्र का है।

---

[१६] 'जीवकम्माणं संसिलेसयणयरी, मिछत्तासंजमकषायजोगा त्ति भणिदं होदि।' -धवला, ८/३।
[१७] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ४८९।
[१८] सर्वार्थसिद्धि २/७।
[१९] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/३।
[२०] (क) 'दर्शन और चिन्तन' भाग २ पृ. २९७; -पं. सुखलालजी।
(ख) अभिधानराजेन्द्रकोश खण्ड ६ पृ. ६७५।

द्रव्यलेश्या का कारण वर्ण नामकर्म का उदय होना है, जबकि भाव लेश्या हमारी मनोभावना है। द्रव्यलेश्या के छः भेद होते हैं। जिनका निर्देश आगम में कृष्णादि छः रंगों द्वारा किया गया है। कृष्णलेश्या भौंरे के रंग के समान काली है। नीललेश्या-नीलमणि के रंग के समान या आकाश के रंग जैसी है। इसी प्रकार कापोतलेश्या कबूतर की ग्रीवा के समान, पीतलेश्या सुवर्ण के समान, पद्मलेश्या कमल के वर्ण के समान और शुक्ल लेश्या कांस के फूल के समान श्वेत वर्ण वाली होती है। जीव की यह द्रव्यलेश्या नारक एवं देवों पर्यन्त एकसी रहती है। द्रव्यलेश्या आत्मा का बाहरी सार है, जिसका आधार पौद्गलिक है।

## २. भावलेश्या :

भावलेश्या आत्मा का अध्यवसाय या अन्तःकरण की वृत्ति है। कषाय से अनुरंजित मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को पूज्यपाद आदि आचार्यों ने भावलेश्या कहा है।[२१] भावलेश्या स्वयं जीव का परिणाम है। प्रज्ञापनासूत्र में भावलेश्या की अपेक्षा से जीव के दस परिणामों में लेश्या को भी गिना गया है। चूंकि भावलेश्या जीव है, अतः जीव की सभी विशेषताएँ उसमें होना स्वाभाविक है। अपने स्वभाव के अनुसार भावलेश्या वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श से रहित है। वह अरूपी है, इसलिए सर्वथा भारमुक्त है। जैनदर्शन में इसे अगुरूलघु नाम से भी कहा गया है। पं. सुखलालजी के शब्दों में भावलेश्या आत्मा का मनोभाव विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है। संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर एवं तीव्रतम और मन्द, मन्दतर और मन्दतम आदि अनेक भेद होने से लेश्या (मनोभाव) वस्तुतः अनेक प्रकार की है, तथापि संक्षेप में छः भेद करके आगम में उसका वर्णन किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में लेश्याओं के स्वरूप का निर्वचन विविध पक्षों के आधार पर विस्तृत रूप से भी हुआ है।[२२] भावलेश्या के परिणमन का आधार भावों की पवित्रता और अपवित्रता है। जब भाव पवित्र होते हैं तब प्राणी कृष्णलेश्या

---

[२१] (क) सर्वार्थसिद्धि, २/६;
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ५३६।

[२२] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/३ ।

से नीललेश्या की स्थिति में पहुँचता है। जब भाव अपवित्र होते हैं, तब चेतना का पुनः नीललेश्या से कृष्णलेश्या में परिणमन होता है। वस्तुतः भावलेश्या ही जीव की अच्छी और बुरी गति का कारण है। प्रशस्त भावलेश्या से जीव की अच्छी गति और अप्रशस्त भावलेश्या से जीव की बुरी गति होती है। भावलेश्या आन्तरिक स्तर है, जिसका आधार राग-द्वेषात्मक परिणति हैं। ये भी छः लेश्याएँ होती हैं – पूर्व की तीन लेश्याएँ अशुभ और अन्त की तीन लेश्याएँ शुभ होती हैं।[२३] भावलेश्या आत्मा के परिणामों के अनुसार बदलती रहती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में लेश्याओं के मुख्यतः छः प्रकार उपलब्ध होते हैं, वे इस प्रकार हैं :

१. कृष्णलेश्या; २. नीललेश्या;
३. कापोतलेश्या; ४. तेजोलेश्या;
५. पद्मलेश्या और ६. शुक्ललेश्या।

### *१. कृष्णलेश्या :*

पंचसंग्रह में कृष्णलेश्या के लक्षणों की विवेचना की गई है। जो तीव्र क्रोध करने वाले हों, वैरभाव से सन्तृप्त हों, लड़ना-भिड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयाभाव से रहित हों, दुष्ट हों – वे कृष्ण लेश्या वाले होते हैं। क्रूर, निर्लज्ज, अविचारी, नृशंस, क्लेश, सन्ताप, हिंसा निर्दयता, ताप, असन्तोष, तीव्र-वैर एवं अतिक्रोध अपने मन पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण न होना आदि कृष्ण लेश्या के लक्षण हैं। इसका वर्ण अमावस की रात जैसा गहरा काला, स्निग्ध बादल, भैंस, खंजनपक्षी, अंजन नयनतारा के सदृश होता है। इसका रस कड़ुए तुम्बे और नीम के समान है। इसकी गन्ध गाय, कुत्ते एवं सर्प के मृत कलेवर से भी अनन्तगुना अनिष्ट होती है तथा स्पर्श शकवृक्ष के समान अति कर्कश होता है।[२४] भारतीय परम्परा में यम (मृत्यु) को काले रंग में दर्शाया जाता है। काला रंग अशुभ और कलुषता का प्रतीक है। काला आभामण्डल देखकर वैज्ञानिक व्यक्ति को हिंसक, क्रोधी और भयंकर क्रूर भाव श्रेणी में स्वीकार करते हैं। उसके विचार जैसे जामुन को खाने के

---

[२३] गोम्मटसार ५०९-१७।

[२४] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/४, १०, १६ एवं १८।

लिये पूरे वृक्ष को जड़-मूल से काटना; अल्प सुखानुभूति के लिए पूरे वृक्ष को जड़मूल से काटना; असंख्य जीवों की हिंसा करने के भाव आदि होते हैं। कृष्णलेश्यावाले जीव के स्वभाव में प्रचण्डता होती है। बेमतलब वृक्ष की पत्तियाँ मसलना, कुचलना, व्यर्थ ही इधर-उधर डालना, क्रोध में बच्चों को गाली देना, आंखें फूट जायें, टांग टूट जायें आदि कहना - यह कृष्णलेश्या है। ऐसे जीव ऐन्द्रिक विषयों की पूर्ति हेतु सतत प्रयत्नशील होते हैं तथा क्रूर स्वभाव के वशीभूत होने से उनमें हिताहित का विचार करने की क्षमता नहीं होती। कृष्णलेश्या वाले जीव की जघन्य स्थिति एक मुहूर्त एवं उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त अधिक तैंतीस सागरोपम है। सातवें नरक के जीवों की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागरोपम है[२५] एवं वे द्रव्यापेक्षा से कृष्णलेश्या वाले ही होते हैं। उनमें निकृष्टतम दुर्गुणों का निवास होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कृष्णलेश्या को नरकगति का हेतु बताया गया है। यह लेश्या दुर्गति का कारण होती है।[२६] कृष्णलेश्यावाला व्यक्ति कर्तव्य विमुख होता है।

## २. *नीललेश्या :*

तिलोयपण्णति[२७] में नीललेश्या के लक्षणों के विषय में विवेचन इस प्रकार उपलब्ध होता है कि नीललेश्या वाले विषयों में आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेकबुद्धि से रहित, मन्द, आलसी, कायर, अत्यधिक माया, प्रपंच में लीन, निद्राशील, दूसरों को ठगने में तत्पर, लोभ में अन्धे, ईर्ष्यालु, कदाग्रही, अज्ञानी, प्रमादी अतपस्वी, रसलोलुप, निर्लज्ज, शठ एवं सुख के गवेषक होते हैं।[२८] वे दूसरों को हानि पहुँचाकर स्वयं की स्वार्थ-सिद्धि में सजग रहते हैं। आलस्य, मूर्खता, कार्य के प्रति अनिष्ठा, तृष्णा, झूठ, चंचलता, अतिलोभ आदि नीललेश्या के लक्षण हैं।

नीललेश्या द्वितीय लेश्या है, इसमें कालापन कुछ हल्का हो

---

[२५] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/३४ एवं ५६ ।

[२६] वही ३४/४१ एवं ४३ ।

[२७] (क) तिलोयपन्नत्ति २/२९५-३०१ ।
(ख) गोम्मटसार ५०९ एवं ५१७ ।

[२८] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/२३ एवं २४ ।

जाता है। इसका रंग, अशोकवृक्ष तथा स्निग्ध-वैडूर्यमणि के समान नीला होता है। रस सौंठ, पीपल, कालीमिर्च से अनन्तगुना तिक्त (अति तीखा) होता है।[२९] इसकी गन्ध मृत गाय, मृत कुत्ते और मृत सर्प की दुर्गन्ध से भी अनन्तगुना होती है। गाय की जीभ से अनन्तगुना कर्कश (खुरदुरा) इसका स्पर्श है। नीललेश्यावाले स्वार्थी होते हैं, किन्तु कृष्णलेश्या की अपेक्षा इनके विचार कुछ सन्तुलित होते हैं। इनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम की होती है। इस लेश्या वाले जीव की भी दुर्गति होती है।[३०] नीललेश्यावाला व्यक्ति बाह्य रूप में जो हित करता सा दिखाई देता है, उसके पीछे भी उसका गहरा स्वार्थ छुपा रहता है। नीललेश्यावाले को मांगने पर भी लज्जा का अनुभव नहीं होता। नीललेश्या से जीव नरक गति में भी जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कृष्ण, नील व कापोत लेश्या को दुर्गति का कारण और नरक तथा तिर्यंच गति का हेतु बताया गया है। एक जीव भावों के आधार पर अनेक स्थानों का स्पर्श कर सकता है। छहों लेश्याओं में केवल मिथ्यादृष्टि जीव ही रह सकता है। ऐसी नीललेश्या की परिणति होती है। जब अप्रत्याख्यानी कषाय की नीललेश्या हो, तब कृष्णलेश्या से नीललेश्या किंचित् उज्ज्वल होती है। अनन्तानुबन्धी कषाय की नीललेश्या से युक्त व्यक्ति आलसी, निद्रालु, परिवार आदि में अत्यधिक आसक्ति, धन संग्रह की लिप्सा, विकथा और मोह भाव इस अवस्था में विशेष होता है।[३१] इस प्रकार नीललेश्या का वर्णन किया गया है।

---

[२९] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/५ एवं ११।

[३०] वही ३४/३५ एवं ५६।

[३१] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) अधि. १५ गा. ५११।

### *३. कापोतलेश्या :*

कापोतलेश्या तृतीय लेश्या है। इसकी मनोवृत्ति भी दूषित होती है।[३२] इस मनोवृत्ति में प्राणी के व्यवहार में मन, वचन और कर्म से एकरूपता नहीं होती। कापोतलेश्यावाला व्यक्ति दूसरों पर रोष करता है, दूसरों की निन्दा करता है और अपनी प्रशंसा करता है। दूसरों को निम्न दृष्टि से देखता है। कापोतलेश्या वाले व्यक्ति के मनोभाव में सरलता एवं सहजता नहीं होती है, अपितु कपट और अहंकार होता है। वह सदैव अपने दोषों को छिपाने की कोशिश करता है। वह दूसरों की गुप्त बातों को प्रकट करके अपना हित साधनेवाला; उनके धन का अपहरण करनेवाला और मात्सर्य भावों से युक्त होता है। यह व्यक्ति दूसरों का हित भी तभी करता है, जब उससे उसकी स्वार्थ सिद्धि होती है।[३३] पूर्व की दो लेश्याओं से शुभ्र, किन्तु अन्य लेश्याओं से मलिन परिणाम इस लेश्या के होते हैं। शीघ्र रूष्ट होनेवाले, छोटी-छोटी बात में चिड़चिड़ानेवाले, अधिक हँसनेवाले, चोर, अत्यधिक शोकाकुल आदि स्वभाववाले को उत्तराध्ययनसूत्र में कापोतलेश्या से युक्त कहा गया है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक[३४] में इसके लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि –

> 'मात्सर्य-पैशुन्य-पर-परिभवात्म-प्रशंसा-परपरिवाद-
> वृद्धिहान्यगणानात्मीय-जीवित-निराशता-प्रशस्यमानधनदान
> युद्धमरणोद्यमादि कापोतलेश्या लक्षणम्'

अर्थात् निन्दा, चुगलखोरी, परपरिभव, आत्मप्रशंसा, परपरिवाद, जीवन में नैराश्य, प्रशसंक को धन प्रदान करना, युद्ध में मरने के लिए तैयार होना आदि कापोतलेश्या के लक्षण हैं। इसका रंग अलसी के तेल, कंटक एवं कबूतर की ग्रीवा के समान तथा इसका रस कच्चे आम के रस से अनन्तगुना अधिक खट्टा

---

[३२] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/२५ एवं २६ ।

[३३] वही ।

[३४] तत्त्वार्थराजवर्तिक ४/२२ ।

(कसैला) होता है।[३५] इसकी गन्ध सड़ी हुई लाश की दुर्गन्ध जैसी होती है। इसका स्पर्श कम खुरदरा होता है।

कापोतलेश्यावाले जीवों के भावों में यद्यपि कृष्ण एवं नीललेश्या की अपेक्षा अशुभता कम होती है, किन्तु वे कुटिल तो होते ही हैं।[३६] स्वयं की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करना उनका नशा होता है। ऐसे जीवों के अन्य भाव होते हैं – दूसरों के समक्ष अपनी प्रशंसा के पुल बांधते रहना, पाप भीरूता न होना, मृत्यु समीप होने पर भय होना इत्यादि। कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक तीन सागरोपम है। यह भी अशुभ लेश्या है। यह लेश्या दुर्गति में ले जानेवाली है।[३७] कापोतलेश्या को पशु-पक्षी रूप तिर्यंचगति के बन्ध का कारण बताया गया है।

## *४. तेजोलेश्या (पीतलेश्या) :*

इस लेश्या को पीतलेश्या भी कहते हैं। पंचसंग्रह में तेजोलेश्या के लक्षण के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने कर्तव्य-अकर्तव्य को जानता हो, सभी में समदर्शी हो, दया और दान में संलग्न हो, मृदुस्वभावी और ज्ञानी हो तथा दानशीलता, सत्यवादिता, मित्रता, दयालुता, सहिष्णुता, स्वकार्य-दक्षता, श्रेय-अश्रेय का विवेक, नम्रता, निष्कपटता, कार्य-अकार्य का यथार्थ ज्ञानवाला, कौनसा करने या कौनसा बोलने योग्य है, पढ़ने योग्य क्या है और क्या नहीं है, इसके विवेकवाला, ऊर्जा का सदुपयोग करने वाले आदि गुणों से युक्त हो; वह तेजोलेश्यावाला होता है। उसमें पूर्णतः विवेक होता है। साधन-प्रसाधन उपलब्ध होने पर भी वह संयमी होता है। इस लेश्यावाले का मन्दकषाय होता है।[३८] तेजोलेश्यावाला व्यक्ति शक्तिसम्पन्न तो होता है, किन्तु साथ-साथ अहंकारी भी होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार इसे तेजोलेश्या

---

[३५] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/६ ।
[३६] वही ३४/२५-२६ ।
[३७] वही ३४/३६-५६ ।
[३८] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/२७-२८ ।

एवं गोम्मटसार में पीतलेश्या के नाम से सम्बोधित किया गया है।[३९]

इसके रंग (वर्ण) का विश्लेषण करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में इसका रंग हिंगुल, मेरू, नवोदित सूर्य के समान सिंदूरी, तोते की चोंच तथा प्रदीप की लौ के समान लाल (रक्तवर्ण) बताया गया है।[४०] लाल रंग क्रान्ति का प्रतीक है। इस लेश्यावाला व्यक्ति भी अधर्मलेश्या से धर्मलेश्या की ओर गतिशील होता है। उसका यह कार्य क्रान्तिकारी है। इसी कारण इस लेश्या के वर्ण की सार्थकता मानी जा सकती है। इसका रस पके आम के रस या कबीट के रस से अनन्तगुना खट्टा-मीठा होता है।[४१] इस लेश्या की गन्ध गुलाब के पुष्प जैसी तथा पीसे जा रहे सुगन्धित पदार्थों की सुगन्ध से अनन्तगुना अधिक होती है। इसका स्पर्श मक्खन, शिरीष-पुष्पों के कोमल स्पर्श से अनन्तगुना कोमल होता है। इस लेश्यावाले जीवों का स्वभाव नम्र और अचपल होता है। वे पापभीरू तपस्वी, सेवाभावी जितेन्द्रिय और मोक्षमार्ग के अभिमुख होते हैं। तेजोलेश्यावाला अनैतिक आचरण की ओर प्रवृत्त नहीं होता, फिर भी वह सुखापेक्षी होता है। किन्तु वह अनैतिक आचरण द्वारा सुखों की प्राप्ति या अपने स्वार्थ की सिद्धि नहीं करता है। धार्मिक आचरण में उसकी पूर्ण आस्था होती है। इस मनोभूमि में व्यक्ति दूसरे के कल्याण की भावना से युक्त होता है। वह पवित्र आचरणवाला, धैर्यवान, निष्कपट, आकाँक्षारहित, विनीत संयमी और योगी होता है।[४२] वह प्रिय एवं दृढ़धर्मी तथा हितैषी होता है एवं दूसरे के अहित की कामना तब तक नहीं करता, जब तक दूसरा उसके हितों का हनन न करे। इस लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवे भाग अधिक दो सागरोपम की है। यह लेश्या सुगति की ओर अग्रसर करनेवाली है।[४३] तेजोलेश्या को मनुष्य गति के बन्ध का कारण बताया गया है।

---

[३९] (क) उत्तराध्ययनसूत्र अ. ३३ गा. ८, १४ ।
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) अधि. १५ गा. ५/४ ।

[४०] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/७ ।

[४१] वही ३४/१३ ।

[४२] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/२७-२८ ।

[४३] वही ३४/१७, १९, २७, २८, ३७ एवं ५७ ।

### ५. पद्मलेश्या :

इस लेश्या की मनोभूमि में तेजोलश्या की अपेक्षा पवित्रता या धर्मभावना अधिक होती है। यह शुभ लेश्याओं का द्वितीय चरण है। इस मनोभूमि में वे व्यक्ति आते हैं जो त्यागी हों, तपस्वी हों, जिनकी क्रोध, मान, माया और लोभ रूप अशुभ प्रवृत्तियाँ अत्यन्त अल्प हों, जो अपराधी के प्रति भी क्षमाशील हों, भद्र हों, सच्चे हों, उत्तम कार्य करनेवाले हों, श्रमण-श्रमणीवृन्द की सेवा भक्ति में निमग्न हों, साथ ही संयमी और आत्मजयी हों।[४४] उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया है कि इसका रंग हरिताल, हल्दी और कमल के पुष्प के समान पीला होता है। इसका रस मधु से अनन्तगुना मीठा होता है। इस लेश्या की गन्ध कमल-पुष्प या सुगन्धित फूलों की गन्ध से अनन्तगुना अधिक इष्ट होती हैं।[४५] इस लेश्यावाला व्यक्ति उपशान्त, जितेन्द्रिय, अल्पभाषी एवं ध्यान-साधना में संलग्न रहता है।[४६] इस लेश्या की जघन्य स्थिति अर्न्तमुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त अधिक दस सागरोपम होती है। पद्मलेश्यावाला जीव मन्दकषाय और प्रशान्तचित्त वाला होता है।[४७] वह सत्य का मात्र ज्ञाता ही नहीं होता, अपितु उसे जीता भी है। सत्य को आत्मसात् करने की उसकी इच्छा अति प्रबल होती है। पद्मलेश्यावाले जीव का चित्त प्रीतियुक्त होता है। उसे संसार असार लगने लगता है। वह आत्मसाधना में लीन रहता है। यह लेश्या सुगति की परिचायक है। तेजोलेश्या की अपेक्षा पद्मलेश्या के आत्म-परिणाम विशुद्धतर होते हैं। पद्मलेश्या को देवगति के बन्ध का कारण बताया गया है।[४८]

### ६. शुक्ललेश्या :

शुक्ललेश्या शुभतम लेश्या है। इस लेश्या में शुभ-मनोवृत्ति की श्रेष्ठतम भूमिका होती है। शुक्ललेश्यावाले व्यक्ति का व्यवहार

---

[४४] गोम्मटसार अधि. १५/५/५ ।
[४५] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/८ एवं १४ ।
[४६] वही ३४/२९-३० ।
[४७] उत्तराध्ययनसूत्र ३४/२९-३०, ३८ एवं ५७ ।
[४८] वही ३४/३१-३२ ।

निष्पक्ष होता है। वह न किसी के प्रति राग करता है और न द्वेष। वह निर्वैर, निर्मम, निश्छल, निःस्वार्थ और वीतरागी होता है। शत्रु पर भी वह करूणा-भाव रखता है। वह जगत् के कल्याण की भावना से युक्त होता है। वह निन्दा, विकथा से परे और पाप प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त होता है।[४९] शुक्ल-लेश्यावाला व्यक्ति उपशान्तए जितेन्द्रिय एवं प्रसन्नचित्त होता है। वह अकषायी होता है। वह इष्टानिष्ट, सम्पत्ति-विपत्ति, मान-अपमान, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति आदि सभी स्थितियों में समभाव से जीता है। वह पक्षपात से रहित होता है।

शुक्ललेश्या का वर्ण पूर्णिमा की चाँदनी, शंख, स्फटिकमणि, कुन्दपुष्प, दुग्धधारा तथा रजतहार के समान शुभ्र होता है। उसका रस मिश्री, खजूर, दाख एवं क्षीर से अनन्तगुना अधिक मधुर होता है। इसकी गन्ध केवड़े जैसे सुगन्धित पुष्पों की गन्ध से अनन्तगुना इष्ट होती है। इसकी सुगति होती है। इस लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट मुहूर्त अधिक तेंतीस सागरोपम की होती है।[५०] शुक्ल लेश्या से देवगति या सिद्धगति प्राप्त होती है।

जैन दार्शनिकों ने तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या - इन तीनों लेश्याओं को धर्मलेश्या कहा है। इन तीनों लेश्याओं के रंग क्रमशः भारतीय संस्कृति की मुख्य तीन परम्पराओं अर्थात् हिन्दू, बौद्ध और जैन के परिचायक है। ये तीनों शुभलेश्याएँ हैं। आत्मविकास के क्षेत्र में इन शुभलेश्याओं के रंगों की विशिष्ट महत्ता परिलक्षित होती है। तेजोलेश्या का वर्ण लाल है। यह आत्म-प्रगति की प्रतीक है। आत्म-विकास करनेवाले वैदिक परम्परा के सन्यासी गैरिक या लाल रंग के वस्त्र धारण करते हैं।

पद्मलेश्या का वर्ण पीला है। पीले वर्ण का ध्यान करने से उत्तेजना का अभाव हो जाता है एवं आत्मा की दिव्यज्योति प्रकट होती है। बौद्ध भिक्षु पीले वस्त्र धारण करते हैं।

शुक्ललेश्या का वर्ण श्वेत है। श्वेत वर्ण आत्मविशुद्धि का प्रतीक है। इसलिये जैन परम्परा में श्रमण--श्रमणीवृन्द के लिये श्वेत

---

[४९] वही।

[५०] वही ३४/३६।

वस्त्र धारण करने का विधान हैं।

## छः लेश्याओं का दृष्टान्त :

लेश्या के परिणामों की भिन्नता को आवश्यकसूत्र हरिभद्रीय टीका, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में दृष्टान्त के माध्यम से समझाया गया है : छः मित्र थे। एकदा वे जंगल में भटक गए। सभी मित्रों को भूख लगी। चलते हुए कुछ देर बाद उन्हें फलों से लदा एक जामुन का वृक्ष दिखाई दिया। उन्हें जामुन खाने की प्रबल इच्छा हुई। मन ही मन विचार करने लगे। पहले मित्र ने कहा – "मित्रों! इस वृक्ष को जड़मूल से काटकर गिरा लें, जिससे आराम से जामुन खाएंगे। तब दूसरे ने कहा – "अरे मित्रों! सम्पूर्ण वृक्ष को गिराने से क्या फायदा? इसकी बड़ी-बड़ी शाखाएँ तोड़ लेते हैं।" तीसरे मित्र ने कहा – "मित्रों! अपने अल्प सुख के लिए पूरे पेड़ को काटने से कितनी हिंसा होगी? क्षणभंगुर सुख के लिए दूसरे को दुःख देना ठीक नहीं है। इस वृक्ष की भी आत्मा है। इसे भी सुख-दुःख की अनुभूति होती होगी। इसकी बड़ी-बड़ी शाखाएँ तोड़ना भी उचित नहीं है। इसकी छोटी-छोटी शाखाएँ तोड़ना पर्याप्त होगा।" चौथे मित्र ने कहा – "अरे मित्रों! यह भी ठीक नहीं है; छोटी-छोटी शाखाओं की अपेक्षा गुच्छों को तोड़ने से ही हमारी क्षुधा शान्त हो सकती है।" पांचवें मित्र ने मृदु स्वर में परामर्श देते हुए कहा – "मित्रों! जामुन के फलों के गुच्छों को तोड़ना भी व्यर्थ है, क्योंकि उन गुच्छों में पके और कच्चे सभी जामुन होंगे। हमें तो पके हुए मीठे फल खाने हैं। फिर कच्चे जामुनों को निरर्थक नष्ट क्यों करें? ऐसा करें वृक्ष को झकझोर दें। पके हुए जामुन नीचे गिर जाएंगे।" छठे मित्र ने करुणार्द्र स्वर में कहा – "मित्रों! वृक्ष को झकझोरने की क्या आवश्यकता है? पूरे वृक्ष को क्षति पहुंचेगी। इसलिए यदि हमें क्षुधा ही मिटानी है; जामुन ही खाना है, तो जमीन पर वृक्ष से टपककर जो पके पकाए मीठे फल गिरे हुए हैं, इन्हें ही उठाकर खा लें।" उन्होंने वैसा ही किया।

लेश्याओं के सन्दर्भ में जैन साहित्य में यह दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। इसमें छः मित्रों की मनः स्थिति, विचार, वाणी तथा कर्म

क्रमशः छहों लेश्याओं की मनोभूमिकाओं का सटीक उदाहरण है। छहों मित्रों की मनोवृत्तियाँ क्रमशः लेश्याओं की परिचायक हैं। पूर्व की तीनों लेश्याएँ अशुभ भावों की प्रतीक हैं। चौथी और पांचवी लेश्या अन्तरात्मा के शुभभावों तथा अन्त की शुक्ललेश्या परमात्मा के विशुद्ध परिणामों की सूचक है। शुक्ललेश्या ही आत्मा से परमात्मा बनने का उपाय है।

इन षट्लेश्याओं में प्रथम तीन लेश्याएँ अशुभ मनोवृत्तियों की सूचक है। अतः वे बहिरात्मा के स्वरूप से तुलनीय हैं। इनमें कृष्णलेश्या को बहिरात्मा की निम्नतम अवस्था कह सकते हैं। नीललेश्या बहिरात्मा की मध्यम अवस्था है और कपोतलेश्या उस बहिरात्मा की सूचक है, जो अन्तरात्मा की दिशा में अभिमुख है। तेजालेश्या जघन्य अन्तरात्मा, पद्मलेश्या मध्यम अन्तरात्मा और शुक्ललेश्या उत्कृष्ट अन्तरात्मा की सूचक है। ज्ञातव्य है कि अपेक्षा भेद से सयोगीकेवली परमात्मा भी शुक्ललेश्यावाले कहे जाते हैं, इस दृष्टि से शुक्ललेश्या परमात्मा की भी सूचक है।

## ६.२ कर्म-विशुद्धि के दस स्थान (गुणश्रेणियाँ)

आध्यात्मिक विकास की एक अन्य अवधारणा का गुणश्रेणी के रूप में उल्लेख है। गुणश्रेणियों को कर्म विशुद्धियों के स्थान भी कहा जाता है। जैनदर्शन में सर्वप्रथम आचारांगनिर्युक्ति और उसके पश्चात् उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र और षट्खण्डागम आदि में इन दस अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। जैनदर्शन में आध्यात्मिक पतन और आध्यात्मिक विकास का मूल कारण कर्मबन्ध है। आत्मा जैसे कर्मरुपी मल से विशुद्ध होती है, वैसे ही उसका आध्यात्मिक विकास होता है। यहाँ त्रिविध आत्मा की अवधारणा में आध्यात्मिक विकास की सूचक अन्तरात्मा है, क्योंकि बहिरात्मा आध्यात्मिक पतन और परमात्मा आध्यात्मिक पूर्णता की अवस्था है। इस प्रकार आध्यात्मिक विकास की सूचक मात्र अन्तरात्मा को ही माना जा सकता है। जैनदर्शन में कर्मविशुद्धि के जिन दस स्थानों या गुणश्रेणियों की चर्चा है वहाँ उनका सम्बन्ध अन्तरात्मा से ही है। अन्तरात्मा की कर्मविशुद्धि के आधार पर ही ये दस अवस्थाएँ निर्मित की गई हैं। यद्यपि इनमें 'जिन' एक ऐसी अवस्था है जो

परमात्मा की सूचक है; क्योंकि वह आध्यात्मिक विकास का अन्तिम चरण है। आचारांगनिर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र में जिन दस अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है,[५१] उनके नाम इस प्रकार हैं :

(१) सम्यग्दृष्टि; (२) श्रावक; (३) विरत;
(४) अनन्तवियोजक; (५) दर्शनमोहक्षपक; (६) उपशमक;
(७) उपशान्तमोह; (८) क्षपक; (९) क्षीणमोह; और
(१०) जिन।

(१) सम्यग्दृष्टि : इस अवस्था में मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है।
(२) श्रावक : इसमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से अल्पांश में विरति (त्याग) प्रकट होता है।
(३) विरत : इसमें प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम सर्वांश में विरति प्रकट होती है।
(४) अनन्तवियोजक : इसमें अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है।
(५) दर्शनमोहक्षपक : इसमें दर्शनमोह का क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है।
(६) उपशमक : इस अवस्था में मोह की शेष प्रकृतियों का उपशम जारी रहता है।
(७) उपशान्तमोह : इसमें उपशम पूर्ण हो जाता रहता है।
(८) क्षपक : जिसमें मोह की शेष प्रकृतियों का क्षय जारी रहता है।
(९) क्षीणमोह : इसमें मोह का क्षय पूर्ण सिद्ध हो जाता है।
(१०) जिन : इसमें सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है।

इन दस अवस्थाओं का स्वरूप मोक्षाभिमुखता सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से ही प्रारम्भ हो जाता है।

कर्मबन्धनों का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है एवं कर्मों का अंशतः क्षय निर्जरा है। निर्जरा मोक्ष का पूर्वगामी अंग है। यहाँ विशिष्ट आत्माओं की ही कर्मनिर्जरा के क्रम का विचार किया गया है। वे विशिष्ट मोक्षाभिमुख आत्माएँ हैं। मोक्षाभिमुखता सम्यग्दृष्टि की

---

[५१] (क) आचारांगनिर्युक्ति २२-२३;
(ख) तत्त्वार्थसूत्र ९/४७;
(ग) षट्खण्डागम, कृतिअनुयोगद्वार, वेदना खण्ड चूलिका गाथा ७-८।

उपलब्धि से होती है और वह जिन (सर्वज्ञ) अवस्था में पूर्ण होती है। स्थूलदृष्टि की प्राप्ति से लेकर सर्वज्ञदशा तक मोक्षाभिमुखता के दस वर्गीकरण इस प्रकार किए गए हैं। जिसमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर विभाग में परिणाम की विशुद्धि सविशेष होती है। परिणाम की विशुद्धि जितनी होगी, कर्मनिर्जरा भी उतनी ही विशेष होगी। प्रथम चरण में जितनी कर्मविशुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा उत्तरोत्तर अवस्था में परिणाम विशुद्धि की विशेषता के कारण कर्मविशुद्धि (कर्मनिर्जरा) भी असंख्यातगुनी बढ़ती जाती है। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते अन्तिम चरण में सर्वज्ञ अवस्था में निर्जरा (कर्मविशुद्धि) का प्रमाण सबसे अधिक हो जाता है। आध्यात्मिक विकास की इन दस अवस्थाओं में सबसे कम कर्मविशुद्धि (कर्मनिर्जरा) सम्यग्दृष्टि की और सबसे अधिक सर्वज्ञ परमात्मा या जिन अवस्था में होती है।[५२]

## ६.३ आध्यात्मिक विकास के सोपान गुणस्थान, परिभाषा एवं स्वरूप

जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर गम्भीरता से विचार किया है। उन्होंने दुःख से मुक्ति पाने के लिए मोक्षमार्ग का निरूपण किया है। मोक्षमार्ग की यात्रा में जिन सोपानों का आरोहण किया जाता है, उन्हें गुणस्थान की संज्ञा दी गयी है। आध्यात्मिक विशुद्धि के विभिन्न स्तरों को सूचित करने के लिए जैनदर्शन में गुणस्थान की अवधारणा उपलब्ध होती है। व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का मूल्यांकन इसी अवधारणा के आधार पर होता है। आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार जीवकाण्ड की गाथा ३ के पूर्वार्द्ध में गुणस्थान की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि 'संखेओ ओधांत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभावा।'[५३] अर्थात् मोह और योग के निमित्त से जीव के श्रद्धा और चारित्र गुण की होनेवाली तारतम्यरूप अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

---

[५२] 'सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानन्तवियोजक दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्त ।
मोहक्षपक क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ।। ४७ ।।' -तत्त्वार्थसूत्र अ. ६ ।

[५३] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ३/८ ।

षट्खण्डागम में गुणस्थान को जीवसमास भी कहा गया है। जैनदर्शन में जीव के उर्ध्वगामी विकासक्रम को गुणस्थान के नाम से व्याख्यात किया गया है।[५४] मोह और योग के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होनेवाले उतार-चढ़ाव को गुणस्थान कहा गया है। कर्मों का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम ही गुणस्थानों का प्रमुख कारण है। दूसरे शब्दों में कर्मों के निमित्त आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण के विकास-ह्रास की गुणश्रेणियाँ ही गुणस्थान हैं। यह गुणस्थान शब्द दो शब्दों से बना है : गुण + स्थान। गुण का अर्थ ज्ञान, दर्शन और चारित्र से है और स्थान का अभिप्राय अवस्था, स्थिति, श्रेणीविशेष से है। जीवात्मा की अशुद्धतम अवस्था के परिहार से लेकर शुद्धात्मदशा अर्थात् मुक्तावस्था तक की विकास भूमिकाएँ गुणस्थान हैं। जैनदर्शन में गुणस्थानों को चौदह भागों में विभाजित किया गया है। आत्मा उत्तरोत्तर निर्मल होकर आध्यात्मिक दृष्टि से विकास करती है। गुणस्थान आत्मा के मूलगुण अर्थात् स्वस्वभाव के कर्मों से आवृत्त होने या उसकी विशुद्धि की विभिन्न स्थितियां हैं।[५५] आध्यात्मिक विकास की इन अवस्थाओं से आगे बढ़ते-बढ़ते विकास की उच्चतमदशा अर्थात् मोक्ष तक पहुँचने का बहुत ही सूक्ष्म, मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस गुणस्थान सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है। चौदहवां गुणस्थान आत्मा की पूर्णतः शुद्धावस्था है। वहाँ आत्मा शाश्वत, अनन्त, अशेष, परम आनन्द और शान्ति को उपलब्ध कर लेती है।[५६] जैनदर्शन में निम्न चौदह गुणस्थान स्वीकार किए गए हैं :

१. मिथ्यादृष्टि; २. सास्वादन (सम्यग्दृष्टि);
३. मिश्र; ४. अविरत सम्यग्दृष्टि;
५. देशविरत; ६. प्रमत्तसंयत;
७. अप्रमत्तसंयत; ८. निवृत्तिबादर (अपूर्वकरण);
९. अनिवृत्तिबादर; १०. सूक्ष्मसम्पराय;
११. उपशान्तमोह; १२. क्षीणमोह;
१३. सयोगीकेवली; और १४. अयोगीकेवली।

-मोहनलाल मेहता।

---

[५४] जैनदर्शन, पृ. ४६३।
[५५] मूलाचार (उत्तरार्ध) गा. ६४२।
[५६] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ९-१०।

इन गुणस्थानों का विभाजन उत्कृष्ट मलिन परिणामों से लेकर विशुद्ध परिणामों तक अथवा कषाय एवं 'वीतराग परिणाम' की विभिन्न अवस्थाओं के क्रम के आधार पर किया गया है।[५७]

## १. मिथ्यात्वगुणस्थान

मिथ्यात्वगुणस्थान से ही जीव अपनी आध्यात्मिक विकास यात्रा प्रारम्भ करते हैं। वर्तमान में जितने भी सिद्धपरमात्मा सिद्धालय में विराजमान हैं, वे भूतकाल में इसी मिथ्यात्व गुणस्थान में थे। वे सभी मिथ्यात्व का नाश करके अपनी साधना के बल से सिद्धालय में पहुँचे हैं। आचार्य वीरसेन ने धवला में मिथ्या को वितथ, अलीक तथा असत्य एवं दृष्टि को दर्शन, श्रद्धान, रूचि और प्रत्यय कहा है।[५८] जिसका दर्शन या श्रद्धान असत्य हो, वह मिथ्यादृष्टि है। यह गुणस्थान मूलतः मिथ्यात्वमोह नामक कर्मप्रकृति के उदय से होता है।[५९] आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार में मिथ्यात्व गुणस्थान को इस प्रकार बताते हैं कि मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के उदय से जब जीव मिथ्यात्व परिणाम से परिणमित होता है, तब वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार[६०] की १३२वीं गाथा में बताते हैं कि जीव का जो तत्व का अश्रद्धान है, वह मिथ्यात्व का उदय है। एकान्त, विपरीत, विनयिक, संशय और अज्ञान से मिथ्यात्व के पांच भेद हैं। आचार्यों ने मिथ्यादृष्टि को पित्तज्वर के रोगी की उपमा दी है। जिस प्रकार पित्तज्वर के रोगी को मीठा रस अच्छा नहीं लगता; वैसे ही मिथ्यादृष्टि को यथार्थ धर्म अच्छा नहीं लगता है। आचार्य अमितगति ने श्रावकाचार में कहा है कि मिथ्यादृष्टि उस सर्प की तरह है, जो दूध पीकर भी पुनः विष को उगलता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जिनवाणी को सुनता भी है, आगम का अध्ययन भी करता है, पर मिथ्यात्व को नहीं छोड़ता है।[६१]

---

[५७] जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश भाग २ पृ २४५ ।

[५८] धवला १/१/१ पृ. १६२ ।

[५९] गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा. १५-१६ ।

[६०] कुन्दकुन्द समयसार गाथा १३२ ।

[६१] 'पठन्नपिवचो जैनं मिथ्यात्वं नैवं मुंचति ।
कुदृष्टिः पन्नगो दुग्धं पिवन्नपि महाविषम् ।। २/१५ ।।' -अमितगतिश्रावकाचार ।

आध्यात्मिक दृष्टि से यह आत्मा की बहिरात्मदशा है। मिथ्यादृष्टि जीव विवेकहीन होता है एवं उसमें सत्य-असत्य तथा धर्म-अधर्म के स्वरूप को पहचानने की शक्ति का अभाव होता है।[६२]

सामान्यतः मिथ्यादृष्टि जीव की अभिरुचि आत्मोन्मुख नहीं होती। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि उनमें आत्मा जाग्रत ही नहीं होती। कुछ मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे होते हैं, जिनमें आत्माभिरुचि जागती है और वे इस मिथ्यात्व गुणस्थान के चरम समय में यथाप्रवृत्ति, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के द्वारा सम्यक्त्व को उपलब्ध कर लेते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवों में दो प्रकार के जीव होते हैं – एक वे जिनमें आत्माभिरूचि या सम्यक्त्व उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रही हुई है और जिन्हें अभव्यजीव कहा जाता है। किन्तु जो भव्य जीव होते हैं, वे इसी मिथ्यात्व गुणस्थान से पूर्वोक्त त्रिकरण को ग्रन्थिभेद करते हुए सम्यग्दृष्टि को प्राप्त करते हैं। सम्यग्दृष्टि प्राप्त करने के लिये जो प्रयत्न या पुरुषार्थ किया जाता है, वह इसी गुणस्थान में होता है और इसी अपेक्षा से इसे गुणस्थान के रूप में परिगणित किया जाता है। मिथ्यात्व गुणस्थान का काल अनादि अनन्त सिद्ध होता है।

## २. सास्वादन गुणस्थान

इस गुणस्थान का क्रम अध्यात्म विकास की अपेक्षा से दूसरा है। यह गुणस्थान ऊपर के गुणस्थानों से नीचे गिरने पर ही होता है। सम्यग्दर्शनरुपी शिखर से पतित और मिथ्यात्वरुपी भूमि की ओर नीचे गिरनेवाले जीव औपशमिक सम्यग्दृष्टि होते हैं।[६३] चारित्र मोहनीयकर्म की अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने पर इस गुणस्थान की उपलब्धि होती है।[६४] इस गुणस्थान में कोई भी आत्मा प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से विकास करके नहीं आती है, अपितु सम्यग्दर्शन से पतित होकर प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान स्पर्श करने के पूर्व इस सास्वादन गुणस्थान को प्राप्त होती है।

---

[६२] गुणस्थान क्रमारोहः रत्नशेखरसूरि, श्लोक ८।

[६३] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. २० ।

[६४] (क) षटखण्डागम १/१/१०;
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा. १६ ।

पतनोन्मुख आत्मा जब इस गुणस्थान को प्राप्त होती है,[६५] तब वह अधिकतम छः आवलिका पर्यन्त एवं जघन्य से एक समय इसमें रह सकती है। तदनन्तर वह नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान की ओर गमन करती है। जैसे वृक्ष से फल को टूटकर धरा पर गिरने में जितना समय लगता है, उतना ही समय सास्वादन गुणस्थान का होता है। जैसे खीर खाने के पश्चात् वमन होने पर खीर का कुछ स्वाद बना रहता है,[६६] वैसे ही एक बार यथार्थ बोध अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने के बाद मोहासक्ति के कारण जब आत्मा पुनः अयथार्थ या मिथ्यात्व को ग्रहण करती है, फिर भी उसे यथार्थता या सम्यक्त्व का आस्वाद बना रहता है। उस क्षणिक एवं आंशिक आस्वादन के कारण ही जीव की यह अवस्था सास्वादन गुणस्थान कही जाती है। अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक[६७] में बताया है कि सास्वादन गुणस्थान से गिरता हुआ जीव नियम से प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में जाता है। षट्खण्डागम[६८] और गोम्मटसार जीवकाण्ड में सास्वादन गुणस्थान को सासन सम्यक्त्व भी कहा गया है।[६९] यहाँ सासन शब्द का अर्थ इस प्रकार है : स (सहित) + आसन (सम्यक्त्व की विराधना) सासन अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना से युक्त। धवला में इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ इसी रूप में उपलब्ध है – 'आसनं सम्यक्त्वं विराधनं, सह आसदनेन इति सासादन' अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना को आस्वादन कहा गया है और आस्वादन से युक्त ही सास्वादन गुणस्थान है।[७०] ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा में इसकी व्युत्पत्ति भिन्न प्रकार से की जाती है। उनके अनुसार जो सम्यग्दर्शन के आस्वादन से युक्त है, वह

---

[६५] संस्कृत पंचसंग्रह १/२० ।

[६६] समयसार नाटक अ. १४ छंद २० ।

[६७] तत्त्वार्थवार्तिक ९९१/१३ पृ. ५८९ ।

[६८] षट्खण्डागम ५/१/७ सूत्र ३ ।

[६९] (क) षटखण्डागम १/१/१० ।
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा.१९ ।
(ग) 'आसनं क्षेपणं सम्यक्त्वं विराधनं तेन सह वर्तते यः ससासनः ।'
–गोम्मटसार (जीवकाण्ड), मन्दप्रबोधिनीटीका, गा. १९ ।

[७०] (क) धवला १/१/१ ।
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक ९/१/१३ ।

सास्वादन गुणस्थान है। इस गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मदशा के सूचक हैं। मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती सभी जीव बहिरात्मा ही होते है। इस गुणस्थानवाले जीवों में सम्यक्त्व की विराधना और अनन्तानुबन्धी का उदय रहता है। अतः ये भी बहिरात्मदशा के सूचक हैं।

## ३. मिश्र गुणस्थान

यह सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान क्रम की अपेक्षा से तीसरा है।[७१] आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड में बताया है कि जैसे दही और गुड़ को मिश्रित कर देने पर उन दोनों का पृथक्-पृथक् स्वाद नहीं लिया जा सकता और उसका स्वाद न तो मीठा होता है न खट्टा; वैसे ही इस गुणस्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिश्रित परिणाम पाए जाते हैं। इस मिश्रित परिणाम का मूल कारण सम्यक् मिथ्यात्व नामक कर्मप्रकृति का उदय होता है।[७२] इस गुणस्थानवर्ती जीव अनिश्चय की अवस्था में रहता है। कभी वह सम्यक्त्व की ओर अभिमुख होता है तो कभी मिथ्यात्व की ओर, किन्तु किसी एक का त्याग कर दूसरे को ग्रहण नहीं करता। इस गुणस्थान वाले जीव सर्वज्ञ कथित मार्ग पर न तो पूर्णतः श्रद्धा करते हैं और न पूर्णतः अश्रद्धा।[७३] नारिकेल द्वीप के लोग चावल आदि के विषय में विश्वास या अविश्वास कुछ भी नहीं करते हैं, क्योंकि उनके यहाँ केवल नारियल ही पैदा होते हैं। अतः चावलादि अदृष्ट एवं अज्ञात अन्न को देखकर वे उसके प्रति रुचि या अरुचि कुछ भी नहीं रखते हैं। वैसे ही मिश्र (सम्यक् मिथ्यादृष्टि) गुणस्थानवर्ती जीव सर्वज्ञ प्रणीत तत्त्वों पर रुचि या अरुचि अथवा श्रद्धान या अश्रद्धान न करके मध्यस्थ भावों में रहते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व में जीवात्मा मिथ्यात्वमोहनीय के परमाणुओं का उपशम करके उन्हें तीन पुंजों में विभक्त करता है : शुद्ध,

---

[७१] षट्खण्डागम १/१/१ सूत्र ११।

[७२] गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा. २१-२२।

[७३] (क) 'मिस्सुदये तच्चमियरेण सद्दहदि एक्कसमणे।' -लाटी संहिता, गा. १०७।

(ख) 'दहिगुडमिव वामिस्सं, पहुभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो ।। २२ ।।' -गोम्मटसार (जीवकाण्ड)।

अर्द्धशुद्ध और अशुद्ध।

१. शुद्ध पुंज सम्यक्त्व का घात नहीं करता है।
२. अर्द्धशुद्ध पुंज में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों परिणामों का मिश्रण होता है।
३. अशुद्धपुंज में सम्यक्त्व का घात करने की शक्ति निहित होती है।

जिसने एक बार औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, उसे मिथ्यात्वमोहनीय के अर्द्धशुद्ध कर्मदलिकों का उदय होने पर यह तीसरा सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान प्राप्त होता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। उसके पूर्ण होते ही आत्मा के पूर्व परिणामानुसार सम्यक्त्वमोहनीय के शुद्ध या अशुद्ध कर्मदलिकों में से किसी एक का उदय होता है और तदनुसार जीव क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि बन जाता है। साधक को जब औपशमिक सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है तब आत्मा पूर्ण प्रशान्त बनती है। परिणामों की यह प्रशान्तता चिरस्थायी नहीं होती है। जीवात्मा को या तो अर्द्धशुद्ध पुंज या अशुद्ध पुंज का उदय होता है। अर्धशुद्ध कर्मपुंज का उदय होने पर आत्मा सम्यक् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान और अशुद्ध पुंज का उदय होने पर सास्वादन गुणस्थान को प्राप्त करती है और वहाँ से पतित होकर मिथ्यात्व दशा को उपलब्ध करती है। इस गुणस्थान में जीव की मृत्यु नहीं होती है।[७४] मिश्र गुणस्थानवाले जीव को देशसंयम या सकल संयम तथा आयुष्यकर्म का बन्ध भी नहीं होता है। इस गुणस्थान से जीव या तो प्रथम या चौथे गुणस्थान में ही जाता है। यह मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मा का ही सूचक है।

## ४. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

यह गुणस्थान आध्यात्मिक विकास की वह अवस्था है, जिसमें जीव को यथार्थता का बोध या सत्य का दर्शन होता है। अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवात्मा सत्य को सत्य रूप में और असत्य को असत्यरूप में जानता है। उसका दृष्टिकोण तो सम्यक् या यथार्थ होता है, किन्तु उसका आचरण सम्यक् नहीं

---

[७४] गुणस्थान क्रमारोह १६ ।

होता है।[७५] वह अशुभ को अशुभ के रूप में मानता तो है, फिर भी अपनी अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग नहीं कर पाता है। सत्य को समझते हुए भी अपने आध्यात्मिक बल की कमी के कारण वह आंशिक रूप से भी संयम (इन्द्रिय-नियन्त्रण) का पालन करने में असमर्थता का अनुभव करता है।

जैनदर्शन की अपेक्षा से दर्शनमोहनीय कर्म की शक्ति के दब जाने पर या उसका आवरण क्षीण होने पर जीवात्मा को यथार्थबोध तो होता है, किन्तु चारित्रमोहनीयकर्म का आवरण रहने से साधक का आचरण सम्यक् नहीं होता। इस गुणस्थानवाला जीव एक अपंग व्यक्ति के समान होता है, जो देखता तो है किन्तु चल नहीं पाता। अविरतसम्यग्दृष्टि साधक उचित मार्ग को जानते हुए भी उस पर आचरण नहीं कर पाता है। इस गुणस्थान वाला जीव हिंसा, झूठ, अब्रह्मचर्य आदि सावद्य व्यापारों से विरत नहीं होता है। इसलिये उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जा सकता है। पापजनक प्रवृत्तियों से पृथक् हो जाने को विरत कहते हैं। यदि कोई जीवात्मा सम्यग्दृष्टि होने के बाद व्रत, प्रत्याख्यान नहीं कर सकता है तो वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।[७६] इस अविरतसम्यग्दृष्टि आत्मा में भी कुछ अंश तक तो आत्म संयमात्मक वृत्तियों पर संयम होता है। क्योंकि इसमें अनन्तानुबन्धी (तीव्रतम) क्रोध, मान, माया और लोभ का अभाव रहता है। यह अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तीव्रतम आवेगों से रहित होता है। जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी का क्षय या उपशम नहीं होता है, तब तक उसे सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं हो सकती है। जैनदर्शन के अनुसार अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवात्मा को सात कर्मप्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम निम्न प्रकार से होता है :

१. अनन्तानुबन्धी क्रोध; २. अनन्तानुबन्धी मान;
३. अनन्तानुबन्धी माया; ४. अनन्तानुबन्धी लोभ;
५. मिथ्यामोह; ६. मिश्रमोह; और ७. सम्यक्त्व मोह।

साधक इन सात कर्मप्रकृतियों का सम्पूर्णतः जब क्षय करता है,

---

[७५] संस्कृत पंचसंग्रह १/२३।

[७६] 'णो इन्दियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ।। २६ ।।' –गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)।

तब वह सम्यक्त्व क्षायिक कहलाता है और उस आत्मा का इस गुणस्थान से पुनः पतन नहीं होता। वह कालक्रम में अग्रिम श्रेणियों से विकास करता हुआ अन्त में परमात्मस्वरूप की उपलब्धि कर लेता है। जिस जीव का सम्यक्त्व क्षायिक होता है, वह सात या आठ भवों में निश्चय ही परमात्मपद को प्राप्त करता है।

इस अविरत सम्यग्दृष्टिगुणस्थान की विशेषताएँ निम्न प्रकार से उपलब्ध हैं :

१. अनन्तानुबन्धी लोभ कषाय का अभाव होने से अविरतसम्यग्दृष्टि की विषयों में अत्यन्त आसक्ति नहीं होती है।[७७]
२. अनन्तानुबन्धी क्रोध का अभाव होने से निरपराध जीवों की हिंसा में उसकी रुचि नहीं होती है।[७८]
३. उत्तमगुणों का ग्रहणकर्ता होता है।
४. रत्नत्रयी और तत्वत्रयी में श्रद्धा रखता है।[७९]
५. धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, परिवार आदि पदार्थों का अहंकार नहीं करता है।
६. अपने दोषों की निन्दा व गर्हा दोनों ही कर सकता है।[८०]
७. दुःखी जीवों को देखकर उसका हृदय करूणा से द्रवित हो जाता है।[८१]

सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण ही इस गुणस्थानवर्ती जीव अन्तरात्मा कहे जाते हैं। यद्यपि चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त के सभी जीव अन्तरात्मा की कोटि में माने जाते हैं; फिर भी व्रत ग्रहण नहीं होने से यह चतुर्थ गुणस्थानवाला जीव जघन्य अन्तरात्मा ही कहा जाता है।

## ५. देशविरत गुणस्थान

इस गुणस्थान का क्रम पांचवाँ है, लेकिन सदाचार की दृष्टि प्रथम स्तर ही है। इस गुणस्थान में साधक अपने आध्यात्मिक

---

[७७] गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा. २६।
[७८] वही।
[७९] वही (जीवकाण्ड) गा. २७-२८।
[८०] 'दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्ध प्रशमोगुणः।
तत्राभिव्यांजकं बाह्यात्रिदनं चापि गर्हणम्॥' -पंचाध्यायी (उत्तरार्ध) कारिका ४७२।
[८१] गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक ३३।

विकास के लिये प्रयत्नशील होता है। पूर्ववर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवाला साधक कर्त्तव्याकर्तव्य का विवेक रखने पर भी कर्त्तव्य पथ पर चल नहीं पाता है, किन्तु सत्य के प्रति केवल श्रद्धा से लक्ष्य धारित नहीं होते हैं; जब तक उसके अनुरूप व्यावहारिक जीवन में परिवर्तन नहीं होते। पांचवें देशविरत गुणस्थान में साधक आध्यात्मिक विकास की ओर अपना कदम आगे बढ़ाता है और प्रारम्भिक पुरुषार्थ करने के लिए तत्पर बनता है। वह चारित्रमोहनीय के बन्धन को शिथिल करने के लिए प्रयत्न करता है। जब तक चारित्रमोह शिथिल नहीं होता; जब तक आत्मस्थिरता नहीं होती; तब तक साधक सद्विश्वास के अनुरूप असत् से विरत होने के लिये पराक्रमशील नहीं होता है। आत्मस्वरूप में अधिष्ठित होने या सम्यक्चारित्र के क्षेत्र में यह पहला पदन्यास है, इसलिए इसे विरताविरत, संयमासंयम, देशसंयम, देशचारित्र, अणुव्रत, संयतासंयति, धर्माधर्मी देशविरत आदि नामों से अभिहित किया जाता है। इसमें अप्रत्याख्यानी कषाय का क्षयोपशम होकर साधक भोगोपभोग से आंशिक रूप में विरत हो जाता है।[८२] प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय सर्वविरति में बाधक रहता है। इस गुणस्थानवाला सर्वज्ञ प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धा रखता हुआ त्रसादि जीवों की हिंसा से विरत होता है। वह निष्प्रयोजन जीवों की हिंसा नहीं करता है। वह त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव त्रस जीवों के हिंसा के त्याग की अपेक्षा से विरत एवं स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग न होने की अपेक्षा से अविरत या विरताविरत कहलाता है।[८३] श्रावक के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत – इस प्रकार कुल बारह व्रत हैं। इनका पालन करनेवाला देशविरत कहलाता है। इस गुणस्थान का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोनपूर्व कोटि परिमाण होता है। यह पांचवाँ गुणस्थान मनुष्य और तिर्यंच के होता है। पांचवें गुणस्थानवर्ती जीव को मध्यम अन्तरात्मा कहा जाता है। यह

---

[८२] 'पच्चक्खाणुदयादो, संजम भावो ण होदि ण वरिंतु ।
थोव वदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ ।। ३० ।।' –गोम्मटासर (जीवकाण्ड) ।

[८३] 'जो तसवहाओ विरदो अविरदो तह य थावर वहाओ ।
एक्क समयंम्मि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई ।। ३१ ।।' –गोम्मटासर (जीवकाण्ड) ।

गुणस्थान जघन्य अन्तरात्मा और उत्कृष्ट अन्तरात्मा के मध्य की स्थिति है।

## ६. प्रमत्तसंयत (सर्वविरति सम्यग्दृष्टि) गुणस्थान

देशविरति गुणस्थान में संयम की साधना तो होती है परन्तु वह आंशिक या एकदेशीय होती है। विकास या ऊर्ध्वगमन जिसका सहज स्वभाव है, वह अनन्तानन्त शक्तियों का पुंज आत्मा सम्बल लेकर संयम की ओर गति करना चाहता है, तब आत्मा का शुद्ध स्वभाव, अशुद्ध भाव को पराभूत कर देता है और वह सर्वविरति की ओर अग्रसर हो जाता है। इस गुणस्थान में संज्वलन कषायचतुष्क और हास्यादि नव नो-कषायों के सिवाय मोहनीयकर्म की शेष सभी प्रकृतियों के उदय का अभाव होता है। प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का क्षयोपशम या क्षय होने पर व्यक्ति प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान में आरोहरण करता है।[८४] इस गुणस्थानवाले साधक में संयम के साथ-साथ मन्द रागादि के रूप में प्रमाद रहता है। इसे निमित्त पाकर कषाय का उदय तो सम्भव है, किन्तु वह अल्पकालिक ही होता है। शुभ रागादिरूप प्रमाद से प्रमतसंयत गुणस्थानवर्ती साधक जुड़ा रहता है। षड्खण्डागम की धवला टीका-२ में आचार्य वीरसेन ने इसकी विस्तृत विवेचना की है कि यह गुणस्थान केवल मनुष्यों को ही होता है।[८५] इस गुणस्थान में आत्मा की पूर्ण सजगता सम्भव नहीं होती है, फिर भी साधक प्रमाद के कारणों के उन्मूलनीकरण या उपशमन का प्रयत्न करता है। अन्त में प्रमाद पर विजय पाकर अप्रमत्त गुणस्थान श्रेणी को प्राप्त करता है। इस गुणस्थान वाला जीव मध्यम अन्तरात्मा का सूचक है।

## ७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

अप्रमत्तसंयत नामक इस गुणस्थानवर्ती साधक अपनी शुद्ध अन्तःपरिणति का सम्बल लिए मोह के आक्रमणों को विफल करता

---

[८४] विशेषावश्यकसूत्र गा. १२३४ ।

[८५] धवलाटीका १/१/१ सूत्र १४ पृ. १७६-१७७ ।

रहता है। जैसे-जैसे जीवों में उज्ज्वलता बढ़ती है, वैसे-वैसे एक अभिनव शक्ति निष्पन्न होती है। वह प्रमाद को अपने पर हावी नहीं होने देता है। सजग आत्मा ही इस अवस्था को प्राप्त करती है। वह देह में रहते हुए भी देहातीत दशा को प्राप्त होकर स्वस्वभाव में लीन रहती है। यह आत्म सजगता की स्थिति है। स्वरूपाचरण में आनन्दानुभव की उर्मियां उठती रहती हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा गया है कि क्रोधादि संज्वलन कषाय और हास्य आदि नोकषाय का उदय मन्द हो जाता है, तभी अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में क्षायोपशमिकभाव और सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षायिक एवं औपशमिक भाव की प्राप्ति होती है।[८६] इस अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव और सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षायिक एवं औपशमिक भाव की प्राप्ति होती है। इस गुणस्थान का समय अन्तर्मुहूर्त है। देहभाव के आते ही वह छठे गुणस्थान में चला जाता है। सामान्य साधक छठे-सातवें गुणस्थान में झूलता रहता है।[८७] इस अप्रमत्तता की स्थिति बढ़ने पर साधक श्रेणी प्रारम्भ करता है और आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। इस गुणस्थान वाला आत्मा उत्तम अन्तरात्मा के समकक्ष है।

## ८. अपूर्वकरण (निवृत्तिकरण बादर) गुणस्थान

इस गुणस्थान का क्रम आठवां है। अपूर्वकरण गुणस्थान में साधक आध्यात्मिक विकास की अपूर्व भूमिका में प्रविष्ट होता है एवं इस गुणस्थानवर्ती आत्माओं के परिणाम प्रति समय अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं। इस गुणस्थान को अपूर्वकरण इसलिए कहते हैं कि इसमें इतनी आत्मशक्ति विकसित हो जाती है, जितनी पहले कभी नहीं हुई थी। इस अपूर्वकरण गुणस्थान में श्रेणी का आरोहण प्रारम्भ हो जाता है और आत्मा कर्मावरण से हल्की होती है। परिणामस्वरूप आत्मा अपूर्व आनन्दानुभूति में डूब जाती है, जिसका आनन्द वर्णनातीत होता है। इस गुणस्थान में साधक बाह्य विषय-विकारों से मुक्त होता है और उसमें एक अनूठी आत्मशक्ति

---

[८६] (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ४५ ।
(ख) विशेषावश्यकसूत्र गा. १२४७-४८ ।

[८७] 'गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण' । -डा. सागरमल जैन ।

का प्रकटन भी होता है। आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की समयावधि एवं तीव्रता को कम करने हेतु उन कर्मवर्गणाओं को ऐसे क्रम में योजित करता है, जिससे उनकी शक्ति शीघ्रता से क्षीण हो सके। वह अशुभ फल देनेवाली उन कर्मप्रकृतयों को शुभफल देनेवाली कर्मप्रकृतियों में परिवर्तित कर देता है। उनका केवल अल्पकालीन बन्ध करती है। जैनदर्शन के अनुसार वह प्रक्रिया इस प्रकार है :

१. स्थितिघात; २. रसघात; ३. गुणश्रेणी;
४. गुण संक्रमण; और ५. अपूर्व स्थिति बन्ध।

आत्मा इन प्रक्रियाओं द्वारा पूर्वबद्ध कर्मदलिकों का तीव्र वेग से क्षय या उपशम करने लगता है। यह प्रक्रिया अपूर्व होने से इस गुणस्थान को अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहा जाता है। इस गुणस्थान की आत्मा उत्तम अन्तरात्मा के समकक्ष है।

## ६. अनिवृत्तिकरण (बादर सम्पराय) गुणस्थान

इस गुणस्थान में संज्ज्वलन कषाय का उदय रहता है। इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषायचतुष्कों की पूर्णतः निवृत्ति नहीं होती है। इसी कारण इसे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं। यह गुणस्थान आध्यात्मिक विकास का एक अग्रिम चरण है; क्योंकि पूर्ववर्ती गुणस्थानों की अपेक्षा उत्तरवर्ती गुणस्थानों में कषाय का उदय अल्प हो जाता है। जैसे-जैसे कषाय का उदय अल्प होता है, वैसे-वैसे परिणामों की विशुद्धि अधिक होती है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में होनेवाले परिणामों के द्वारा आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा गुण संक्रमण, स्थितिघात और रस (अनुभाग) घात होता जाता है। अनिवृत्तिकरण में उत्तरोत्तर स्थितिबन्ध कम होता है। इसके अन्तिम समय में पहुँचने पर कर्मों की जघन्य स्थिति ही शेष रहती है और कर्मप्रदेशों की प्रति समय निर्जरा असंख्यातगुना अधिक होती जाती है। काल की अपेक्षा से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है। इस गुणस्थान में एक ही काल में आरूढ़ सभी जीवों के परिणाम (आत्मपरिणाम) समान ही होते हैं। नौवें गुणस्थान के जीव दो प्रकार से आरोहण करते हैं – उपशम श्रेणी से और क्षपक श्रेणी से। जब साधक

चारित्रमोहनीयकर्म का उपशमन करता है, तब उपशमक कहलाता है। साधक चारित्रमोहनीयकर्म का क्षपण (क्षय) करता है, तब क्षपक कहलाता है। आठवें गुणस्थान की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में आत्मविशुद्धि बहुत अधिक होती है। इस गुणस्थान में व्यक्ति संज्ज्वलन क्रोध, मान और माया का, हास्यादिक और तीनों वेदों का उपशम या क्षय करके दसवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान में प्रवेश करता है। इस गुणस्थान की आत्मा उत्तम अन्तरात्मा के समकक्ष है।

## १०. सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान

इस सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान का क्रम दसवां है। सम्पराय का अर्थ है लोभ।[८८] इस गुणस्थान में संज्वलन लोभ कषाय के सूक्ष्म कर्मदलिकों का उदय रहता है।[८९] इस कारण इस गुणस्थान का नामकरण सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान किया गया है। आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार जीवकाण्ड में सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि जैसे कौसुंभी वस्त्र लाल रंग का होता है; उस वस्त्र को पानी से धो लेने पर उसकी लालिमा कम तो हो जाती है, किन्तु सूक्ष्म रूप में बनी रहती है; वैसे ही (उस धुले हुए कौसुंभी वस्त्र की लालिमा के समान) इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ परिणाम अवशिष्ट रहते हैं। वे सूक्ष्म लोभ का वेदन करते हैं या सूक्ष्मलोभ कषायकर्म के उदय से इस गुणस्थानवर्ती जीव के अबुद्धिपूर्वक उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हुए लोभ परिणाम होते हैं।[९०] अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क और संज्ज्वलन क्रोध, मान और माया से पन्द्रह कषायों और हास्यादि नौ नोकषायों के अनुदयपूर्वक दसवां गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में जीव कषायों का उपशमन करते हुए

---

[८८] 'साम्प्राय कषायः' -तत्त्वार्थवार्तिक ६/१/२१ पृ. ५६० ।

[८९] 'सूक्ष्मसाम्प्राय सूक्ष्मसंल्वजन लोभः'
(क) गोम्मटसार टीका कर्मकाण्ड जीवप्रबोधिनी केशवर्णी गा. ३३६ ।
(ख) स. पंचसंग्रह १/४३/४४ ।
(ग) 'आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ और पूर्णता' पृ. ४५ ।

[९०] 'धुव को सुंभयवत्थं होदि जहा सुहुमरायसंजुत्तं ।
एवं सुहुम कसाओ सुहुमसरागोत्ति णादव्वो' ।।५८।। -गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ।

उपशमन श्रेणी से और कषायों का क्षय करने हेतु क्षपक श्रेणी से आरोहण करता है।

क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ आत्मा दसवें गुणस्थान में अवशिष्ट सूक्ष्म लोभ का क्षय करके सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाती है[६१] जबकि उपक्षम श्रेणी आरूढ़ आत्मा इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ को उपशमित कर ग्यारहवें गुणस्थान में प्रवेश करती है। किन्तु बाद में उपशमित कषायों का उदय होने पर वहाँ से पतित हो जाती है। इस गुणस्थान की आत्मा उत्तम अन्तरात्मा के सामान ही है।[६२]

## ११. उपशान्तमोह गुणस्थान

उपशान्तमोह ग्यारहवां गुणस्थान है। इस गुणस्थानवर्ती आत्माएँ उपशम श्रेणी से आगे बढ़ती हैं। क्षपकश्रेणी की ओर अग्रसर होने वाली आत्माएँ दसवें गुणस्थान से इस श्रेणी में न आकर सीधे बारहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होती हैं। इसमें कषायों का उदय नहीं होने पर भी वे सत्ता में बनी रहती है। इसलिए इसे अशान्त कषाय छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान भी कहा जाता है। शरदऋतु में सरोवर का जल मिट्टी के नीचे दब जाने से निर्मल और स्वच्छ दिखाई देता है, किन्तु उसकी स्वच्छता स्थाई नहीं होती।[६३] अपितु कभी भी वह मिट्टी उसे गन्दा बना सकती है। सरोवर के जल की तरह मोहनीयकर्म के उपशम से साधक में उत्पन्न होने वाले परिणाम निर्मल होते हैं, किन्तु वे एक समयावधि के बाद पुनः दूषित हो जाते हैं। जैसे राख में दबी हुई अग्नि पवन के लगते ही राख के उड़ने पर पुनः प्रज्वलित हो जाती है, उसी तरह इस गुणस्थान का साधक पुनः पतित हो जाता है। इस गुणस्थान में मोहनीयकर्म की सत्ता तो होती है, किन्तु उसका उदय नहीं होता। इस गुणस्थान में मोहनीयकर्म के पुनः उदय में आने पर वह वीतरागदशा से पतित हो जाता है। ज्ञान, दर्शन आदि आत्म गुणों को आच्छादित करनेवाले कर्मों का उदय रहने के कारण इस गुणस्थान में साधक

---

[६१] गुणस्थान क्रमारोह श्लोक ७३ ।

[६२] विशेषावश्यकसूत्र गा. १३०२ ।

[६३] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ६१ ।

को वीतरागता होने पर भी वह छद्मस्थ होता है। दसवें गुणस्थानवर्ती साधक के सूक्ष्म लोभ का उपशम होने पर जीव इस गुणस्थान में आता है। इस गुणस्थान में मोहनीयकर्म को अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है। इस कारण जीवात्मा के परिणामों में वीतरागता[६४] या निर्मलता आ जाती है, किन्तु वह स्थायी नहीं होती है। आत्मा अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् इस गुणस्थान से अवश्य पतित होती है। क्षीणमोह आदि अग्रिम गुणस्थान को वही आत्मा उपलब्ध कर सकती है, जो क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होती है। क्षपक श्रेणी के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस गुणस्थानवाला जीव नियम से उपशम श्रेणी ही करता है। अतः वह जीव ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान से अवश्य गिरता है। इस गुणस्थान का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त परिमाण होता है। इस गुणस्थान का समय पूरा होने से पूर्व यदि व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त करता है, तो वह अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है। वहाँ वह चतुर्थ अविरत- सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त करता है, क्योंकि देवों के पांचवे आदि गुणस्थान नहीं होते। उनके चौथा गुणस्थान होता है। जीव पतन के समय क्रम के अनुसार ही गुणस्थानों को प्राप्त करता है और उन गुणस्थानों के योग्य कर्मप्रकृतियों का बन्ध, उदय और उदीरणा करना प्रारम्भ करता है। इस पतनकाल में वह सातवें और चौथे गुणस्थान में रूककर पुनः क्षायिक श्रेणी से यात्रा प्रारम्भ कर सकता है। यदि इन दोनों गुणस्थानों में नहीं रूक पाता है, तो वह सीधा प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है। इस गुणस्थानवर्ती आत्मा उत्तम अन्तरात्मा की परिचायक है।

## १२. क्षीणमोह गुणस्थान

क्षीणमोह बारहवां गुणस्थान है। इस गुणस्थानवर्ती आत्मा की मोहकर्म की सभी २८ प्रकृतियाँ पूर्णतः क्षीण हो जाती हैं। इसी

---

[६४] 'अधो यथा नीते क्रतके नाम्भोस्तु निर्मलम् ।
उपरिष्टा तथा शान्त मोहो ध्यानेन मोहने ।।' -संस्कृत पंचसंग्रह १/४७ ।

कारण इसे क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं।[९५] साधक की समस्त वासनाएँ और आकाँक्षाएँ समाप्त हो जाती हैं। वह राग, द्वेष और मोह से भी पूर्णतः मुक्त होता है। मोह आठों कर्मों की सेना का प्रधान सेनापति है। इस मोहरुपी प्रधान सेनापति के परास्त होने पर शेष कर्मरुपी सेना भागने लगती है। मोहकर्म के सर्वथा क्षीण होने पर अल्प समय में ही दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अन्तराय – ये तीनों घातीकर्म भी क्षीण हो जाते हैं। क्षायिक मार्ग पर आरूढ़ जीवात्मा दसवें गुणस्थान के अन्तिम चरण में सूक्ष्म लोभांश का क्षय कर इस क्षीणमोह गुणस्थान में प्रविष्ट होती है। इस गुणस्थान में साधक स्फटिकमणि के निर्मल पात्र में रखे हुए निर्मल जल के सदृश निर्मल होता है।[९६] अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में इसका यही स्वरूप बताया है।[९७] साधक इसमें अन्तर्मुहूर्त जितने अल्प समय तक स्थिर रहता है। इस गुणस्थान के अन्तिम चरण में साधक के ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय – ये तीनों आवरण नष्ट होने लगते हैं। इसलिए इस गुणस्थान का पूरा नाम क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ भी है।[९८] इसमें साधक अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तशक्ति से आध्यात्मिक विकास की अग्रिम श्रेणी को उपलब्ध करता है। इस गुणस्थान की जघन्य एवं उत्कृष्ट समयावधि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। क्षपक श्रेणीवाले साधक ही इस गुणस्थान को उपलब्ध करते हैं और इस क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती आत्मा की स्थिति उत्कृष्ट अन्तरात्मा की स्थिति है।

## १३. सयोगीकेवली गुणस्थान

इस गुणस्थान में साधक आध्यात्मिक विकास कर परम विशुद्धि को प्राप्त करता है। गुणस्थान की दृष्टि से यह सयोगीकेवली तेरहवां गुणस्थान है। इस गुणस्थान में आत्मा के मूल गुणों का घात करनेवाले चारों घातीकर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय

---

[९५] (क) समयसार गा. ३३ ।
(ख) द्रव्यसंग्रह टीका गा. १३ पृ. ३५ ।
[९६] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. ६२ ।
[९७] तत्त्वार्थवार्तिक ९/१/२२ पृ. ५९० ।
[९८] षट्खण्डागम १/१/१ सू. २० ।

और अन्तराय) का सर्वथा नाश हो जाता है,[९९] लेकिन चार अघातीकर्म शेष रहते हैं। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय - इन चार अघातीकर्मों के शेष रहने के कारण आत्मा देह से मुक्त नहीं होती तथा उसके सम्बन्ध का परित्याग भी नहीं करती है।[१००] सयोगीकेवली गुणस्थानवर्ती जीवात्मा के बन्धन के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय और योग - इन पांच कारणों के योग को छोड़कर शेष चार कारण नष्ट हो जाते हैं, किन्तु आत्मा और देह का सम्बन्ध रहने से मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तिरूप योग बने रहते हैं। इनके कारण प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है, परन्तु कषाय का अभाव होने से स्थिति और अनुभागबन्ध नहीं होता। पहले क्षण में बन्धन और दूसरे क्षण में उदय एवं तीसरे क्षण में कर्म परमाणु निर्जरित होते हैं। इस अवस्था में कर्मों के बन्धन और विपाक की प्रक्रिया को औपचारिकता ही जानना चाहिए। इन योगों के अस्तित्व के कारण इसे सयोगीकेवली गुणस्थान कहा जाता है। मोक्षरुपी लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए आत्मा को इन प्रयोगों का निरोध करना होता है। सयोगीकेवली सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति शुक्लध्यान का आश्रय लेकर जब योग व्यापार को निरूद्ध कर देता है, तो अग्रिम श्रेणी अयोगीकेवली अवस्था की ओर अग्रसर हो जाता है। सयोगीकेवली गुणस्थान साधक और सिद्ध के बीच की अवस्था है। जैनदर्शन में इस अवस्था को अर्हत्, सर्वज्ञ या केवली अवस्था कहा जाता है। सयोगीकेवली गुणस्थान में जीव तीर्थंकर हो तो वे तीर्थ की स्थापना करते हैं। देशना देकर तीर्थ प्रवर्तन करते हैं।[१०१] इस गुणस्थान में केवली भगवान जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से कुछ न्यून करोड़ पूर्व वर्ष तक रहते हैं। इस तेरहवें गुणस्थानवर्ती की आत्मा परमात्मा की द्योतक है।

---

[९९] (क) 'तत्र भावमोक्ष, केवलज्ञानोपपत्तिः जीवन्मुक्तोर्हत्पदमित्येकार्थः ।'
-पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति टीका गा. १५० पृ. २१६ ।
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवप्रबोधिनी टीका, गा. ६३/६४ ।

[१००] 'घातिकर्मक्षये लब्धवा, नवकेवल लब्ध्यः ।
येनासौ विश्वतत्त्वज्ञः, सयोगः केवली विभुः ।।' -संस्कृत पंचसंग्रह १/४२ ।

[१०१] (क) प्रवचनसार १/४५;
(ख) विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य धवला १/१/२९ व पृ. १९१ एवं १९९ ।

## १४. अयोगीकेवली गुणस्थान

अयोगीकेवली गुणस्थान की प्राप्ति आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा है। यह साधना की अन्तिम मंजिल है। अयोगीकेवली गुणस्थानवर्ती साधक मन, वचन और काया के योगों का निरोध करके शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है। शैलेशी और निर्विकल्प अवस्था को अयोगीकेवली गुणस्थान कहा जाता है। वे नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति यदि आयुकर्म से अधिक हो तो उसे बराबर करने हेतु प्रथम केवलीसमुद्घात करते हैं और उसके पश्चात् सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान द्वारा केवली परमात्मा की आत्मा सुमेरूपर्वत की तरह निष्प्रकम्प स्थिति की उपलब्धि करके शरीर त्यागकर स्वस्वरूप में अधिष्ठित हो जाती है - निरुपाधिक सिद्धि या मुक्ति को प्राप्त कर लेती है। यही परमविशुद्धि, पूर्णता, कृत-कृत्यता तथा अव्याबाध आनन्द की अविचल स्थिति है। ज्ञानसार में इस अयोगीकेवली गुणस्थान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि त्याग-परायण साधक को अन्ततः सभी योगों का त्याग करना होता है। मेघ-शून्य गगन में चमकते हुए चन्द्र की तरह ही इस गुणस्थानवर्ती आत्मा अपने सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूप में प्रतीत होती है।[१०२]

इस अयोगीकेवली गुणस्थान में चारित्र-विकास और स्वरूप-स्थिरता की चरम स्थिति होती है। इस गुणस्थान का स्थितिकाल अत्यन्त अल्प होता है। जितना समय पांच ह्रस्व स्वरों अ, इ, उ, ऋ, लृ को मध्यमस्वर से उच्चारण करने में लगता है उतने ही समय तक इस गुणस्थान में आत्मा रहती है।[१०३] यह योग सन्यास है - यह सर्वांगीण पूर्णता है और चरम आदर्श की प्राप्ति है।

षट्खण्डागम की धवलाटीका में आचार्य वीरसेन ने अयोगीकेवली गुणस्थान का विवेचन इस प्रकार किया है कि जिस साधक के मन, वचन और कायारूप योग नहीं होता है; उसे

---

[१०२] (क) ज्ञानसार, त्यागअष्टक श्लोक ७-८;
(ख) 'दर्शन और चिंतन' भाग २ पृ. २७५ उद्धृत। -प. सुखलालजी।

[१०३] जीव अजीव, पृ. ७२।

अयोगी केवली कहा जाता है।[१०४] वे योगरहित केवली परमात्मा अयोगीकेवली जिन कहलाते हैं। गोम्मटसार (जीवकाण्ड) की मन्दप्रबोधिनी टीका तथा केशववर्णी की जीवप्रबोधिनी टीका में भी इसकी जो चर्चा उपलब्ध होती हैं,[१०५] वह इस प्रकार है कि तेरहवें गुणस्थान में घातीकर्मों का अभाव रहता है और अघातीकर्मों का क्षय होता है। इस अयोगीकेवली गुणस्थान में आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप चमकने लगता है। गोम्मटसार में कहा गया है कि इस १४वें गुणस्थानवर्ती साधक के कर्मों के आगमन का आश्रवरुपी द्वार पूर्णतः निरूद्ध हो जाता है एवं जिनके समस्त कर्मों की निर्जरा हो चुकी है, ऐसी अयोगदशा इस अयोगीकेवली गुणस्थान की होती है।[१०६] इस गुणस्थानवर्ती आत्मा परमात्मा कही जाती है।

।। षष्टम अध्याय समाप्त।।

---

[१०४] 'न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोगः केवलमयातीति केवली ।
अयोगश्च सो केवली च अयोगी केवली ।।' -धवला १/१/१ सूत्र २२ पृ. १६२ ।

[१०५] (क) गोम्मटसार जीवकाण्ड) मन्दप्रबोधनी टीका गा. ६५ ।
(ख) वही जीवप्रबोधनी टीका ११, १० ।

[१०६] 'सीलेसिं संपत्तो निरूद्धणिस्सेसआसओ जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ।। ६५ ।।' -गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ।

# बहिरात्मा

अध्याय ७

# आधुनिक मनोविज्ञान और त्रिविध आत्मा की अवधारणा

## ७.१ अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी व्यक्तित्व की अन्तरात्मा और बहिरात्मा से तुलना

त्रिविध आत्मा की इस अवधारणा की आधुनिक मनोविज्ञान - विशेष रूप से व्यक्तित्व मनोविज्ञान और असामान्य मनोविज्ञान से बहुत कुछ समरूपता देखी जाती है। व्यक्तित्व मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के दो प्रकारों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी कहा जाता है। हम देखते हैं कि त्रिविध आत्मा की अवधारणा में भी अन्तरात्मा और बहिरात्मा का उल्लेख है। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें, तो जैनदर्शन में जो बहिरात्मा के लक्षण बताए गये हैं, प्रायः वही लक्षण आधुनिक मनोविज्ञान में बर्हिमुखी व्यक्तित्व के हैं। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार बहिर्मुखी व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों में रुचि लेता है। वह दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलने तथा उठने-बैठने में अधिक रुचि रखता है और इसमें आनन्द की अनुभूति करता है। उसकी जीवनदृष्टि यथार्थवादी और भोगपरक होती है। अच्छा खाना-पीना और सुख-सुविधाओं का भोग करना ही उसके जीवन का लक्ष्य होता है। स्वभाव से वह हंसमुख होता है। वह सामाजिक जीवन के क्रियाकलापों में न केवल अधिक रुचि रखता है, अपितु अपने उन सामाजिक सम्बन्धों को जीवन्त बनाए रखता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार बर्हिमुखी व्यक्ति भावनाशील होता है। वह निर्णय तो जल्दी लेता है, किन्तु उसके क्रियान्वयन में देरी करता है। बर्हिमुखी सामान्यतः व्यवसाय एवं खेलकूद तथा सामाजिक और

राजनैतिक क्षेत्र में नेतृत्व करने में अधिक रुचि रखता है। यदि इन तथ्यों पर जैनदर्शन के बहिरात्मा की दृष्टि से विचार करें तो हमें ऐसा लगता है कि बहिरात्मा के भी वही लक्षण हैं, जो बहिर्मुखी व्यक्तित्व के हैं। बहिरात्मा भी सांसारिक, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों में अधिक रुचि रखता है। उसकी जीवनदृष्टि भोगवादी होती है। बहिरात्मा भी बहिर्मुखी व्यक्ति की तरह ही मनोभावनाओं से प्रभावित होती है। वह ऐन्द्रिक और जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानती है।

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए आधुनिक मनोवैज्ञानिक यह बताते हैं कि अन्तर्मुखी व्यक्ति की रुचि सामाजिक और बाह्य जगत् में नहीं होती है। वह आत्म केन्द्रित एवं एकान्तप्रिय होता है। उसकी रुचि चिन्तन और मनन में होती है। वह अपने विचारों में खोया रहता है और आदर्शवादी होता है। सामाजिक परिवेश की अपेक्षा उसे प्राकृतिक परिवेश अर्थात् एकान्त अधिक अच्छा लगता है। वह कोई भी निर्णय जल्दी में नहीं लेता है। सामान्यतः दार्शनिक, कवि, वैज्ञानिक इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें, तो हम यह पाते हैं कि जैनदर्शन में अन्तरात्मा के जो लक्षण बताए गये हैं, उनमें से कुछ लक्षण अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के भी होते हैं। अन्तरात्मा सांसारिक भोगों से विरक्त रहती है। उसकी रुचि आत्म-चिन्तन में होती है। एकान्त में ध्यानादि करना उसे अधिक प्रिय लगता है। वह विचार-प्रधान और आदर्शवादी होती है। उसकी जीवनदृष्टि आत्मनिष्ठ होती है। इस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान जिसे अन्तर्मुखी व्यक्ति कहता है उसे ही जैनदर्शन सामान्यतः अन्तरात्मा कहता है।

यद्यपि यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्तित्व के इन दोनों प्रकारों की चर्चा मुख्य रूप से उनकी मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के आधार पर करता है, जबकि जैन दर्शन बहिरात्मा और अन्तरात्मा की यह चर्चा उनके आध्यात्मिक गुणों के अविकास या विकास के आधार पर करता है। मनोविज्ञान का आधार मुख्य रूप से व्यक्ति का व्यवहार ही है, जबकि जैनदर्शन में इस विभाजन

का आधार व्यक्ति की आध्यात्मिक विशुद्धि होता है। फिर भी दोनों में जो कुछ व्यवहारगत समरूपताएँ हैं, उससे हम इन्कार भी नहीं कर सकते। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि बर्हिमुखी व्यक्ति यथार्थवादी और भोगप्रिय होता है। उसकी रुचि पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों को प्रगाढ़ करने में होती है। इसके विपरीत अन्तर्मुखी व्यक्ति आदर्शवादी और आत्मकेन्द्रित होता है। वह सामाजिक जीवन में रस न लेकर एकान्तप्रिय होता है। अतः किसी सीमा तक आधुनिक मनोविज्ञान के बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की समरूपता क्रमशः बहिरात्मा और अन्तरात्मा से मानी जा सकती है।

## ७.२ फ्रायड की त्रिविध अहम् की अवधारणा और त्रिविध आत्मा की अवधारणा

आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड का महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रायड पहले मनोवैज्ञानिक थे, जिन्होंने मन के अहम् के गत्यात्मक स्वरूप को समझकर उसे तीन विभागों में बाँटा था। उनके अनुसार हमारा अहम् तीन प्रकार का होता है :

१. वासनात्मक अहम् (अबोधात्मा);
कान्शस माइंड (चेतन मन)
२. चेतनात्मक अहम् (बोधात्मा);
अनकान्शस माइंड (अचेतन मन)
३. आदर्शात्मक अहम् (आदर्शात्मा);
सुपरकान्शस माइंड (अतिचेतन मन)

फ्रायड ने इन्हें क्रमशः इड (ID) इगो (EGO) और सुपर इगो (SUPER EGO) के नाम से अभिहित किया है। भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने इन तीनों को क्रमशः १. अबोधात्मा; २. बोधात्मा और ३. आदर्शात्मा के रूप में चित्रित किया है। मनुष्य के अन्दर वासनाओं और आदर्शों का जो संघर्ष चलता है, उसके मूल में हमारे अहम् के ये तीनों स्तर ही काम करते हैं। फ्रायड के

अनुसार व्यक्ति का व्यक्तित्व इन तीनों की पारस्परिक प्रभावशीलता के आधार पर ही निर्मित होता है।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो इन तीनों का सम्बन्ध त्रिविध आत्मा के साथ देखा जा सकता है। जिसे फ्रायड अबोधात्मा या वासनात्मक अहम् कहता है, उसे ही जैनदर्शन में बहिरात्मा कहा गया है। जिसे फ्रायड ने बोधात्मा या चेतनात्मक सजग अहम् कहा है, उसे ही जैनदर्शन अन्तरात्मा कहता है। इसी प्रकार फ्रायड का आदर्शात्मक अहम् जैनदर्शन का परमात्मा है, क्योंकि जैनदर्शन में परमात्मा उसे ही कहा गया है जिसमें उच्च आदर्श साकार हो उठते हैं। इस तुलनात्मक चिन्तन को अधिक स्पष्ट करने के लिये सर्वप्रथम हम फ्रायड के चेतना के इन स्तरों के स्वरूप की चर्चा करेंगे। ज्ञातव्य है कि फ्रायड ने जिस अर्थ में इगो शब्द का प्रयोग किया है, उसे किसी रूप में बहिरात्मा कहा जा सकता है।

अबोधात्मा या वासनात्मक अहम् (ID)

फ्रायड के अनुसार अबोधात्मा या वासनात्मक अहम् वासनाओं और इच्छाओं का भण्डार है। यह माना गया है कि मनुष्य की सभी इच्छाओं और आकाँक्षाओं का जन्म इसी अबोधात्मा या वासनात्मक अहम् के आधार पर होता है।

फ्रायड के अनुसार अबोधात्मा या वासनात्मक अहम् सभी मनोजैविक वैज्ञानिक शक्तियों का मूल है। यह सुखेच्छा के द्वारा संचालित होता है। चेतना के इस स्तर पर समय, स्थान, उचित, अनुचित का कुछ भी बोध नहीं होता। वह अच्छे और बुरे के विवेक से रहित होता है। इस स्तर पर वासनाएँ ही प्रधान होती हैं। वे विवेक को अपने पास फटकने भी नहीं देती हैं। इस स्तर पर व्यक्ति जैविक आकाँक्षाओं और ऐन्द्रिक इच्छाओं के आधार पर ही व्यवहार करता है। यहाँ वह उचित और अनुचित का विचार नहीं करता है। इस स्तर पर संयम और आत्मानुशासन के तत्व भी पूर्णतः अनुपस्थित रहते हैं। व्यक्ति का व्यवहार मन और

इन्द्रियों के द्वारा ही संचालित होता है। मन और इन्द्रियाँ बिना उचित-अनुचित का विचार किये अपनी वासनाओं की पूर्ति का प्रयत्न करती रहती हैं। यहाँ मनुष्य का व्यवहार पशु जगत् के समान मूलप्रवृत्यात्मक होता है।

तुलनात्मकदृष्टि से यदि हम विचार करें तो जैनदर्शन में बहिरात्मा के जो लक्षण बताए गये हैं, वे फ्रायड की इस अबोधात्मा या इड के समरूप ही हैं। वासनाप्रधान और भोगप्रधान जीवनदृष्टि बहिरात्मा का मुख्य लक्षण है और यही बात अबोधात्मा या इड के सम्बन्ध में भी सत्य है।

### बोधात्मा (EGO)

फ्रायड के अनुसार बोधात्मा आत्मचेतना की अवस्था है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह आत्मसजगता की अवस्था है। इसे बोधात्मा इसलिए ही कहा जाता है कि यह किसी भी इच्छा की पूर्ति के प्रयत्नों के पूर्व उनके परिणामों पर विचार करने के लिये बाध्य करती है। बोधात्मा के समक्ष जहाँ एक ओर अबोधात्मा या वासनात्मक अहम् अपनी इच्छाओं और आकाँक्षाओं को प्रस्तुत करता है, तो दूसरी ओर आदर्शात्मा व्यवहार के आदर्शों को या क्या उचित है और क्या अनुचित है, इसकी कसौटी को प्रस्तुत करती है। बोधात्मा का कार्य इन दोनों ही पक्षों को जानकर उनके मध्य समन्वय उत्पन्न करने का होता है। फ्रायड के अनुसार बोधात्मा, अबोधात्मा से उत्पन्न इच्छाओं तथा आदर्शात्मा के द्वारा प्रस्तुत आदर्शों के मध्य एक समन्वय करती हुई व्यक्ति और उसके वातावरण के बीच एक सामंजस्य स्थापित करती है। इसीलिए बोधात्मा को व्यवहार का मुख्य प्रशासक कहा गया है। यद्यपि फ्रायड यह मानता है कि बोधात्मा का सम्बन्ध मुख्यतः बाह्य वातावरण से ही रहता है – नैतिकता या धर्म से नहीं। किन्तु हमारी दृष्टि में बोधात्मा का सम्बन्ध मात्र बाह्य वातावरण से ही नहीं रहता। उसका सम्बन्ध धर्म, नैतिकता, सभ्यता और संस्कृति द्वारा मान्य उच्च आदर्शों से भी है। बोधात्मा को जो सामंजस्य

करना होता है वह अबोधात्मा और आदर्शात्मा के मध्य करना होता है। एक ओर अबोधात्मा (इड) से उत्पन्न वासनाएँ और आकांक्षाएँ अपनी मांग प्रस्तुत करती हैं, तो दूसरी ओर आदर्शात्मा उनके औचित्य और अनौचित्य अथवा करणीय या अकरणीय होने के आदर्शों को प्रस्तुत करती है। बोधात्मा का कार्य इन दोनों के मध्य समन्वय स्थापित करना होता है। जब बोधात्मा इनके बीच समन्वय स्थापित करने में सफल होती है, तो व्यक्ति का व्यक्तित्व सन्तुलित रहता है। किन्तु जब वह इनके बीच समन्वय स्थापित करने में असमर्थ होती है, तो वह वासनात्मक अहं की मांगों को अचेतन में ढकेल देती है और वासनात्मक अहम् की ये दमित इच्छाएँ अचेतन में बैठकर व्यक्तित्व के व्यवहार को विश्रृंखलित करती रहती हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति हताशा और तनावों का शिकार बन जाता है। दमित वासनाएँ उसके व्यक्तित्व को विखण्डित कर देती हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि जैनदर्शन की अन्तरात्मा और फ्रायड की बोधात्मा में कुछ समरूपताएँ और कुछ विभिन्नताएँ हैं। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार बोधात्मा करणीय और अकरणीय का निर्धारक तत्व है। जैनदर्शन भी यह मानता है कि अन्तरात्मा हेय, ज्ञेय और उपादेय का विचार करती है। साथ ही, जिस प्रकार बोधात्मा को मनोव्यवहार का मुख्य प्रशासक माना गया है उसी प्रकार जैनदर्शन में अन्तरात्मा को भी मन और वासना का शासन करनेवाली बताया है। जिस प्रकार बोधात्मा वासनाओं और इच्छाओं पर संयम का अंकुश लगाती है, उसी प्रकार अन्तरात्मा भी अपनी वासनाओं और इच्छाओं को संयमित करती है। फिर भी दोनों में अन्तर यह है कि फ्रायड का चेतनात्मक अहम् प्रतिकूल परिस्थितियों से समझौता करना सिखाता है और उसके समक्ष नैतिक या आध्यात्मिक मूल्य प्रमुख नहीं होते हैं। उदाहरण के रूप में किसी व्यक्ति में किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न होती है, किन्तु उसे क्रय करने की उसकी आर्थिक क्षमता नहीं है। ऐसी स्थिति में

अबोधात्मा कहेगी कि चोरी कर लो। उस समय बोधात्मा कहेगी कि यहाँ चोरी करोगे तो पकड़े जाओगे। अतः वह सलाह देगी कि एकान्त में रात्रि के समय सावधानी से चोरी करना। इसके विपरीत जैनदर्शन की अन्तरात्मा कहेगी कि चोरी करना अनैतिक है, पाप है अतः चोरी मत करो, अपनी इच्छा को संयमित करो।

यहाँ दोनों में यह अन्तर है कि जहाँ फ्रायड की विवेचना का आधार मनोवैज्ञानिक व्यवहार का पक्ष है वहीं जैनदर्शन का आधार आध्यात्मिक है।

### आदर्शात्मा (SUPER EGO)

फ्रायड ने आदर्शात्मा को बोधात्मा के आदर्श (SUPER EGO) के रूप में स्थापित किया है। फ्रायड के अनुसार आदर्शात्मा का गहरा सम्बन्ध सभ्यता, संस्कृति, धर्म और नैतिकता से है। उसके अनुसार आदर्शात्मा का निर्माण एवं विकास मानवीय गुणों और उसके उच्च आदर्शों के आधार पर होता है। जो व्यक्ति जिस प्रकार की सभ्यता और संस्कृति में रहता है उसकी आदर्शात्मा उतनी ही विकसित होगी। आदर्शात्मा का विकास समाज, धर्म और संस्कृति की कार्यशाला में ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदर्शात्मा अबोधात्मा के ठीक विपरीत है। अबोधात्मा की संरचना जैविक वासनाओं के आधार पर ही होती है, तो आदर्शात्मा की संरचना आध्यात्मिक आदर्शों के आधार पर होती है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि जैनदर्शन की परमात्मा और आदर्शात्मा में कुछ समानताएँ हैं, तो कुछ विषमताएँ हैं। आधुनिक मनोविज्ञान जहाँ आदर्शात्मा को सभ्यता, संस्कृति, धर्म और नैतिकता के आधार पर निर्मित मानता है, वहाँ जैनदर्शन आदर्शों को आत्मा में अनुस्यूत मानता है। वह यह कहता है कि आदर्श निर्मित नहीं होते - वे आत्मा में स्वतः ही अपना अस्तित्व रखते हैं। जैनदर्शन की मान्यता है कि आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में आदर्श रूप ही है, विकृतियाँ तो आती हैं और वे समाप्त भी की जा सकती हैं। इस प्रकार जैनदर्शन में

आदर्शात्मा या परमात्मा संस्कारजन्य नहीं है। वह स्व-स्वभाव है। जैनदर्शन के अनुसार परमात्मा को आदर्शों का पुंज माना गया है। उसी प्रकार आदर्शात्मा भी आदर्शों की पुंज है। अतः दोनों में आंशिक समरूपता ही देखी जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन की बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की अवधारणा किसी सीमा तक मनोविज्ञान की अबोधात्मा, बोधात्मा और आदर्शात्मा के समरूप है।

।। सप्तम अध्याय समाप्त।।

---

प्रस्तुत विवेचन में अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी पर्याय एवं विवेचन श्री जयानन्द पाण्डे कृत असामान्य मनोविज्ञान पर आधारित हैं।

अध्याय ८

# उपसंहार

जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा वस्तुतः आत्मा की आध्यात्मिक विकास यात्रा की सूचक है। बहिरात्मा अन्तरात्मा बनकर किस प्रकार से परमात्मपद को प्राप्त कर सकती है, यह बताना ही त्रिविध आत्मा की अवधारणा का मुख्य लक्ष्य है। उसमें बहिरात्मा संसारी जीव है, जो विषयभोगों और वासनाओं में उलझी हुई है। उसका जीवन पशुवत् ही होता है। पशु से पशुपति या परमात्मा किस प्रकार बना जाय, इसकी साधना अन्तरात्मा के द्वारा की जाती है। जो अन्तरात्मा इस साधना को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेती है; वह परमात्मा बन जाती है।

जैनदर्शन यह मानता है कि प्रत्येक आत्मा स्वरूपतः परमात्मा ही है। कर्मावरण के कारण ही उसकी आध्यात्मिक शक्तियाँ कुण्ठित हैं और वह संसार में परिभ्रमण कर रही है। जिस प्रकार बीज जब तक अपने आवरण को नहीं तोड़ता है, तब तक वह वृक्ष नहीं बन पाता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी कर्मरूपी आवरण को जब तक नहीं तोड़ती है, तब तक वह परमात्मस्वरूप को प्राप्त नहीं होती है। जैनदर्शन यह मानता है कि जब तक यह आत्मा कर्मावरण के निमित्त से विषयोन्मुख बनी हुई है और उसने संसारिक भोगों की उपलब्धि को ही अपना चरम् लक्ष्य बना रखा है, तब तक उसको परमात्मस्वरूप उपलब्ध नहीं होता। त्रिविध आत्मा की अवधारणा हमें यह बताती है कि जीव को शिव या आत्मा को परमात्मा बनने के लिए उसे अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को छोड़कर अन्तर्मुख होना पड़ेगा। अन्तर्मुख होने का तात्पर्य यह है कि अपने में रहे हुए विकारों और वासनाओं को देखें और उन्हें साधना के माध्यम से दूर करे; तभी वह परमात्मपद को प्राप्त कर सकेगा। वस्तुतः बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को छोड़कर अन्तर्मुखी बनकर

ही आत्मा परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर सकती है।

एक अन्य अपेक्षा से त्रिविध आत्मा की अवधारणा हमारे आध्यात्मिक विकास और अविकास को ही सूचित करती है। बहिरात्मा व्यक्ति की अविकास की अवस्था है जबकि परमात्मा आत्मा के विकास की पूर्णता का सूचक हैं। जो बहिरात्मा अन्तर्मुख होकर परमात्मपद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न और पुरुषार्थ करती है, वही अन्तरात्मा हो जाती है। अन्तरात्मा बहिरात्मा के परमात्मा बनने की प्रक्रिया का ही नाम है।

जैनदर्शन में आध्यात्मिक विकास के विभिन्न चरणों को लेकर अनेक अवधारणाएँ उपलब्ध होती हैं। उसका षड्लेश्या का सिद्धान्त यह बताता है कि अशुद्ध मनोवृत्तियों से ऊपर उठता हुआ व्यक्ति किस प्रकार शुभ और शुद्ध निर्विकल्प दशा को प्राप्त होता है। लेश्याएँ क्या हैं और किस प्रकार वे हमारी मनोभूमियों के अशुभत्व, शुभत्व और शुद्धत्व को प्रस्तुत करती हैं, इसकी चर्चा हमने प्रथम अध्याय में की है। षड्लेश्या की अवधारणा के समान ही जैनदर्शन में आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से कर्मविशुद्धि की दस गुणश्रेणियों और चौदह गुणस्थानों की चर्चा भी मिलती है।

जैनदर्शन में आत्मा के परमात्मस्वरूप को आवृत्त करने वाला मुख्य तत्त्व कर्म है। कर्मावरण के धीरे-धीरे क्षीण होने की अपेक्षा से जैनदर्शन में दस गुण श्रेणियों की चर्चा है। ये दस गुण श्रेणियाँ निम्न हैं :

(१) सम्यग्दृष्टि; (२) देशविरत; (३) सर्वविरत;
(४) अनन्तवियोजक; (५) दर्शनमोहक्षपक; (६) उपशमक;
(७) उपशान्त; (८) क्षपक; (९) क्षीणमोह; और
(१०) जिन।

इन दस अवस्थाओं में नौ अवस्थाएँ तो आत्मा के आध्यात्मिक विकास की सूचक हैं और दसवीं 'जिन' अवस्था परमात्मा की सूचक है। इन दस अवस्थाओं में बहिरात्मा का समावेश नहीं है; क्योंकि बहिरात्मा जब तक अन्तरात्मा नहीं बनती, तब तक उसकी आध्यात्मिक विकास यात्रा प्रारम्भ नहीं होती।

जैनदर्शन में आध्यात्मिक विकास को सूचित करनेवाला एक

अन्य सिद्धान्त गुणस्थान सिद्धान्त है। इसमें आध्यात्मिक विकास की अपेक्षा से निम्न चौदह अवस्थाओं का उल्लेख है :

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान;
(२) सास्वादन गुणस्थान;
(३) सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान;
(४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान;
(५) देशविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान;
(६) प्रमत्त संयत गुणस्थान;
(७) अप्रमत्त संयत गुणस्थान;
(८) अपूर्वकरण गुणस्थान;
(९) अनिवृत्तिकरण-बादर सम्पराय गुणस्थान;
(१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान;
(११) उपशान्तमोह गुणस्थान;
(१२) क्षीणमोह गुणस्थान;
(१३) सयोगी केवली गुणस्थान और
(१४) अयोगी केवली गुणस्थान।

इनमें प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में जीव को बहिरात्मा कहा गया है। सास्वादन गुणस्थान तथा सम्यक्-मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान भी वस्तुतः बहिरात्मा के ही रूप हैं। गुणस्थान सिद्धान्त में इनको आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था माना गया है। अतः चौदह गुणस्थानों में प्रथम तीन गुणस्थान बहिरात्मा के सूचक हैं। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की अवस्थाएँ अन्तरात्मा की सूचक हैं और सयोगीकेवली तथा अयोगीकेवली ये दो अवस्थाएँ परमात्मपद की सूचक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आध्यात्मिक विकास की अपेक्षा से त्रिविध आत्मा की अवधारणा संक्षेप में इन तथ्यों को सूचित करती है कि बहिरात्मा किस प्रकार परमात्मा तक की यात्रा करती है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में हमने इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर जीवात्मा के स्वरूप और उसकी विभिन्न अवस्थाओं की चर्चा करते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि किस प्रकार बहिरात्मा अपने बन्धन को समाप्त करते हुए अपनी साधना से मुक्ति प्राप्त कर परमात्मपद को प्राप्त होती है। वस्तुतः विविध आत्मा की अवधारणा में बहिरात्मा वह चेतन तत्त्व है जो अभी

अपने विकास के मार्ग को प्राप्त नहीं कर पाया है। अन्तरात्मा वह आत्मा है जिसने अपने विकास के मार्ग को न केवल जान लिया है, बल्कि उस पर अपनी यात्रा भी प्रारम्भ कर दी है।

इसके द्वितीय अध्याय में हमने यह देखने का प्रयास किया है कि जिस प्रकार जैनदर्शन में आध्यात्मिक विकास की अपेक्षा से त्रिविध आत्मा की अवधारणा प्रस्तुत की गई है, उसी प्रकार बौद्धदर्शन और हिन्दू धर्मदर्शन में आध्यात्मिक विकास को लेकर किस प्रकार की चर्चा उपलब्ध होती है। इस तुलनात्मक विवेचन में हमने यह पाया है कि न केवल जैनदर्शन में अपितु औपनिषदिक चिन्तन में भी त्रिविध आत्मा की अवधारणा के बीज समाहित हैं।

उपनिषदों में आत्मा की दो स्थितियों का उल्लेख हुआ है - बहिःप्रज्ञ और अन्तःप्रज्ञ। ये दो प्रकार की आत्माएँ जैनदर्शन के बहिरात्मा और अन्तरात्मा के समकक्ष ही हैं। उपनिषदों में भी विषयोन्मुख (भोगोन्मुख) आत्मा को ही बहिःप्रज्ञ कहा गया है। इसी प्रकार आत्मोन्मुखी को ही अन्तःप्रज्ञ कहा गया है। चाहे उपनिषदों में परमात्मदशा का स्पष्ट उल्लेख न हुआ हो किन्तु उपनिषदों के अनेक वाक्य इस तथ्य के सूचक हैं कि यह आत्मा ही परमात्मा है। उपनिषदों का उद्घोष : "अयं आत्मा ब्रह्मः" इस तथ्य को सूचित करता है कि उनके अनुसार भी बहिरात्मा अन्तर्मुख होकर परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। उपनिषदों में आध्यात्मिक विकास की निद्रा, स्वप्न, जाग्रति और तुरीय अवस्था का भी उल्लेख प्राप्त होता है। एक अन्य अपेक्षा से उपनिषदों में पंचकोशों की चर्चा भी मिलती है। ये चर्चाएँ आध्यात्मिक विकास यात्रा की सूचक हैं। इस प्रकार औपनिषदिक काल से कहीं न कहीं त्रिविध आत्मा की अवधारणा के बीज रहे हुए हैं।

बौद्धदर्शन में भी दो प्रकार के व्यक्तियों के उल्लेख मिलते हैं। एक जो संसाराभिमुख हैं और दूसरे वे जो निर्वाणाभिमुख हैं। संसाराभिमुख व्यक्ति बहिरात्मा है और निर्वाणाभिमुख व्यक्ति अन्तरात्मा। जैन परम्परा में त्रिविध आत्मा की अवधारणा की चर्चा आगमयुग के पश्चात् लगभग पाँचवी शताब्दी से प्राप्त होती है। आगमकाल में भगवतीसूत्र में आठ प्रकार की आत्माओं का उल्लेख प्राप्त होता है। उसमें कषायात्मा बहिरात्मा है। ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा

और उपयोगात्मा अन्तरात्मा के स्वरूप की सूचक हैं।

जैनदर्शन में यद्यपि त्रिविध आत्माओं का उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द के काल से ही मिलता है, फिर भी प्राचीन आगमों में चाहे अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा जैसे शब्दों का प्रयोग न हुआ हो, किन्तु इन तीनों प्रकार के व्यक्तित्वों के स्वरूप-लक्षण का विवेचन विस्तार से मिलता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में हमने जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की विकास यात्रा किस रूप में हुई है, इसका विस्तार से विवेचन किया है। इसमें हमने यह देखा कि आचार्य कुन्दकुन्द से प्रारम्भ करके स्वामी कार्तिकेय, पूज्यपाद देवनन्दी, योगीन्दुदेव, शुभचन्द्र आदि दिगम्बर आचार्य अपने ग्रन्थों में त्रिविध आत्मा की अवधारणा का उल्लेख करते रहे हैं। मात्र यही नहीं, इनके पश्चात् आशाधर, बनारसीदास, द्यानतराय, टोडरमल, भैया भगवतीदास आदि उत्तर-मध्यकालीन लेखकों ने भी त्रिविध आत्मा की अवधारणा की विस्तार से चर्चा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिविध आत्मा की अवधारणा को लेकर दिगम्बर परम्परा में निरन्तर चर्चा होती रही है। इस सबका उल्लेख भी हमने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में विस्तार से किया है। यहाँ एक बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा में त्रिविध आत्मा का यह उल्लेख सर्वप्रथम बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में मिलता है। इसके पूर्व किसी भी श्वेताम्बर आचार्य ने त्रिविध आत्मा की अवधारणा की कोई चर्चा नहीं की। आचार्य हेमचन्द्र के भी लगभग पाँच सौ वर्ष पश्चात् यशोविजय, आनन्दघन और देवचन्द्र जैसे श्वेताम्बर सन्त हुए हैं, जो त्रिविध आत्मा की अवधारणा की विस्तृत चर्चा करते हैं। इस आधार पर ऐसा लगता है कि त्रिविध आत्मा की यह अवधारणा दिगम्बर परम्परा के प्रभाव से ही श्वेताम्बर परम्परा में विकसित हुई है। इस प्रकार इस अनुसन्धान में हमने यह पाया है कि दिगम्बर परम्परा की अपेक्षा श्वेताम्बर परम्परा ने त्रिविध आत्मा की चर्चा में कम रूचि प्रदर्शित की है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय त्रिविध आत्मा की अवधारणा के औपनिषदिक एवं बौद्ध परम्परा से तुलनात्मक अध्ययन के साथ-साथ श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में त्रिविध

आत्मा की अवधारणा का विकास कैसे हुआ, इसे सूचित करता है।

त्रिविध आत्मा की अवधारणा में बहिरात्मा का स्वरूप क्या है? वे कौनसे लक्षण हैं जिनके आधार पर किसी आत्मा को बहिरात्मा कहा जाता है ? इसकी चर्चा तृतीय अध्याय में करने के साथ-साथ ही बहिरात्मा की विभिन्न अवस्थाएँ कौन-कौनसी हैं और बहिरात्मा के कितने प्रकार माने जा सकते हैं, इसका भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अति संक्षेप में कहें तो जो आत्मा संसाराभिमुख है, विषय-वासनाओं की पूर्ति को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानता है; जिसकी दृष्टि भोगवादी और स्वार्थपरक है - उसे ही बहिरात्मा कहा जाता है। जैन दार्शनिकों ने मिथ्यादृष्टि आत्मा को बहिरात्मा कहा है और मिथ्यादृष्टि उसे बताया है जिसमें आत्म-अनात्म के विवेक का विकास नहीं हुआ है। जो देव, गुरू और धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ है और जिसने भेद विज्ञान के माध्यम से आत्म-अनात्म के भेद को सम्यक् प्रकार से नहीं समझा है; वही आत्मा अपने उपरोक्त लक्षणों के कारण बहिरात्मा कही जाता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में हमने इस प्रश्न की समीक्षा भी की है कि क्या अविरत सम्यग्दृष्टि बहिरात्मा है ? यद्यपि सामान्यतः अविरत सम्यग्दृष्टि को बहिरात्मा या जघन्य अन्तरात्मा के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु हमारी दृष्टि में अविरत सम्यग्दृष्टि को अपने दृष्टिकोण के आधार पर अन्तरात्मा भले ही कहा जाय, किन्तु अपने आचार पक्ष की दृष्टि से तो वह बहिरात्मा ही है। यद्यपि उसमें सम्यक् समझ का विकास हो चुका है, फिर भी जब तक सम्यक् समझ जीवन के व्यवहार में नहीं उतारी जाती, तब तक वह अन्तरात्मा के रूप में अध्यात्मपथ का राही नहीं बनता। वस्तुतः किसी आत्मा के बहिरात्मा होने का मुख्य आधार उसकी मनोवृत्ति या लेश्या तथा उनके पीछे रही हुई कषायों की सत्ता ही है। अतः इस अध्याय में लेश्याओं और कषायों की विस्तृत चर्चा के बाद यह देखने का प्रयास किया गया है कि बहिरात्मा के साथ उनका सहसम्बन्ध किस रूप में है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में अन्तरात्मा के स्वरूप एवं लक्षणों की चर्चा की गई है। उसमें यह बताया गया है कि जो व्यक्ति संसार से विमुख होकर आत्माभिमुख होता है, वही

अन्तरात्मा कहा जाता है। अन्तरात्मा मोक्ष मार्ग का पथिक है। अन्तरात्मा ही अपनी यात्रा के माध्यम से परमात्मपद को प्राप्त करता है। आत्मा को परमात्मा की दिशा में अग्रसर करने वाला आत्मा ही अन्तरात्मा है। जैनधर्म का सम्पूर्ण साधनापथ अन्तरात्मा को परमात्मा तक पहुँचने की विधि को ही सूचित करता है। इस चतुर्थ अध्याय में हमने विभिन्न जैनाचार्यों ने अन्तरात्मा के स्वरूप एवं लक्षणों का किस रूप में निरूपण किया है, इसकी विस्तृत चर्चा की है। हमारी दृष्टि में यहाँ उस सबको प्रस्तुत करना एक पिष्टप्रेषण ही होगा। इस समस्त चर्चा में जो बात मुख्य रूप से उभर कर आती है वह यह है कि अन्तरात्मा के अनेक स्तर हैं। गुणस्थान सिद्धान्त की दृष्टि से चतुर्थ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणमोह नामक गुणस्थान तक की सभी अवस्थाएँ अन्तरात्मा की ही सूचक हैं। इस प्रकार अन्तरात्मा के अनेक स्तर होते हैं। मुख्य रूप से अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरतसम्यग्दृष्टि, सर्वविरत मुनि और चारित्रमोह के उपशम और क्षय के लिए प्रयत्नशील श्रेणी आरोहण करनेवाली सभी आत्माओं को अन्तरात्मा कह सकते हैं। किन्तु इस व्यापक विस्तार में कहीं न कहीं क्रम विभाजन आवश्यक होता है। इसलिए हमने प्रस्तुत चर्चा में सर्वजघन्य अन्तरात्मा से लेकर उत्कृष्टतम अन्तरात्मा तक के विभिन्न सोपानों की चर्चा की है। इसमें देशविरत श्रावक के १२ व्रतों एवं उनके अतिचारों तथा गृहस्थ जीवन से मुनि जीवन की ओर आगे बढ़नेवाली ११ उपासक प्रतिमाओं पर तथा मुनि जीवन की आचार व्यवस्था पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। यद्यपि यह समस्त चर्चा विवरणात्मक ही है किन्तु इसकी मूल्यात्मकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। अन्तरात्मा के अन्तर्गत् देशविरत श्रावक की जो अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत की मर्यादाएँ हैं, वे आज के युग में भी उतनी ही प्रासंगिक हैं। इस भोगवादी संस्कृति में त्राण पाने के लिए आज भी परिग्रह-परिमाणव्रत, उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रत, अनर्थदण्ड-विरमणव्रत आदि की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस अध्याय में हमने यह भी देखने का प्रयत्न किया है कि अविरतसम्यग्दृष्टि से देशविरत, देशविरत से सर्वविरत और सर्वविरत से आध्यात्मिक प्रगति के द्वारा क्षीणमोह तक की उच्चतम अवस्था को व्यक्ति किस प्रकार

प्राप्त करता है और कैसे आत्मा परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का पँचम अध्याय मुख्य रूप से परमात्मा के स्वरूप की चर्चा करता है। सामान्यतः जैनदर्शन को नास्तिक और ईश्वर को नहीं माननेवाला दर्शन कहा जाता है। किन्तु इस रूप में उसका मुल्यांकन सम्यक् नहीं है। चाहे वह ईश्वर या परमात्मा को सृष्टि का कर्ता, सृष्टि का नियामक, सृष्टि का संरक्षक तथा सृष्टि का संहर्ता नहीं मानता हो; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह परमात्मा की अवधारणा को अस्वीकार करता है। न केवल जैनदर्शन अपितु जिन्हें आस्तिक दर्शन कहा जाता है, उनमें भी सांख्य, मीमांसक और किसी सीमा तक अद्वेत वेदान्त ऐसे दर्शन हैं, जो परमात्मा को सृष्टिकर्ता नहीं मानते। अतः जैनदर्शन परमात्मा को चाहे सृष्टिकर्ता न मानता हो, किन्तु इस आधार पर उसे अनिश्वरवादी या नास्तिक नहीं कहा जा सकता है। जैनदर्शन में परमात्मा के अरिहन्त और सिद्ध ऐसे दो स्वरूप स्वीकार किये गए हैं और उनके स्वरूप का विस्तृत विवेचन जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। हमने प्रस्तुत अध्याय में विभिन्न जैनाचार्यों की दृष्टि में अरिहन्त और सिद्धों का क्या स्वरूप है, इसकी विस्तृत विवेचना की है। संक्षेप में चार घातीकर्मों को नष्ट करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य को उपलब्ध सशरीर संसार में रहनेवाले परमात्मा को अरिहन्त परमात्मा के रूप में जाना जाता है। जब अरिहन्त परमात्मा इस देह का त्याग करके और अष्टकर्मों को क्षय करके सिद्धालय को प्राप्त हो जाते हैं, तो वे सिद्ध परमात्मा कहे जाते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हमने अरिहन्त और सिद्ध के स्वरूप की चर्चा करते हुए यह भी बताया है कि अरिहन्त परमात्मा को जैन धर्म में तीर्थंकर के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। तीर्थंकर का स्वरूप क्या है और उनके अतिशय अर्थात् विशिष्टताएँ क्या होती हैं, इस चर्चा के प्रसंग में हमने तीर्थंकरपद को प्राप्त करने वाली षोड़श विध अथवा बीस विध साधनाविधि को भी प्रस्तुत किया है। साथ ही तीर्थंकरों के अष्टप्रतिहार्यों, ४ मुख्य अतिशयों, ३४ सामान्य अतिशयों और ३५ वचनातिशयों आदि की भी चर्चा की है। इसी प्रसंग में हमने

तीर्थंकर और अवतार की अवधारणा तथा तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणा में क्या समानताएँ और विशेषताएँ हैं, उसका भी उल्लेख किया है। उसके पश्चात् सिद्ध परमात्मा के स्वरूप की और उपचार की अपेक्षा से सिद्धों के भेद की भी चर्चा की है। साथ ही उपचार की अपेक्षा से जो सिद्धों के भेद किए जाते हैं, उनमें श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओं में क्या अन्तर है और क्यों अन्तर है, इसे भी रेखांकित किया है।

वस्तुतः जैनदर्शन में परमात्मा के स्वरूप की चर्चा के प्रसंग में यह तथ्य सबसे महत्त्वपूर्ण है कि जैनदर्शन यह मानता है कि प्रत्येक आत्मा परमात्मपद को प्राप्त कर सकती है। आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति को स्वीकार करनेवाला जैनदर्शन व्यक्ति के विकास की अनन्त सम्भावनाओं को उद्घाटित करता है। वह व्यक्ति को सदैव उपासक या भक्त बनाकर नहीं रखता। वह भक्त के परमात्मा और उपासक के उपास्य बनने की क्षमता को स्वीकार करता है। साथ ही वह ईश्वरीय करूणा या कृपा को अस्वीकार करके यह कहता है कि व्यक्ति 'तू उठ! और अपने पुरूषार्थ के द्वारा अपने परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर!' जैनदर्शन का मुख्य लक्ष्य आत्मा को परमात्मा बनाने का ही है। वह कहता है कि सभी आत्माएँ बीज रूप में परमात्मा हैं और यदि वे पुरूषार्थ करें तो स्वयं परमात्मा बन सकती हैं। इसी प्रसंग में जैनदर्शन और विशेष रूप से श्वेताम्बर परम्परा यह भी उद्घोष करती है कि परमात्मा बनने के लिये जाति, लिंग आदि बाधक नहीं हैं। परमात्मपद को प्राप्त करने में स्त्री और पुरूष, जैन परम्परा का पालन करनेवाले एवं अन्य परम्परा का पालन करने वाले, सभी सक्षम हैं। शर्त यह है कि वे राग-द्वेष से ऊपर उठें। सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए स्त्री-पुरूष या जैन-अजैन की भेद रेखा श्वेताम्बर परम्परा स्वीकार नहीं करती है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के छट्ठे अध्याय में हमने त्रिविध आत्मा की अवधारणा और आध्यात्मिक विकास की जैनदर्शन और अन्य अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है और यह बताया है कि षड्लेश्याओं की अवधारणा कर्म विशुद्धि की दस अवस्थाओं की अवधारणा और चौदह गुणस्थानों की अवधारणा का पारस्परिक क्या सह-सम्बन्ध रहा हुआ है। वस्तुतः तीनों सिद्धांत

त्रिविध आत्मा की अवधारणा के सम्पूरक हैं।

अन्तिम सप्तम अध्याय में आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तित्वों की तुलना अन्तरात्मा और बहिरात्मा से की गई है और उसमें यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि दोनों अवधारणाओं में किस सीमा तक समरूपताएँ और विभिन्नताएँ रही हुई हैं। इसी क्रम में आगे आधुनिक मनोविश्लेषणवादी मनोविज्ञान के वासनात्मक अहम् (Id), विवेकात्मक अहम् (Ego) और आदर्शात्मक अहम् (Super Ego) की अवधारणा और जैनदर्शन की त्रिविध आत्मा की अवधारणा की तुलना करते हुए हम यह पाते हैं कि यद्यपि दोनों अवधारणाओं के आधार भिन्न हैं, किन्तु उनमें महत्त्वपूर्ण समरूपता भी है। बहिरात्मा वासनात्मक अहम् की प्रतिनिधि है तो अन्तरात्मा विवेकात्मक अहम् की प्रतिनिधि है और आदर्शात्मा आत्मा में निहित परमात्मा स्वयं का ही प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हमने त्रिविध आत्मा की अवधारणा के विविध पक्षों को विश्लेषित और विवेचित करते हुए उनके सम्यक् मूल्यांकण का प्रयत्न किया है। हम अपने इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल और असफल हुए हैं, यह निर्णय तो विद्वत् समाज को करना है। हम अपनी सीमित क्षमताओं और योग्यताओं के आधार पर जो कुछ कर सके हैं, वह विद्वानों के मूल्यांकण के लिए प्रस्तुत है।

।। समाप्त ।।

# सहायक ग्रन्थ सूची


| ग्रन्थ, लेखक/सम्पादक/प्रकाशन तिथी | प्रकाशक/प्राप्ति स्थान |
|---|---|
| अंगसुत्ताणि (खण्ड १-३),<br>-युवाचार्य महाप्रज्ञ (वि.सं. २०४६) | जैन विश्वभारती संस्थान,<br>लाडनूं (राज.) |
| अतीत का अनावरण,<br>-आचार्य तुलसी, मुनि नथमल | भारतीय ज्ञानपीठ |
| अध्यात्मकमलमार्तण्ड,<br>- पं. राजमलजी (१९४४) | वीर सेवा मन्दिर, सरसाना, सहारनपुर |
| अध्यात्मदर्शन,<br>- श्री आनन्दघनजी (१७७६) | विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति,<br>लोहामण्डी, आगरा |
| आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ एवं पूर्णता - विजयजयन्तसेनसूरि | |
| अभिधानराजेन्द्रकोश - -श्रीमद् विजयराजेन्द्र सूरिश्वरजी (१९७१) | विजयराजेन्द्रसूरीजी,<br>रतलाम |
| अमरकोष, | निर्णयसागर प्रेस, बम्बई |
| अष्टपाहुड<br>- कुन्दकुन्दाचार्य (१९१६) | अनन्तकीर्ति माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला,<br>बम्बई |
| अष्टसहस्त्री - विद्यानन्द स्वामी,<br>सम्पादकः बंशीधर (१९१५) | गांधी नाथारंगजी जैन ग्रन्थमाला,<br>बम्बई |
| आगमयुग का जैनदर्शन,<br>-पं. दलसुख मालवणिया | प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर |
| आचारांगसूत्र | आगमोदय समिति, सूरत |
| आचारांगसूत्र भाग २,<br>-आचार्य आत्मारामजी जैन | आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना |
| आत्मतत्त्वविचार -श्रीमद् विजयजयलक्ष्मण टसूरीश्वरजी,<br>सम्पादकः श्री कीर्तीविजय गणिवर | बी.बी. मेहता, |
| आत्ममीमांसा -<br>पं. दलसुख मालवणिया (१९५३) | मुद्रकः रामकृष्णदास, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, बनारस |
| आत्ममीमांसा (हिन्दी विवेचन सहित),<br>-पं. मूलचन्द्रजी शास्त्री (१९७०) | श्री शान्तिवीर दि. जैन संस्थान |
| आत्ममीमांसा तत्त्वदीपिका<br>(प्रथम संस्करण)<br>(वीर.सं. २५०१) -प्रो. उदयचन्द्र जैन | श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान,<br>नरिया, वाराणसी |
| आत्मसिद्धि शास्त्र,<br>-श्रीमद् राजचन्द्र (१९५२) | |

| ग्रन्थ, लेखक/सम्पादक/प्रकाशन तिथी | प्रकाशक/प्राप्ति स्थान |
|---|---|
| अत्मानुशासन - आचार्य गुणभश्रद्र (वि.सं. २०१८) | |
| आनन्दघन का रहस्यवाद -साध्वी सुदर्शनाश्री (१९८४) | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई. टी.आई. रोड, वाराणसी |
| आचारांगसूत्र - शीलांकाचार्य टीका (१९३६) | श्रीयुत् रायधनपतसिंह बहादुर का आगम संग्रह भण्डार, शाजापुर |
| आत्मानुशासनम - आचार्य गुणभद्र (वि. सं. २०१८) | प्रकाशकः जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर |
| आप्त परीक्षा - सम्पादकः पं. दरबारीलाल जैन (१९९२) | श्री जैन दिगम्बर मन्दिर, गुलाब वाटिका, लोनी रोड, दिल्ली |
| आप्तमीमांसा - समन्तभद्राचार्य; -सम्पा. पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार (१९६७) | वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट |
| आर्हती-दृष्टि - समणी मंगलप्रज्ञा (१९९८) | आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राज) |
| आवश्यकनिर्युक्ति - भद्रबाहु (वीर सं. २४५४) | आगमोदय समिति |
| इष्टोपदेश (संस्कृत-हिन्दी टीका सहित समाधिशतक के पीछे, प्रथम संस्करण) -पूज्यपादाचार्य (वि.सं. २०२१) | वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली |
| ईशावास्योपनिषद् | गीता प्रेस, गोरखपुर |
| उत्तराध्ययनसूत्र चूर्णि - जिनदासगणि (१९३३) | रतलाम |
| उत्तराध्ययनसूत्र दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिपेक्ष्य में उसका महत्व -डॉ. विनीतप्रज्ञाश्रीजी (२००१) | श्री चन्द्रप्रभु महाराज जुना मन्दिर ट्रस्ट, साहुकार पेट, चेन्नई |
| उदान | गीता प्रेस, गोरखपुर |
| कर्मग्रन्थ - देवेन्द्रसूरि (१९३४-४०) | जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर |
| कल्पसूत्र - भद्रबाहु | |
| कषाय - सध्वी हेमप्रज्ञाश्रीजी | विचक्षण प्रकाशन, इन्दौर |
| कषायपाहुड (सूत्र और चूर्णि सहित), -यतिवृषभ | वीर शासन संघ, कलकत्ता |
| कषायपाहुड (जयधवला टीका सहित), -गुणधर | जैन संघ, मथुरा |
| कार्तिकेयानुप्रेक्षा (संस्कृत-हिन्दी टीका सहित) प्रथमावृत्ति - स्वामी कार्तिकेय; सम्पा. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये (वीर.सं. २०८६) | परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्रीमद् रायचन्द्र आश्रम, अगास |

| ग्रन्थ, लेखक/सम्पादक/प्रकाशन तिथी | प्रकाशक/प्राप्ति स्थान |
|---|---|
| केनोपनिषद् | गीता प्रेस, गोरखपुर |
| कौषीतकी उपनिषद् | गीता प्रेस, गोरखपुर |
| ज्ञानार्णव (हिन्दी अनुवाद सहित), -शुभचन्द्राचार्य (वीर सं. २४३३) | श्री परमश्रुत प्रकाशक मण्डल, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, जवेरी बाजार, बम्बई |
| गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, -प्रो. सागरमल जैन (१९९६) | पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी |
| गुणस्थान क्रमारोह - रत्नकेशरसूरि (१९१६) | न.भा.धे.भा., जवेरी बाजार, बम्बई |
| गोम्मटसार कर्मकाण्ड (हिन्दी अनुवाद सहित) द्वितीयावृत्ति (वीर.सं. २४५४) | शा. रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, आनरेरी व्यवस्थापक, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई |
| चार्वाक दर्शन - प्रथम संस्करण, -समीक्षाः डॉ. सर्वानन्द पाठक | चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी |
| जम्बूद्वीप पण्णत्ति (हिन्दी अनुवाद सहित) प्रथम संस्करण - पद्मनन्दि | जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर |
| जैन आचार - मोहनलाल मेहता | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई. टी.आई. रोड, वाराणसी |
| जैन तत्त्व मीमांसा, -पं. फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री | अशोक प्रकाशन मन्दिर, भदैनी घाट, वाराणसी |
| जैन दर्शन - प्रथम संस्करण, -डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, सम्पा. और नियामकः पं. फूलचन्द्र शास्त्री तथा दरबारीलाल कोठिया | मन्त्री श्री गणेशप्रसाद वर्मा, जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी |
| जैन दर्शन - डॉ. मोहनलाल मेहता | सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा |
| जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, -मुनि श्री नगराजजी; -सम्पा. सोहनलाल | श्यामलाल मुरारी, संचालक आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली ६ |
| जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, -आचार्य महाप्रज्ञ | जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं |
| जैनदर्शन : मनन और मीमांसा (परिवर्धित संस्करण) - मुनि नथमल, -सम्पादकः मुनि दुलहराज | कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान) |
| जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषन, -आचार्य देवेन्द्रमुनि शास्त्री | तारकगुरू जैन ग्रन्थालय, उदयपुर |
| जैनदर्शन में आत्मविचार, -डॉ. लालचन्द जैन | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई. टी.आई. रोड, वाराणसी |

| ग्रन्थ, लेखक/सम्पादक/प्रकाशन तिथी | प्रकाशक/प्राप्ति स्थान |
|---|---|
| जैन धर्म - चतुर्थ संस्करण, -सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री | मंत्री साहित्य विभाग, मा.वि. जैन संघ, मथुरा |
| जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, -डॉ. सागरमल जैन | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई. टी.आई. रोड, वाराणसी |
| तत्त्वानुशासन (हिन्दी अनुवाद सहित), -नागसेनसूरि | वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली |
| तत्त्वार्थवार्तिक भाग १-२ (हिन्दी सार सहित) प्रथमावृत्ति - भट्ट अकलंकदेव, -सम्पादकः प्रो. महेन्द्रकुमार जैन (वीर सं. २४९९) | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी |
| तत्त्वार्थसार - अमृतचन्द्रसूरि; -सम्पा. बंशीधर शास्त्री (वीर सं. २४४५) | सा.वि.प्र.स., कलकता |
| तत्त्वार्थसूत्र (प्रथम आवृत्ति) - उमास्वामी -सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री (वीर सं. २४७७) | भारतीय दिगम्बर जैन संघ, |
| तत्त्वार्थसूत्र विवेचन -पं. सुखलाल सिंघवी | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई. टी.आई. रोड, वाराणसी |
| तत्वार्थवृत्ति (हिन्दी सार सहित), -श्रुतससागर; सम्पा. महेन्द्रकुमार जैन | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी |
| तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् - विद्यानन्दि; सम्पा. पं. मनोहरलाल (वीर सं. २४४४) | गांधीनाथारंग-जैन ग्रन्थशाला, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई |
| तत्त्वार्थाधिगमसूत्र सभाष्य (हिन्दी अनुवाद सहित) (१९३२) | परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई २ |
| तर्कभाषा - केशव मिश्र | स.सी., चौक, वाराणसी |
| तर्कसंग्रह (सप्तम संस्करण), -अन्नम भा (वि.सं. २०२६) | हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी |
| तिलोयपण्णत्ति (हिन्दी अनुवाद सहित (प्रथम संस्करण) - यति वृषभ (वि.सं. १९९९) | जीवराज जैन ग्रन्थमाला |
| तैत्तिरीय उपनिषद् | गीता प्रेस, गोरखपुर |
| द्रव्यसंग्रह - नेमिचन्द्राचार्य (वीर सं. २४३३) | श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल |
| धम्मपद - अनुवादकः राहुल सांस्कृत्यायन (१९३३) | महाबोधि सभा, सारनाथ |

| ग्रन्थ, लेखक/सम्पादक/प्रकाशन तिथी | प्रकाशक/प्राप्ति स्थान |
|---|---|
| धवला (हिन्दी अनुवाद सहित - प्रथम संस्करण) - वीरसेन (१९३९-५९) | अमरावती |
| न्यायकुमुदचन्द्र भाग १-२ (प्रथमआवृत्ति) - प्रभाचन्द्राचार्य; सम्पा. पं. महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री (वीर सं. २४६४) | मंत्री, श्री नाथूराम प्रेमी, दि. जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, गिरगांव, बम्बई ४ |
| न्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य सहित द्वितीय संस्करण) - सम्पा. श्री नारायण मिश्र (१९७०) | चौखम्भा सं. सीरीज, वाराणसी |
| न्यायदीपिका (प्रथमावृत्ति) - अभिनव धर्मभूषण; सम्पा. और अनुवादकः न्यायाचार्य पंण्डित दरबारीलाल जैन कोठिया (मई १९४५) | जैन सेवा मन्दिर, सरसावा (जिला सहारनपुर) |
| नवपद ज्ञानसार - पुष्फभिक्खु (१९३७) | अगरचन्द नाहर, कलकत्ता |
| नायधम्मकहाओ - सम्पादकः चन्द्रसागरसूरि (१९५१) | साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई |
| नियमसार - कुन्दकुन्दाचार्य (१९१६) | जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई |
| नन्दीसुतं - सम्पादकः मुनि श्रीपुण्यविजयजी आदि (१९६८) | श्री महावीर जैन विद्यालय |
| पतंजलि योगदर्शन भाष्य (द्वितीय संस्करण) -महर्षि व्यासदेव (१९६१) | श्री लक्ष्मी निवास चांडक, अजमेर |
| पद्मनन्दि पंचविंशतिका (प्रथम संस्करण) -पद्मनन्दि (१९३२) | जीवराज ग्रन्थमाला |
| पद्मपुराण (प्रथम संस्करण) - रविषेण (वि.सं. २०१६) | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी |
| पंचाध्यायी (पूर्वार्ध-उत्तरार्द्ध) -पंण्डित राजमल्ल; सम्पा.: पं. फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री | वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी |
| पंचास्तिकाय (तत्त्वदीपिका-बालावबोध भाषा सहित - तृतीयावृत्ति) कुन्दकुन्दाचार्य (वि.सं. २०१५) | रावजीभाई छगनभाई देसाई, आनरेरी व्यवस्थापक, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला |
| पद्मनन्दिपंचविंशतिका (प्रथम संस्करण) -पद्मनन्दि (१९३२) | जीवराज ग्रन्थमाला |
| पद्मपुराण (प्रथम संस्करण) - रविषेण (वि.सं. २०१६) | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी |

| ग्रन्थ, लेखक/सम्पादक/प्रकाशन तिथी | प्रकाशक/प्राप्ति स्थान |
|---|---|
| परमात्मप्रकाश (संस्कृत वृत्ति एवं हिन्दी भाषा टीका सहित), द्वितीय संस्करण -योगिन्दुदेव; -सम्पा.: आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये (वि. सं. २०१७) | परमश्रुत प्रभावक मण्डल, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, जौहरी बाजार, बम्बई २ |
| पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (हिन्दी अनुवाद सहित) - अमृतचन्द्र सूरि (वीर सं. २४५२) | भा.जै.सि.प्र.सं., कलकत्ता |
| प्रज्ञापनासूत्र-पण्णवणासुत्तं - सम्पादकः मुनि श्रीपुण्यविजयजी आदि (१९६९) | श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई |
| प्रमेयकमलमार्तण्ड (द्वितीय संस्करण), -प्रभाचन्द्राचार्य; - सम्पादकः पण्डित महेन्द्रकुमार शास्त्री (१९४१) | निर्णय सागर प्रेस |
| प्रवचन रत्नाकर, -डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल | पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर |
| प्रवचनसार (तृतीय आवृत्ति) -कुन्दकुन्दाचार्य; सम्पादकः आ.ने. उपाध्ये (१९६४) | परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास |
| प्रशमरतिप्रकरण (हिन्दी टीका सहित प्रथम संस्करण) उमास्वाति (१९५०) | रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई |
| बरह भावना : एक अनुशीलन, -डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल | पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर |
| बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १-२ - भरतसिंह उपाध्याय (वि. सं. २०११) | बंगाल हिन्दी मण्डल, रॉयल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता |
| बौद्धदर्शन में आत्म परीक्षा, (शोध प्रबन्ध) - डॉ. महेश तिवारी (अप्रकाशित) | बिहार विश्वविद्यालय, मुजफरपुर |
| बौद्ध धर्म दर्शन (प्रथम संस्करण) -आचार्य नरेन्द्रदेव | बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, सम्मेलन भवन, पटना |
| ब्रह्मसूत्र (श्री शांकरभाष्य) प्रथम संस्करण (१९६४) | चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी |
| बृहद्कल्पनिर्युक्ति - पुण्यविजयजी | बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना |
| बृहद्कल्पभाष्य - पुण्यविजयजी (१९३३) | आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर |
| बृहदारण्यक उपनिषद् (सं.२०१४) | गीता प्रेस |
| भगवतीआराधना - शिवकोट्याचार्य (१९३४) | सखाराम नेमिचन्द, दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर |

| ग्रन्थ, लेखक/सम्पादक/प्रकाशन तिथी | प्रकाशक/प्राप्ति स्थान |
|---|---|
| भगवद्गीता - राधाकृष्णन -अनु. विराज, एम. ए. | |
| भावपाहुड - आचार्य कुन्कुन्द (देखिये अष्टपाहुड) (१९६२) | राजपाल एण्ड सण्स, देहली |
| भावनाशतक - शतावधानी मुनि रत्नचन्द्रजी (वीर सं. २४४७) | वृन्दावनदास दयाल, कोर्ट, बाजार गेट, बम्बई |
| भेद में छिपा अभेद - युवाचार्य महाप्रज्ञ | जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं |
| मनुस्मृति (सं. २०३४) | पुस्तक मन्दिर, मथुरा |
| मूलाचार - बट्टकेराचार्य | जैन मन्दिर, शक्कर बाजार, इन्दौर की पत्राचार प्रति |
| मोक्खपाहुड - कुन्दकुन्दाचार्य (देखिये अष्टपाहुड) | |
| योगसूत्र - देखिये पातंजल योग प्रदीप | गीता प्रेस |
| योगशास्त्र - हेमचन्द्र -सम्पा. मुनि समदर्शी | सम्मति ज्ञानपीठ, आगरा |
| योगशास्त्र (स्वोपज्ञवृत्ति सहित) -हेमचन्द्र | श्री जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर |
| योगवासिष्ठ | निर्णयसागर प्रेस, बम्बई |
| रत्नकरण्ड श्रावकाचार - समन्तभद्र | माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई |
| समयसार (अंग्रेजी अनुवाद और प्रसतावना सहित) प्राथ्मिक आवृत्ति - प्रो. ए. चक्रवर्ती (१९१०) | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी |
| समयसार (अंग्रेजी अनुवाद और प्रस्तावना सहित) - प्रथम आवृत्ति -कुन्दकुन्दाचार्य; सम्पा. पं. पन्नालाल जैन (१९५०) | रावजीभाई छगनभाई देसाई, परमश्रुत प्रभावक मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला), बोरिया (गुजरात) |
| समयसार : एक अनुशीलन -डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल | पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर |
| समयसार नाटक - कविवर प ण्डित बनारसीदास | दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ |
| समाधिशतक (प्रथम संस्करण) -पूज्यपादाचार्य (वि.सं. २०२१) | वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली |
| सांख्यतत्त्वकौमुदी (चतुर्थ संस्करण) -वाचस्पति मिश्र (१९६९) | प्रेम प्रकाशन, अहमदाबाद |
| सांख्यसूत्रम् - कपिलमुनि; सम्पादकः श्रीरामशंकर भट्टाचार्य (वि.सं. २०२२) | भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी |
| सिद्धान्त लक्षण तत्वालोक - धर्मदत्त (बच्चा) सूरि (१९२५) | विश्वविद्यालय प्रकाशन, काशी |

| ग्रन्थ, लेखक/सम्पादक/प्रकाशन तिथी | प्रकाशक/प्राप्ति स्थान |
|---|---|
| सिद्धान्तसार संग्रह (प्रथम संस्करण) (१९५७) | जीवराज जैन ग्रन्थमाला |
| सिद्धिविनिश्चय टीका (प्रथम संस्करण १९५१) | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी |
| सूत्रकृतांगसूत्र (शीलांककृत टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित) प्रथम संस्करण (वि.सं. १९९३) | जवाहिरलाल महाराज, राजकोट |
| सूयगडो - सम्पा. पी.एल. चैद्य (१९२८) | श्रेष्टी मोतीलाल, मना |
| व्याख्याप्रज्ञप्ति - सम्पा. बेचरदास दोशी (१९७४) | श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई |
| वसुनन्दिश्रावकाचार - सम्पा. हीरालाल जैन (१९५२) | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी |
| विशेषावश्यक भाष्य - श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण टीका (सं. २४४१) | हेमचन्द्र, हर्षचन्द्र, भूराभाई, बनारस |
| शास्त्रवार्तासमुच्चय - हरिभद्रसूरि, लालभाई, दलपतभाइ (१९६८) | भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद ९ |
| स्थानांगसूत्र - टीका अभयदेवसूरी | आगमोदय समिति |
| सागराधर्मामृत - पं. आशाधर (१९१७) | माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला |
| सम्मतितर्कप्रकरण - आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (सं. १९८०) | गुजरात पुरातत्व मन्दिर, अहमदाबाद |
| समवायांग - मुनि कन्हैयालाल कमल (१९६६) | आगम अनुयोग प्रकाशन |
| समवायांगसूत्र - श्री मधुकरमुनि (१९९१) | श्री आगम प्रकाशन समिति, श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन, पीपलिया बाजार, बियावर |
| सूत्रकृतांगसूत्र - श्री मधुकरमुनि (१९९२) | श्री आगम प्रकाशन समिति, श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन, पीपलिया बाजार, बियावर |
| सूत्रकृतांग टीका - शीलंकाचार्य (वीर सं. २४४२) | आगमोदय समिति |

# आराधना भवन

## श्री पार्श्वमणि जैन तीर्थ

पेद्दतुम्बलम, आदोनि.

प.पू. गुरुवर्या

## सुलक्षणाश्रीजी म.सा.

हे उग्रतपस्वी! ज्ञान मनस्विनी!
सहजता की हो तुम प्रतिमूर्ति...
हे वर्धमान तपाराधिका!
अध्यात्म साधिका!
जिनशासन की तुम हो ज्योति।
ध्यान साधना से आपश्रीने
गहन सागर से पाये मोती।
मनोमस्तिष्क का परिमार्जन कर
'भावना स्रोत' का निर्माण किया।
ओली 108 पूर्णकर,
गच्छ खरतर का गौरव बढ़ाया।
हे उर्जस्विता! निष्कपटता!
सेवा भाव में तुम निरंतर अग्रसर।

हे समतामूर्ति! अट्ठम तपाराधिका!
अन्तर में है वैराग्य का स्पंदन।
हे परमवंदनीया! महातपस्वी!
तुम से धन्य-धन्य है संयम उपवन।
हे आत्म साधिका ! भक्ति रसिका!
तुम हृदय बगिया ज्यूं चंदन।
गुरुवर्या श्री के पावन पद्मों में है
कोटि-कोटि मेरा वंदन।

## साध्वी डॉ. प्रियलताश्री

| | | |
|---|---|---|
| जन्म नाम | : | कु. चन्द्रा बैद |
| पिताश्री का नाम | : | स्व. श्रीमान ज्ञानचंदजी बैद |
| माताश्री का नाम | : | श्रीमती मानीबाई |
| जन्मतिथि, दिनांक | : | पोष सुदि बारस, 24 दिसम्बर 1966 |
| जन्म स्थान | : | फलोदी (राज.) |
| दीक्षा तिथि व दिनांक | : | फाल्गुन सुदि चौथ, 7 मार्च 1984 |
| दीक्षा स्थल | : | फलोदी (राज.) |
| छोटी-बड़ी दीक्षादाता | : | स्व. प.पू. आचार्य श्रीमज्जिन कान्तिसागरजी म.सा. |
| गुरुवर्या श्री | : | पार्श्वमणि तीर्थ प्रेरिका प.पू. गुरुवर्या श्री सुलोचनाश्रीजी म.सा.<br>उग्रतपस्विनी प.पू. सुलक्षणाश्रीजी म.सा. |
| विचरण क्षेत्र | : | राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश,<br>कर्नाटक, केरला, तमिलनाडु, छत्तीसगढ़, उड़िसा |
| तपश्चर्या | : | मासक्षमण, वीसस्थानक तप, ज्ञानपंचमी, मौनएग्यारस |
| अध्ययन | : | तर्क न्याय, संस्कृत, व्याकरण, हिन्दी तत्त्वज्ञान, आगमादि<br>एम.ए. जैन विद्या और तुलनात्मक धर्म-दर्शन<br>पीएच.डी.- जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा |

**विशेषता :**

किसी विषय पर त्वरित निर्णय लेने की क्षमता, ओजस्वी प्रवचन, कविता, मुक्तकादि की नई रचनाशैली, अध्ययन/लेखन रूचि, प्रसन्नचित्त, मधुर मुस्कान, आत्मचिंतन, तत्त्वरसिका, सरलता, सहजता, मधुर व्यवहार, क्षमा, करूणा, मैत्री व्यवहार कुशल, अध्यात्म विचारों से युक्त, स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यानादि का तत्त्वबोध की प्रेरणा के द्वारा जिनशासन सेवा में रत्।

**प्रकाशित पुस्तकें :**

- सुलोचन...सुलक्षण...सुमन
- नवपद की महिमा श्रीपाल मयणा की गरिमा
- अध्यात्म अमृत झरना
- अर्हत् चैत्य...अर्हत् बिम्ब...(प्रेस में)
- जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा
- सचित्र रत्नाकर पच्चीसी (प्रेस में)